सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा

सम्पादक
राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी



प्रकाशक
शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा

शोधप्रकाशन - ग्रन्थमाला — २०

सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा

शास्त्रगोष्ठी विवरण

सम्पादक

राष्ट्रियपण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी

निदेशक, शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्

प्रकाशक

शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्

जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी - २२१ ००१

प्रकाशक :
शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ीमठ
वाराणसी - २२१ ००१

प्रथम संस्करण २०००

मूल्य : सजिल्द रु० ३५०/-
अजिल्द रु० २५०/-

अक्षर संयोजन :
शिव-शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी

मुद्रक :
मित्तल आफसेट
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series — 20

SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI MĪMĀMSĀ

Edited By
Pt. Vrajavallabha Dwivedi
Director, Shaiva Bharati Shodha Pratishthanam

SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D.35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

Published by :
SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001

ISBN 81-86768-37-8
ISBN 81-86768-38-6

First published 2000

Price : Rs. 350 (Hb) Rs. 250 (Pb)

Laser Typeset at :
Shiva-Shakti Computer Process
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

Printed at :
Mittal Offset
Sunderpur, Varanasi

श्रीमत्काशीज्ञानसिंहासनाधीश्वर १००८ जगद्गुरु
डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी
जंगमवाडी मठ, वाराणसी का

आशीर्वचन

श्री सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा नामक ग्रन्थ को लोकार्पित करते हुए हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। काशी जंगमवाडी मठ में विश्व-कल्याण के लिए २० जुलाई १९९७ से २० अक्टूबर १९९७ पर्यन्त श्री जगद्गुरु विश्वाराध्यजी के कोटि-विल्वार्चन का आयोजन किया गया था। तीन मास पर्यन्त अखण्ड चल रहे इस धार्मिक अनुष्ठान में भारत के सभी प्रान्तों से श्रद्धालु भक्तगण सहभागी हुए थे। प्रतिदिन एक लाख से भी अधिक बिल्वपत्रों से अर्चना होती रही। पूरे तीन महीनों में ९० हजार से भी अधिक भक्तगण ने पूजा में उपस्थित हो कर अपना जीवन सार्थक बनाया। इसके समापन समारोह में वीरशैव धर्म के श्री रंभापुरी, श्री उज्जैनी, श्री केदार और श्री श्रीशैल के पीठाचार्यों ने उपस्थित होकर सभी भक्तों को शुभाशीर्वाद प्रदान किया। १९१८ में तत्कालीन काशी पीठ के जगद्गुरु श्री १००८ शिवलिंग शिवाचार्य महास्वामीजी के आयोजन पर काशी में वीरशैव धर्म के पाँच पीठाचार्यों का सम्मेलन हुआ था। उसके बाद १७ नवम्बर १९८९ में हमारे पीठारोहण के सन्दर्भ में पंचाचार्यों का सम्मेलन कराया गया था। तत्पश्चात् २० अक्टूबर १९९७ के दिन वर्तमान काशीपीठ के महाचार्यजी के जन्म स्वर्णजयन्ती महोत्सव के उपलक्ष्य में पुनः पंचाचार्यों का सम्मेलन काशी में सम्पन्न हुआ। जब जब पाँचों पीठाचार्य एकत्र हुए, तब तब कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय धर्म और समाज के बारे में लिए गये।

कोटि-विल्वार्चन के समापन-समारोह और पंचाचार्यों के सम्मेलन के सन्दर्भ में त्रिदिवसीय शास्त्रसंगोष्ठी भी आयोजित की गई। यह गोष्ठी १५ अक्टूबर १९९७ से १७ अक्टूबर १९९७ पर्यन्त चलती रही। "श्री सिद्धान्तशिखामणि के विविध आयामों पर विचार-विमर्श" इस गोष्ठी का मुख्य विषय था। इस गोष्ठी में पूरे भारतवर्ष के २० मूर्धन्य विद्वानों ने अपने अपने विषयों का उपस्थापन किया। इन सभी विद्वानों के निबन्धों का केन्द्र-बिन्दु श्री सिद्धान्तशिखामणि ही था। निबन्ध-वाचन के उपरान्त प्रश्नोत्तररूपी चर्चा भी चलती रही। इस प्रकार तीन दिन पर्यन्त चल रही इस गोष्ठी के आनन्द का उपस्थित विद्वानों ने और भक्तगणों ने साक्षात् अनुभव किया। इस शास्त्रीय आनन्दानुभूति का कुछ अनुभव

उस समय अनुपस्थित समस्त जनता को प्राप्त हो जाय, इस उद्देश्य से विद्वानों के निबन्ध और उस पर हुई चर्चा को संगृहीत कर शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

इस शास्त्रसंगोष्ठी के आयोजन से लेकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन पर्यन्त सभी कार्यों को शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदीजी ने सुचारु ढंग से सम्पन्न कराया है। इसमें उनका योगदान उल्लेखनीय है। आपने विषयोपस्थापन के रूप में शैवभारती शोध संस्थान एवं इस ग्रन्थ के बारे में समग्र विषय प्रस्तुत किया है। हमारे विश्वाराध्य गुरुकुल के वरिष्ठ संशोधक पं. सिद्धरामदेव हिरेमठ हिप्परगि ने प्रतिवेदन के रूप में इस गोष्ठी के उद्घाटन से लेकर समापन-समारोह पर्यन्त हुई सभी चर्चाओं को सार रूप में संगृहीत किया है। इनका यह लेख पूरे कार्यक्रम का एक 'क्ष' किरण के जैसे प्रस्तुत हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनोद्घाटन के प्रसंग में शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी को, गोष्ठी में भाग लिए हुए सभी विद्वानों को शुभाशीर्वाद प्रदान करते हुए उनके आयुरारोग्य के लिए मंगलमय कामना व्यक्त करते हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी कार्यों में सदा सहयोग करने वाले डॉ. जी. सी. केण्डदमठ, पं. सिद्धरामदेव हिरेमठ हिप्परगि एवं संगणक कार्यकुशल राजशेखर जी. हिरेमठ को भी शुभकामनाओं के साथ मंगलाशीर्वाद प्रदान करते हैं। इस ग्रन्थ के अध्येताओं को भी शुभाशीर्वाद देते हुए अपने आशीर्वचन को विराम देते हैं।

इत्याशिषः

प्रस्तावना

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ के विषयोपस्थापन (पृ. १-३) में दिया गया है। उसमें इस प्रतिष्ठान के उद्देश्यों को भी गिनाया गया है। उसी सातत्य में वीरशैव धर्म-दर्शन के महनीय ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि के विभिन्न आयामों को लेकर एक अखिल भारतीय त्रिदिवसीय (१५-१७ अक्टूबर, सन् १९९७) शास्त्रसंगोष्ठी आयोजित की गई। विभिन्न राज्यों के अनेक विद्वान् इसमें संमिलित हुए और उसमें २० शोध निबन्ध पढ़े गये। साथ ही उन पर उपस्थित विद्वानों में परस्पर विचार-विनिमय हुआ। अब उन सभी निबन्धों को *सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा* के नाम से ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रत्येक निबन्ध पर हुए विस्तृत विचार-विनिमय को भी प्रकाशित कराने की योजना बनाई गई थी, किन्तु अभी हम इस या उस कारण से ऐसा नहीं कर पा रहे हैं।

प्रस्तुत शास्त्रसंगोष्ठी में संपन्न हुए कार्यकलाप का संक्षिप्त विवरण ग्रन्थ के अन्त (पृ. २३५-२३९) में स्थित प्रतिवेदन में दिया गया है। निबन्धों का प्रकाशन वहाँ दिये गये क्रम के अनुसार ही किया गया है। जैसा कि ऊपर बताया गया, मुख्यत: सिद्धान्तशिखामणि को आधार मान कर ही यह शास्त्रसंगोष्ठी आयोजित हुई थी, अत: उससे संबद्ध निबन्धों की ही संख्या अधिक हो, यह स्वाभाविक है। इसके उपरान्त भी कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं, जो सिद्धान्तशिखामणि के साथ वीरशैव धर्म-दर्शन, पाशुपत मत तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुशीलन से भी संबद्ध हैं। विषयोपस्थापन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के उद्देश्यों में इन सभी के साथ सिद्धान्तशैव दर्शन को भी रखा गया है। प्रतिवेदन में निबन्धवाचक का और निबन्ध में प्रतिपादित विषय का भी संक्षिप्त परिचय दे दिया गया है। शास्त्रसंगोष्ठी में सम्पन्न हुए विचार-विनिमय के मुख्य अंशों को भी यहाँ संकलित किया गया है और विचार-विनिमय में भाग लेनेवाले विद्वानों की नामावली भी दी गई है।

दि. १७-१०-९७ के प्रात:काल के सत्र में सोलापुर के श्री आर. आर. मगाई के द्वारा पढा गया "श्रीसिद्धान्तशिखामणि प्रतिपादित षट्स्थल सिद्धान्त का श्रीसिद्धरामेश्वर के वचनों पर प्रभाव" शीर्षक निबन्ध प्रयत्न करने पर भी हमें मिल न सका। उसका समावेश यहाँ नहीं हो पाया, इसका हमें दु:ख है। इसी तरह से प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री जी का निबन्ध हमें विलम्ब से प्राप्त हुआ। उसका वाचन शास्त्रसंगोष्ठी में न हो पाने से प्रतिवेदन में उसका उल्लेख नहीं हो पाया, किन्तु उसको यहाँ प्रकाशित किया गया है। इस प्रकार **विषयोपस्थापन** और **प्रतिवेदन** को छोड़कर बीस निबन्धों का यहाँ प्रकाशन हो रहा है।

निबन्धों के शीर्षकों से ही उनके विषयों की सूचना मिल जाती है। तदनुसार इन बीस में से ९-१०,१३,१५,१८ संख्या के निबन्धों को छोड़कर बाकी के सभी निबन्ध सिद्धान्तशिखामणि से ही किसी न किसी तरह से संबद्ध हैं। ९वाँ निबन्ध शिवाद्वैतदर्शन से, १०वाँ वीरशैव सिद्धान्त से, १३वाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन से, १५वाँ गुरुतत्त्व से और १८वाँ पेरियपुराण और बसवपुराण से संबद्ध है। गुरुतत्त्व का निरूपण १६वें निबन्ध में भी हुआ है। इसी तरह से गणाचार और पंचाचारों से संबद्ध दो निबन्ध (७वाँ एवं २०वाँ) यहाँ देखे जा सकते हैं।

सिद्धान्तशिखामणि पर पाशुपत मत के प्रभाव की समीक्षा दूसरे निबन्ध में तथा शैवागमों और शैवपुराणों के प्रभाव की समीक्षा ११ वें निबन्ध में की गई है। सिद्धान्तशिखामणि और श्रीकण्ठभाष्य, सिद्धान्तशिखामणि और वचनसाहित्य, सिद्धान्तशिखामणि और पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, सिद्धान्तशिखामणि और अनुभवसूत्र की तुलनात्मक समीक्षा क्रमशः ४, ६, १२ और १४ संख्या के निबन्धों में की गई है। उत्तरभारत के विद्वानों के लिये १८वीं संख्या का "पेरियपुराण और बसवपुराण" तथा १९वीं संख्या का डॉ. सौ. श्यामा घोणसे का "खेचरविसा कृत शडुस्छलि" शीर्षक निबन्ध नूतन सूचनाएँ देते हैं।

इन निबन्धों में पाँच संस्कृत भाषा में, सात हिन्दी भाषा में, ६ अंग्रेजी भाषा में और दो कन्नड़ भाषा में निबद्ध रहे हैं— इनमें से तीसरी संख्या के निबन्ध का हिन्दी रूपान्तरण स्वयं लेखक ने ही कर दिया और १०वें निबन्ध का अनुवाद यहाँ कराया गया। अनुवादकों के नाम निबन्ध के अन्त में दे दिये गये हैं। दुःख के साथ निवेदन करना पड़ता है कि इस निबन्ध के लेखक षडक्षरय्य जी अब लिंगैक्य प्राप्त कर चुके हैं।

सिद्धान्तशिखामणि में शैवसिद्धान्त, विशेष कर वीरशैव धर्म-दर्शन पर तो पर्याप्त प्रकाश डाला ही गया है, सामाजिक व्यवस्था की भी अनदेखी नहीं की गई है। अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिये अधीति, बोध और आचरण की आवश्यकता मानी गई है। दर्शनशास्त्र में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के रूप में ये प्रतिपादित हैं। इन्हीं के आधार पर समाज में सुव्यवस्था स्थापित हो सकती है। यहाँ प्रकाशित "सिद्धान्तशिखामणि में सामाजिक दृष्टिकोण" (पृ. १९-३२) शीर्षक निबन्ध से यह स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में भी प्रस्तुत ग्रन्थ का महनीय अवदान है। पंचाचारों के माध्यम से यहाँ आचरण पर विशेष जोर दिया गया है।

"सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं" (५.४) इत्यादि श्लोक के माध्यम से इस ग्रन्थ में कृतान्तपंचक में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। एक ही परिवार में शैव और वैष्णव धर्म के सदस्यों को यावज्जीवन एक साथ रहने की घोषणा पारमेश्वरागम (१७.२०-२१) में की गई है। यहीं (८.१९) यह भी बताया गया है वीर शिवयोगी अपने से अधिक गुणवाले के प्रति द्वेष नहीं रखता, अपने समान स्थिति वाले के प्रति ईर्ष्या नहीं

करता और अपने से कम गुण वाले का कभी तिरस्कार नहीं करता। इसी दृष्टि के आधार पर आज भी समाज में समरसता लाई जा सकती है।

भारतीय संस्कृति की यह विशेषता मानी जाती है कि इसमें निरन्तरता के साथ परिवर्तनशीलता को भी समान अवकाश दिया गया है। इसी दृष्टि से हमें वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था और आगमिक अत्याश्रम स्थिति का मूल्यांकन करना चाहिये। आज भारत में विद्यमान विभिन्न धर्मों में भी इसी दृष्टि को प्रधानता मिलनी चाहिये तथा आगमिक समन्वय-प्रधान दर्शन के आधार पर इनमें परस्पर सामंजस्य बैठाने का प्रयत्न होना चाहिये। इसमें सबसे बड़ी बाधा है, पाश्चात्य दृष्टिकोण से विदेशी-देशी विद्वानों के द्वारा किये गये निगमागमीय शास्त्रों के अनुवादों को आँख मूँद कर स्वीकार कर लेना। आर्य-द्रविड़, निगम-आगम जैसे विभागों में परस्पर द्वेषपूर्व दृष्टि की खोज इसी का परिणाम है। आगम-साहित्य को तमिल भाषा का अनुवाद मानने जैसी कल्पनाएँ भी इसी का परिणाम हैं। इस देश को यदि एक राष्ट्र के रूप में जीवित रखना है, तो संस्कृत भाषा और वैदिक वाङ्मय के प्रति निरन्तर आदरदृष्टि बनाये रखना होगा। वेद मानव-मनीषा के इतिहास की वह प्राचीनतम उज्ज्वल धरोहर है, जिस पर पूरी मानवता को गर्व होना चाहिये।

समाज में भेदक तत्त्वों को बढावा देने के लिये कात्यायन और पतंजलि के नाम पर "श्रमणब्राह्मणम्" जैसे मिथ्या उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दू-मुसलमान जैसे शब्दों को भी उसी तर्ज पर प्रस्तुत किया जा रहा है। आगमशास्त्र में इस संकीर्ण दृष्टि को पूर्णतया नकार दिया गया है, तो भी ब्राह्मणवाद और मनुवाद के आधार पर उसी दृष्टि को जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है, जब कि आज की आवश्यकता यह है कि सिद्धान्तशिखामणि जैसे आगमीय ग्रन्थों की दृष्टि का अनुसरण कर हम पूरे भारतीय समाज में भावात्मक एकता की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हों और भेदक-दृष्टि को सर्वथा नकार दें। धर्मान्तरण इसमें प्रमुख बाधक तत्त्व है। भारतीय संस्कृति ने जन और वन जातियों के व्यक्तिगत जीवन में कभी कोई हस्तक्षेप नहीं किया। स्वर्ग और नरक तक ही सीमित सेमेटिक धर्मों को एक ही जन्म में मुक्ति के तन्त्रागमीय सिद्धान्त की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिये।

प्रसंगवश हम यहाँ तीन विषयों की संक्षिप्त चर्चा करना चाहते हैं। इनमें पहला है—गुरु-तत्त्व। इस पर यहाँ पर्याप्त विचार हुआ है। शैवभारती शोध प्रतिष्ठान से भाषा-भाष्य के साथ गुरुगीता का प्रकाशन हुआ है। गुरु-तत्त्व पर प्रकाश डालने वाला यह महनीय ग्रन्थ है। साथ ही हमें यह भी याद रखना है कि "गुरुतः शास्त्रतः स्वतः" यह सिद्धान्त पारमेश्वरागम में भी अनेक स्थलों पर (पृ. २६२, ३३९, ३४४, ३५६, ३८७) मान्य हुआ है।

२. आगम और निगम की परिभाषा बताने वाले दो श्लोकों की भी हम यहाँ चर्चा करना चाहते हैं। इस विषय पर हम बहुधा विचार कर चुके हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचे

हैं कि यह परिभाषा शाक्त आगम की क्रम शाखा पर लागू नहीं हो पाती। अतः हमें अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत परिभाषा को ही मान्यता देनी चाहिये।

३. "खेचरविसा कृत शडुस्छलि" (पृ. २१२-२२६) शीर्षक निबन्ध से हमें नई सूचनाएँ मिलती हैं। इसमें भी एक स्थल पर 'गतानुगतिक' दृष्टि का अनुसरण किया गया है, जहाँ (पृ. २१९) खेचरविसा की परम्परा इस प्रकार दी गई है — आदिनाथ-मीननाथ/मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथ-मुक्ताबाई-चांगा बटेश्वर-कृष्णनाथ (रामकृष्णनाथ)-खेचरविसा। नित्याषोडशिकार्णव के संस्कृत उपोद्घात (पृ. ११६-११७) की टिप्पणी में हमने यह स्थापित किया है कि इन दोनों (मत्स्येन्द्र और गोरक्ष) नाथ-योगियों के स्थितिकाल में शताब्दियों का अन्तर है और इनके सिद्धान्तों में भी पर्याप्त भिन्नता विद्यमान है। इसी मत की चर्चा हमने अपने हिन्दी ग्रन्थ "आगम और तन्त्रशास्त्र" में प्रकाशित "सिद्ध और सहजयान" शीर्षक निबन्ध में भी की है। इस पर विद्वानों के विचार अपेक्षित हैं।

हठयोगप्रदीपिका में हठयोग के आचार्यों की परम्परा इस प्रकार दी गई है—

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ।
चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ।।

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ।।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ।।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ।।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ।। (१.५-९)

शडुस्छलि में प्रदर्शित गुरु-परम्परा का समर्थन हम यहाँ दी गई—"खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते" (१.९) इस उक्ति के आधार पर कर सकते हैं।

बस इतना ही लिख कर हम प्रस्तुत ग्रन्थ को विज्ञ पाठकों के कर-कमलों में समर्पित कर रहे हैं।

आश्विन शुक्ल षष्ठी, सं. २०५६
जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी
(दि. १५-१०-९९ ई.)

विद्वद्विधेय
व्रजवल्लभ द्विवेदी
निदेशक, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान



विषय-सूची



सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा

शास्त्र गोष्ठी

श्रीमत्काशी ज्ञानसिंहासनाधीश्वर १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी का

उद्घाटनाशीर्वचन

काशी ज्ञानसिंहासन के आदि जगद्गुरु विश्वाराध्य से लेकर विश्वेश्वर शिवाचार्य पर्यन्त जो गुरु-परम्परा हुई है, उसे अनेक प्रणिपात समर्पित करते हुए आज की इस गोष्ठी में भाग लेने वाले सभी विद्वद्गण, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदीजी, आज के मुख्य अतिथि प्रोफेसर सुधांशुशेखर शास्त्रीजी, काशी वीरशैव विद्वत्संघ के समस्त विद्यार्थीगण, भाविक भक्तों एवं माताओं !

काशी के सुप्रसिद्ध इस जंगमवाडी महामठ में श्री सिद्धान्तशिखामणि के विविध आयामों पर आयोजित त्रिदिवसीय शास्त्रसंगोष्ठी का उद्घाटन करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। विगत दो वर्षों से इसकी योजना चल रही थी। इस संगोष्ठी को कर्नाटक के बेंगलोर, तुमकूर अथवा दावणगेरे में आयोजित करने का विचार रहा। वहाँ के भक्तगण और विद्वद्गण भी तैयार थे, लेकिन बहुत लोगों का विचार यह हुआ कि काशी विद्या की नगरी है, हर एक प्रान्त का विद्वान् काशी आने के लिए सहर्ष तैयार हो जाता है और इस संगोष्ठी को राष्ट्रिय स्तर पर आयोजित करने के लिए काशी ही समुचित स्थान है। उसी सन्दर्भ में काशी जंगमवाडी मठ में कोटि-विल्वार्चन नामक एक बृहद् धार्मिक कार्यक्रम के आयोजन करने का विचार चल रहा था। इन सभी विचारों को सामने रख कर कोटि-विल्वार्चन के समापन समारोह के उपलक्ष में इस गोष्ठी का आयोजन तय हुआ। इसके लिए नई दिल्ली के राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान का सहयोग भी प्राप्त हुआ। तब जंगमवाडी मठ एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के संयुक्त तत्त्वावधान में इस गोष्ठी को तीन दिन चलाने का निर्णय लिया गया।

काशी जंगमवाडी मठ के शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक राष्ट्रिय-पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदीजी से विचार विमर्श करके काशीस्थ विद्वानों की एक सभा बुलायी गई। उस सभा में संगोष्ठी का विषय, संगोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वानों का चयन और उनके निबन्धों के बारे में विचार-विमर्श भी हुआ। उस विद्वत्-सभा में यह भी निर्णय लिया गया कि २८ शैवागमों के सिद्धान्त पर आधारित श्री सिद्धान्तशिखामणि समन्वय सिद्धान्त का प्रतिपादक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है, अतः चर्चा का केन्द्र-बिन्दु सिद्धान्तशिखामणि को ही

मानकर उसके विविध आयामों पर आधारित विषयों का निर्धारण किया गया और इसके बारे में अनेक विद्वानों को सूचना भी भेज दी गई।

इस संगोष्ठी में कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उत्तरप्रदेश, बिहार और दिल्ली से भी आये विद्वान् और विदुषी गण इसमें भाग लेकर इस गोष्ठी को अखिल भारतीय स्तर प्रदान कर रहे हैं। इस गोष्ठी में कन्नड़, हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं के माध्यम से निबन्ध पढ़े जाएंगे।

वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादक श्री सिद्धान्तशिखामणि में साधक के मानसिक विकास के लिए एक सौ एक स्थल प्रतिपादित किये गऐ हैं। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह भी है कि इस में किसी मत-मतान्तर का खण्डन नहीं किया गया है और खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति के विपरीत समन्वय सिद्धान्त का सन्देश दिया गया है। समाज में एक दूसरे के सिद्धान्त का खण्डन करने से अशान्ति फैल जाती है और राग-द्वेष को बढावा मिलता है। इससे और भी अशान्ति फैलने की सम्भावना रहती है। जब तक सभी लोग समन्वय दृष्टिकोण नहीं अपनाएंगे, तब तक समाज में सामञ्जस्य स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। अतः इस सामञ्जस्य स्थिति को स्थापित करने का बहुत बड़ा योगदान श्री सिद्धान्तशिखामणि का रहा है। इस तथ्य की जानकारी केवल भारतवासियों के लिए ही नहीं, विश्व के सभी धर्मावलम्बियों को भी हो जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से गोष्ठी का आयोजन किया गया है। हम आज दीप-प्रज्वलन पूर्वक इस गोष्ठी के उद्घाटन का उद्घोष करते हैं।

तीन दिन तक चलने वाली इस संगोष्ठी में निबन्ध पढ़ने वाले विद्वानों के अलावा निबन्ध के ऊपर चर्चा करने के लिए कई स्थानिक और बाहर के भी विद्वान् उपस्थित हो रहे हैं। हजारों-हजारों श्रद्धालु भक्तगण भी श्रोता के रूप में उपस्थित हो रहे हैं। इस तरह यह गोष्ठी आम जनता से लेकर विद्वत्समाज पर्यन्त सबके लिए प्रयोजनकारी सिद्ध हो सकती है। हमारे देश के प्राचीन आचार्य और महर्षि समष्टि-कल्याण की भावना से जो जो कार्य करते आये हैं, उसीसे जुड़ा हुआ यह भी एक कार्य है। हमें विश्वास है कि इस चर्चा-सत्र में विभिन्न विषयों पर निबन्ध-पठन और उसके ऊपर होने वाली चर्चा से जो निर्णय होंगे, वे बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय सिद्ध होंगे।

आज इस प्रथम दिन के सत्र में भाग लेने वाले विद्वानों को तथा अग्रिम सत्रों में भाग लेने वाले विद्वानों एवं समस्त भक्तजनों को शुभाशीर्वाद देते हुए उद्घाटनपरक आशीर्वचन को पूर्ण करते हैं।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

विषयोपस्थापन

शैव धर्म भारत का प्राचीनतम धर्म माना जाता है। मोहंजोदड़ो से प्राप्त सामग्री में इसके पर्याप्त प्रमाण मिल गये हैं। आज शैवदर्शन में पति, पशु और पाश नामक तीन पदार्थ स्वीकृत हैं और वीरशैव मत में लिंगधारण का माहात्म्य। इस प्रकार ज्ञानपक्ष और क्रियापक्ष के वर्तमान शैव दर्शन में स्वीकृत इस स्वरूप की साक्षी वह सामग्री भी है, जो कि भारत के अनेक स्थलों पर उत्खनन से प्राप्त हुई है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में कृतान्तपंचक के रूप में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक की गणना की गयी है। वहाँ इन सबको प्रमाण माना गया है। 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवम्' महिम्नस्तव के इस वचन से भी इस विषय की पुष्टि होती है। महाकवि कालिदास भी—"बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः। त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।।" यहाँ इसी सिद्धान्त को सुविचारित मानते हैं। वीरशैव धर्म-दर्शन के सिद्धान्तशिखामणि नामक ग्रन्थ में भी महाभारत के समान ही कृतान्तपंचक का प्रामाण्य इस प्रकार अंगीकृत है—"सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः।।" (५।४)। हम मान सकते हैं कि भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन इन्हीं पाँच सिद्धान्तों से अनुप्राणित हैं। परवर्ती काल में शैव धर्म का विकास सांख्य, योग और वेदारण्यक के प्रमाण के आधार पर ही हुआ है।

शैव धर्म और दर्शन के प्रख्यात विद्वान् डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय जी ने शैव दर्शन के दस विभागों का परिचय दिया है। इनमें आजकल की भाषा में प्रचलित दक्ष और वाम, उभय प्रकृति के दर्शनों का समावेश है। डॉ० एस. एन. दासगुप्त ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास के पाँचवें खण्ड में मेयकंडदेव के शिवज्ञानबोध के आधार पर विकसित दक्षिण के शैव सिद्धान्त साहित्य का भी परिचय दिया है। अभी हाल में हालैण्ड के आगमशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् डॉ० जे. गोण्डा का इस विषय का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें आगमशास्त्र के साथ भक्तिशास्त्र और नाथ योगियों के साहित्य का भी विवरण दिया गया है। इस प्रकार आगम और तन्त्रशास्त्र की परिधि में आने वाला विशाल भारतीय साहित्य आज भी उपलब्ध है।

यह साहित्य बहुत कुछ उपेक्षित ही रहा है, किन्तु इधर देश और विदेश में इसके प्रति रुचि जागी है। आज इस रुचि को एक सुनिश्चित दिशा देने की आवश्यकता है, अन्यथा मानवता भटक भी सकती है, क्योंकि तन्त्रशास्त्र के उज्ज्वल और कृष्ण दोनों ही पक्ष हमारे सामने हैं। आज इसके शुक्ल पक्ष की अपेक्षा कृष्ण पक्ष को बढ़ावा देने का प्रयत्न किया जा रहा है। भविष्य में मानव इसके कृष्ण पक्ष में न डूब जाय, इस विषय का सतर्क अध्ययन

अपेक्षित है। इस कार्य की पूर्ति के लिए काशी जंगमबाड़ी मठ के ज्ञानसिंहासनाधीश्वर श्री १.००८ जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी अपने परमगुरु स्वनामधन्य श्री १००८ जगद्गुरु वीरभद्र शिवाचार्य महास्वामी जी की परम्परा का अनुसरण करते हुए उनके द्वारा स्थापित ज्ञानमन्दिर और शैवभारती भवन की परम्परा को आगे बढ़ाने की दृष्टि से काशी में शैवभारती शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की है।

वीरशैव मत में १० शिवागम और १८ रुद्रागमों को मिलाकर २८ आगमों का प्रामाण्य स्वीकृत है। पाशुपत मत के भस्मोद्धूलन आदि विधियों का ये तत्परता से पालन करते हैं और काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन की प्रक्रिया को भी ये स्वीकार करते हैं। अतः इस शोध प्रतिष्ठान की परिधि में वीरशैव सिद्धान्त की अभिवृद्धि में सहायक शैवागम की पाशुपत, सिद्धान्तशैव और प्रत्यभिज्ञा शाखाओं का यथायोग समावेश किया जाय, ऐसा हमारा संकल्प है। २८ शैवागमों के उत्तर भाग में विशेष रूप से वीरशैव मत के सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। अतः इस संस्थान में प्राथमिकता उक्त २८ आगमों और उनके उत्तर भाग को दी जाएगी। तदनुसार संस्थान का कार्यक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा रहा है —

१. शैवागम सम्बन्धी पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण एवं संग्रह।
२. विवरणात्मक सूचियों का निर्माण, जिनमें ग्रन्थ-ग्रन्थकार नाम, विषय, लिपि, लिपिकाल, उद्धृत ग्रन्थ-ग्रन्थकार आदि की प्रामाणिक सूचनाएँ अंकित होंगी।
३. इतर लिपियों में उपलब्ध पाण्डुलिपियों और मुद्रित ग्रन्थों का देवनागरीकरण।
४. पाण्डुलिपियों और मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के वचनों का संग्रह, जो कि आज उपलब्ध नहीं हैं।
५. अद्यावधि अमुद्रित ग्रन्थों अथवा इतर लिपियों में मुद्रित ग्रन्थों का भाषा-शुद्धि, पाठ-शुद्धि एवं पाठान्तर संग्रह पूर्वक समालोचनात्मक संस्करण तैयार करना।
६. विशिष्ट ग्रन्थों का हिन्दी, अंग्रेजी एवं इतर भाषाओं में अनुवाद करना।
७. शैवागम सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दों की तत्तत् ग्रन्थों में उपलब्ध परिभाषाओं को संकलित कर शब्दकोष और विषयकोष का निर्माण।
८. एक षाण्मासिक शोधपत्रिका का प्रकाशन करना।
९. शैवागम सम्बन्धी प्रामाणिक इतिहास-ग्रन्थों और शोध-ग्रन्थों को प्रकाशित करना।
१०. शैवागम के विद्वानों के प्रवचनों और शैवागम सम्बन्धी गोष्ठियों का आयोजन।
११. शैवागम सम्बन्धी शोधरत अथवा अध्ययनरत संस्थानों से सम्पर्क स्थापित करना।
१२. शैवागम सम्बन्धी शोधरत एवं अध्ययनरत छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करना।
१३. ऊपर निर्दिष्ट सभी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक व्यवस्था करना।

इस शोध-प्रतिष्ठान की सविधि स्थापना सन् १९९३ में कर दी गयी थी। अब तक यहाँ से शोधपूर्ण प्रस्तावनाओं के साथ बारह ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। इस मठ में रह कर अन्य विश्वविद्यालयों में अध्ययनरत एवं अध्ययन के उपरान्त शोधकार्य करने वाले छात्रों की भी निरन्तरता बनी रहती है। वे यहाँ से छात्रवृत्ति भी प्राप्त करते हैं। यह प्रतिष्ठान इनके लिए अध्ययन एवं शोध-कार्य में गुणवत्ता जुटाने में निरन्तर सचेष्ट रहता है। अब तक यह प्रतिष्ठान ऊपर निर्दिष्ट लक्ष्यों में से कुछ पर पूर्णतया तथा अन्य पर आंशिक रूप से कार्य प्रारम्भ कर चुका है। इसी सातत्य में आज यह शैवागम सम्बन्धी त्रिदिवसीय अखिल भारतीय विद्वद्गोष्ठी श्री जगद्गुरु विश्वाराध्य जनकल्याण प्रतिष्ठान एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली की संयुक्त आर्थिक सहायता से आयोजित की जा रही है।

जंगमवाड़ी मठ में 'ज्ञान मन्दिर' के रूप में एक समृद्ध पुस्तकालय पहले से विद्यमान है। इसमें मुद्रित एवं हस्तलिखित ग्रन्थों का विशाल संग्रह है। मैसूर विश्वविद्यालय से यहाँ संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों की विवरणात्मक सूची भी छप चुकी है। प्रतिष्ठान का भी शोध की दृष्टि से समृद्ध एक नूतन ग्रन्थालय स्थापित हो, इसके लिए भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा संचालित राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से आर्थिक सहायता मिलने लगी है। इसी संस्थान की सहायता से शोध-प्रतिष्ठान एवं ग्रन्थालय भवनों का भी शीघ्र निर्माण होने जा रहा है। हमें आशा है कि इस शोध-प्रतिष्ठान को शीघ्र ही राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की मान्यता मिल जायगी और साथ ही पर्याप्त छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था हो सकेगी।

इस प्रकार यह शोध प्रतिष्ठान तन्त्रागम शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से मौलिक शोध कार्य प्रस्तुत करने के नूतन क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है। इस क्षेत्र के यहाँ उपस्थित अथवा अनुपस्थित विद्वानों के सहयोग एवं सहायता से ही यह कार्य आगे बढ सकता है। इसके लिए हम उनसे सानुरोध निवेदन करते हैं। यहाँ के शोध छात्रों को अब तक विभिन्न विश्वविद्यालयों के नियमों का पालन करते हुए अपना शोध कार्य आगे बढ़ाना पड़ता था, जिसमें कि आगमशास्त्र के शोध को वरीयता नहीं दी जाती थी और उसके साथ अन्य विषयों को अनिवार्य रूप से जोड़ना पड़ता था।

अब वे इस बन्धन से मुक्त हो जायेंगे और विभिन्न आगमों पर स्वतन्त्र रूप से अपना शोध कार्य प्रस्तुत कर सकेंगे। आगमों में प्रधानत: ज्ञान अथवा विद्या (दर्शन), क्रिया, योग और चर्या नामक चार पादों के रूप में दर्शन और योगप्रधान नाना प्रकार की उपासना विधियाँ संकलित हैं। आगम शास्त्र की प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ दर्शन शास्त्र की शास्त्रार्थ-पद्धति अथवा योगशास्त्र की जटिलता का परित्याग कर सामान्य मानव मन के उद्बोधन का प्रयास किया गया है और चर्या के रूप में आचरण को वरीयता दी गयी है। मानव जाति को आज इसी की तो आवश्यकता है।



आन्ध्रलिपिमुद्रितसिद्धान्तशिखामणिपरिशीलनम्

- डॉ० अत्तलूरि मृत्युञ्जय शर्मा -

आधारादिसमस्तचक्रनिचये यो हंसरूपः शिवः
नित्यानन्दगुरुप्रसादविभवाद् भावादिसंज्ञोऽभवत् ।
आचारादिविभेदतः पुनरसौ षड्लिङ्गरूपोऽभवत्
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये गिरिसुताभर्त्रे नमस्कुर्महे ।।

रेणुकेशमखिलार्थसिद्धिदं लिङ्ग-जङ्गम-गुरुस्वरूपिणम् ।
चित्त ! वाणि ! सुतनो ! भजस्व मे चिन्तनेन नुतिना सुपूजया ।।

षट्स्थलज्ञानसम्पन्नं षड्लिङ्गाङ्गविवेकिनम् ।
रेवणासिद्धयोगीन्द्रं गुरुं वन्दे यतीश्वरम् ।।

लोके तावत् परमेश्वरांशसम्भूता जीवाः संसारचक्रे परिभ्रममाणा एनमेव सत्यमिति मन्वाना दाशपुत्रादिवैषयिकप्रेम एव परमार्थ इति सञ्चिन्त्य जननमरणरूपेऽस्मिन् संसारसागरे निमज्जन्ति, उन्मज्जन्ति च।

तेषामेवोद्धरणाय परमेश्वरो धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयं प्रतिपाद्य तदाचरणार्थं वर्णाश्रमाचाररूपां व्यवस्थां प्रकटयाञ्चकार तस्मिन् कर्मज्ञानभक्तिरूपमार्गत्रयं च प्रत्यपादयत्। तेषु कर्मणो गतिरनवगाहा। ज्ञानं चाप्यपरिमितम्। भक्तिमार्गस्तु सुलभ एव। तादृश भक्तिमार्गेऽनादिः शैवोऽप्यस्तीत्यत्र न कस्यापि सन्देहलेशः।

शैवं नाम शिवेन सहाविनाभावसम्बन्धः। तच्च लोके जपार्चनद्युपासनाभेदेन जगज्जीवेश्वर-सम्बन्धभेदेन च शैव-पाशुपत-लकुलीशरूपेण द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-द्वैताद्वैत-रूपेण च दरीदृश्यते।

शिवे भक्ताः भक्तियुताः शैवाः। सा च भक्तिराभ्यन्तरा बाह्या चेति द्विधा। पीठे शिवलिङ्गपूजा बाह्या, "लिङ्गे प्राणं समाधाय प्राणे लिङ्गं तु शाम्भवम्" इति रीत्या प्राण-लिङ्गार्चनरूपा चाभ्यन्तरा भक्तिरिति कथ्यते। चन्द्रज्ञानागमे —

यदागमान्तविश्रान्तदीक्षात्रयविशोभितम् ।
अङ्गत्रितयसम्बद्धं लिङ्गत्रयविराजितम् ।।
विशिष्टमष्टावरणैः पञ्चाचाराभिमण्डितम् ।
वर्णाश्रमीयधर्माढ्यं षट्स्थलज्ञानसंयुतम् ।।

इत्यादिश्लोकैर्वेधा-मनु-क्रियादीक्षात्रयेण स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरेष्विष्ट प्राणभावलिङ्ग-संयुताः, लिङ्गाचार-भृत्याचारादिपञ्चाचारैरभिशोभिता भक्तमाहेश्वरादिषट्स्थलज्ञानसंयुता एव शैवा इति सुप्रपञ्चितम् ।

पर्यालोचनया कालक्रमेण लिङ्गधारणं विहाय केचन वर्णाश्रमसम्बद्धाः केचन लिङ्गधारण-सम्बद्धाः, केचन भस्मधारणसम्बद्धाः केचन रुद्राक्षधारणसम्बद्धाः केचन भस्मरुद्राक्षधारण-पूर्वकं पीठे पञ्चावरणसहितशिवार्चनरता लक्ष्यन्ते। अयमेवार्थः शान्तिसङ्गमतन्त्रे भङ्ग्यन्तरेण प्रोक्तः—

रुद्राक्षधारणात्पादमर्धं वै भूतिधारणात् ।
त्रिपात्तन्मन्त्रजापाच्च पूजया पूर्णतामियात् ।।

इत्यनेन केवलं रुद्राक्षधारणत्पादशैवा इति, रुद्राक्षभूतिधारणादर्धशैवा इति, भूति रुद्राक्षधारणपूर्वकमन्त्रजापात् त्रिपादशैवा इति, पूजया च शैवः पूर्णतामेति। पूजया पूर्णता-मियाद् इत्यनेन पूजाकरणे उपासकेन प्रथमं रुद्रो भूत्वा रुद्रपूजा कर्तव्येति नारुद्रो रुद्रमर्चयेत् इत्यादिभिरवगम्यते। रुद्रभवनं त्वागमादिषु प्रपञ्चितषडध्वशोधनपूर्वकदीक्षया, अर्थात् "दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते पापबन्धनम्" इत्युक्तलिङ्गधारणेन भवति। ये च लिङ्गधारणं विहाय रुद्रार्चनं कुर्वन्ति ते तात्कालिकमहान्यासलघुन्यासादिभिः स्वशरीरे रुद्रत्वमापाद्य यजनं कुर्वन्ति। एतादृशी रीतिरधुनाऽस्माभिर्बहुषु स्थलेषु दृश्यत एव।

एवंविधा बहवः शैवभेदाश्चन्द्रज्ञानागमे आगमान्तरेषु च सविस्तारं प्रपञ्चिताः। एतादृशाः शैवाः शैवधर्माश्च यदा अभिभूयन्ते, तदा तेषामुद्धाराय प्रचारणाय च गणेश्वरा योगाचार्यरूपेण जगतीतलेऽवतीर्य शैवधर्मप्रचारं प्रसारणं च कुर्वन्ति। श्वेतः सुतारो मदनः सुहात्रेः कङ्क एव च इत्यारभ्य "अष्टाविंशति संख्याका योगाचार्या युगक्रमादित्यन्तेन भागेन शिवपुराणादिषु प्रतिपादितोऽयमेवार्थः।

एतेषां एकैकस्य चत्वारः शिष्या इति सम्भूय श्वेतादिलकुलीशान्ता योगाचार्या चत्वारिंशदुत्तरशतसङ्ख्याकाः शैवप्रचारं कुर्वन्ति शिवपुराणादिषु प्रपञ्चितम्। एतादृश परम्परायामेव लोके शैवधर्मप्रचारार्थमाचार्यपुरुषा स्तत्तल्लिङ्गेप्यप्राकृतविग्रहा आचार्यत्रय-आराध्यत्रय-पण्डितत्रय-सिद्धत्रयरूपेण प्रादुरासन्। तेषु महनीया रेणुकापरनामानो रेवणसिद्धा आन्ध्रदेशस्थश्रीशैलस्य उत्तरदेशस्थकोलनुपाकसोमेश्वरलिङ्गात्प्रादुर्भूय कदलीपुरे धर्मपीठं संस्थाप्य अगस्त्याय शिवतत्त्वोपदेशार्थं मलयाद्रिमुपागमत्।

प्रवक्ष्यामि भक्तिश्च शृणु तज्जननक्रमम् ।
श्रीमद्रेवणसिद्धस्य कुल्यपाकपुरोत्तमे ।।
सोमेश लिङ्गाज्जननमवाप कदलीपुरे ।। इति।

एत्तैर्महाभागैरगस्त्यायोपदिष्टः शैवसिद्धान्तः भक्तमाहेश्वर-प्रसाद-प्राणलिङ्ग-शरण-ऐक्य-स्थलैस्तदवान्तरविभागैश्च प्रपञ्चितः सिद्धान्तशिखामणिः रेणुकागीता-रेणुकागस्त्य-संवाद-रेणुकागम इति च नाम्ना लोके प्रसिद्धिमवाप। ग्रन्थोऽयमान्ध्रलिप्यां त्रिवारं मुद्रितः परिदृश्यते। प्रथमं तावत् १८९७ तमे क्रैस्तवीये वर्षे एलूरुनगरे शङ्करसंहिता-शैवसिद्धान्तशिखामणि-विशेषार्थप्रकाशिका-शिवानुभवसूत्रवातूलागमरूपं शिवाद्वैतसिद्धान्त-पञ्चकमिति नाम्ना मुद्रितम् । अन्यच्च काशीस्थजङ्गमवाडीमठस्थितपण्डितमण्डलिना परिष्कृतरूपेण सिकिन्दराबादनगरे १८६२ तमे शालिवाहनशके (क्री०श० १९४०) मुद्रितम् । तृतीयं तु तेनालिनगरे साधनग्रन्थमण्डलिव्यवस्थापकेन ईश्वरसत्यनारायण-महाभागेन आन्ध्रभाषानुवादसहितं १९६१ तमे क्रै० वर्षे मुद्रितम् । पुस्तकत्रितयेऽपि तत्र तत्र स्थलेषु केचन पाठभेदाः परिदृश्यन्ते। प्रथमपुस्तके —

शम्भोराह्वानसन्तोषसंभ्रमेणैव दारुकम् ।
उल्लङ्घ्य पार्श्वमगमल्लोकनाथस्य रेणुकः ।।

तमालोक्य विभुस्तत्र समुल्लङ्घितदारुकम् ।
माहात्म्यं निजभक्तानां द्योतयन्निदमब्रवीत् ।।

अयि रेणुक दुर्बुद्धे कथमेतत्त्वयाधुना ।
उल्लङ्घितः सभामध्ये मम भक्तो हि दारुकः ।।

लङ्घनं मम भक्तानां परमानर्थकारणम् ।
आयुः श्रियं कुलं कीर्तिं निहन्ति हि शरीरिणाम् ।।

अतिचारेण मद्भक्तो लङ्घितो दारुकस्त्वया ।
अघेन रेणुकानेन जन्मवान् भव भूतले ।।

इत्यादि रेणुकं प्रति परमेश्वरशापवृत्तान्तप्रतिपादकाः प्रायो विंशतिश्लोकास्तदनन्तर-मुद्रितग्रन्थेषु न दृश्यन्ते। अपि च, एकविंशतिपरिच्छेदत्वेन विभीषणाभीष्टवरप्रदानरूपाः—

स्वच्छन्दाचाररसिकः स्वेच्छानिर्मितविग्रहः ।
आससाद पुरीं लङ्कां रेणुको गणनायकः ।।

इत्यारभ्य,

श्रोता श्रावयिता स याति विमलां भुक्तिं च मुक्तिं पराम् ।।

इत्यन्तमेकपञ्चाशत् श्लोकाः प्राचीनतमे पुस्तके नोपलभ्यन्ते। स्थलानामवान्तरभेदनाम-निर्वचनं प्रथमं कृत्वा तदनन्तरं तन्नाम शीर्षिकया तेषां तेषां निर्वचनं प्राचीनपुस्तकेऽस्ति। नवीने

तु शीर्षिकानन्तरमेव तल्लक्षणं तेषां निर्वचनं कृतम् । अपि च, तत्र तत्र श्लोक-पादभेदः श्लोकानुपादानम्, अन्यत्र स्थितस्य श्लोकस्यान्त्रोपवर्णनं च तत्र तत्र दृश्यते, यथा— ऐक्यस्थलस्थितशिष्टौदनस्थल-अङ्गलेपनस्थल-सन्दर्भे प्राचीनेऽङ्गलेपनस्थलस्थितः—

अखण्डसच्चिदानन्दपरब्रह्मस्वरूपिणः ।
जीवन्मुक्तस्य धीरस्य मायाकैङ्कर्यवादिनी ।।

इति श्लोको नवीनेषु शिष्टौदनस्थले दृश्यते एवं बहुविधा व्यत्यासाः पाठभेदः सिद्धान्त-व्यतिरेकरूपत्वेन परिदृश्यमानश्लोकानां निष्कासनं च परिलक्ष्यते।

वस्तुतः सिद्धान्तशिखामणौ शिव एव परं ब्रह्म, स च शक्तिविशिष्टः शक्तिश्चानपायिनी। तस्याः विस्फुरणमेव जगत्। शक्तेः परमार्थत्वज्जगदपि परमार्थ एव। जीवस्तु किञ्चिज्ज्ञ-किञ्चित्कर्तृत्व-किञ्चिद्भोक्तृत्वाभिमानी। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्युक्तानुसारेणास्मिन् शरीरे जीव-परमेश्वरौ सहैव विराजेते जीवः स्वान्तस्थं परमेश्वरं ज्ञात्वा मुक्तः सन् शिवसमो भवति। परमेश्वरज्ञानार्थमेव कल्पिता उपासना। योगमार्गे सर्वेष्वपि जीवेष्वात्मस्थितो ज्योतिर्लिङ्गरूपः शिवो विभाव्यते। एवं च देवमनुष्यरूपेषु जीवेष्वन्तर्लिङ्गधारणं सहजम् ।

अन्तर्धारयितुं लिङ्गमशक्तो शक्त एव वा ।
बाह्यं च धारयेल्लिङ्गं तद्रूपमिति निश्चयात् ।। इति।
(सि०सि० ६।४८)

बहिर्लिङ्गधारणं विहितम्। अत एव ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा गौतमादयो ऋषयश्च स्वोत्तमाङ्गेषु लिङ्गधारणं कृतवन्त इति शैवागमपुराणेभ्योऽवगम्यते।

दीक्षया गुरुः शिष्यस्थ स्थूलसूक्ष्मकारणदेहेषु इष्टप्राणभावलिङ्गस्थापनं करोति। तस्मिन्नेव समये हे शिष्य! लिङ्गं त्वमेवासीति शिष्यस्य लिङ्गरूपत्वमादिशति। एतल्लिङ्गत्रयानुसन्धानेन प्रतिदिनं गुरूपदिष्टमार्गेण शिष्य आगमादिषूक्तविधिना षट्कालं त्रिकालमेककालं वा लघु-गुरु-महद् भेदेन शिवार्चनं कुर्वन्नन्ते लिङ्गाङ्गसमरसीभावेन लिङ्गभावमेति।

अस्मिन् ग्रन्थे सिद्धान्तविषयेभ्योऽप्यनुभववेदान्तस्याधिकं प्राधान्यं दत्तम्। अनुभव-वेदान्ते लिङ्गाङ्गसङ्गिनः प्रति नित्याचारे या भावनाऽनुभूयन्ते, ताः सर्वा अपि सूक्ष्मेक्षणिकया विविक्ताः। लीनार्थगमकं लिङ्गमेव स्थलशब्देन व्यवह्रियते। तत्स्थलं लिङ्गस्थलमिति, अङ्गस्थलमिति द्विधा। शिवेनानपायिनी शक्तिरपि द्विधा भवति लिङ्गस्थलाश्रिता शक्तिः कला रूपा भवति अङ्गस्थलाश्रिता शक्ति भक्तिरूपा, भक्तिश्च भक्त-माहेश्वर-प्रसादि-प्राणलिङ्गि-शरणैक्यस्थूलरूपेण षड्विधा भवति। लिङ्गं च आचार-गुरु-शिव-चर-प्रसाद-महालिङ्ग-रूपेण षड्विधम्। षट्स्थलाश्रित-षड्विधलिङ्गोपासनया ज्ञानिनः श्रेष्ठतमाः।

क्रिमिकीटपतङ्गेभ्यः पशवः प्रज्ञयाधिकाः ।
पशुभ्योऽपि नराः श्रेष्ठास्तेषु श्रेष्ठाः द्विजादयः ।।

द्विजादिभ्योऽधिका विप्रा विप्रेषु क्रतुबुद्धयः ।
क्रतुबुद्धिषु कर्तारस्तेभ्यः संन्यासिनोऽधिकाः ।।

तेभ्यो विज्ञानिनः श्रेष्ठास्तेषु शङ्करपूजकाः ।
तेषु श्रेष्ठा महाभाग मम लिङ्गाङ्गसङ्गिनः ।।

लिङ्गाङ्गसङ्गिष्वधिकः षट्स्थलज्ञानवान् पुमान् ।
तस्मादप्यधिको नास्ति त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।। इति।

शङ्करसंहितावचनेन षट्स्थलज्ञानसम्पन्नाः सर्वेभ्योऽप्यधिकाः। अत एव रेणुक-भगवत्पादैः षट्स्थलेषु भक्तस्थलं पिण्डपिण्डविज्ञानादिभेदेन पञ्चदशधा, माहेश्वरस्थलं माहेश्वरलिङ्ग-निष्ठादिरूपेण नवधा, प्रसादिस्थलं गुरुमाहात्म्यलिङ्गप्रशंसादिरूपेण सप्तधा, प्राणलिङ्गिस्थलं प्राणलिङ्गिप्राणलिङ्गार्चनादिरूपेण पञ्चधा, शरणस्थलं शरणतामसवर्जनादिरूपेण चतुर्धा, ऐक्यस्थलमैक्याचारसम्पादनादिरूपेण चतुर्धा-आहत्य चतुश्चत्वारिंशद्रूपेण विभक्तम्। तत्रैव दीक्षा-गुरु-लिङ्ग-भूति-रुद्राक्ष-मन्त्र-प्रसाद-पादतीर्थरूपाण्यष्टावरणानि सोपपत्तिकं निरूपितानि।

भक्तादिस्थलाश्रितानि लिङ्गस्थलान्यागमेषु लोके च आचारलिङ्ग-गुरुलिङ्ग-शिवलिङ्ग-चरलिङ्ग-प्रसादलिङ्ग-महालिङ्गपदैर्व्यवह्रियमाणानि दृश्यन्ते। अत्र तावत् तादृशपदानुपादानेन भक्तस्थलाश्रितलिङ्गस्थलानि कथ्यन्त इत्युक्तम् । तत्र भक्तस्थलं दीक्षागुरु-शिक्षागुरु-प्रभृतिभेदेन नवधा, माहेश्वरस्थलं क्रियागमभावागमभेदेन नवधा, प्रसादस्थलं कायानुग्रह-इन्द्रियानुग्रहभेदेन नवधा, प्राणलिङ्गिस्थलम् आत्म-अन्तरात्म-परमात्मभेदेन नवधा, शरण-स्थलं दीक्षापादोदकशिक्षापादोदकभेदेन द्वादशधा, ऐक्यस्थलं स्वीकृतप्रसादशिष्टौदनादि-भेदेन नवधा आहत्य सप्तपञ्चाशद्भेदरूपाणि प्रोक्तानि।

अत्रैव वर्णाश्रमधर्मविचारः, क्रियाज्ञान-समुच्चयविचारः, द्वैताद्वैतविचारः, जीवात्म-परमात्मनोर्विचारः, शक्तिविचारः,जगत्सत्यत्वादि-विचारः, शिवयोगिनः स्वरूपम्, तस्य आचार-व्यवहारादयश्च बहवः शैवसिद्धान्तीया विषया निरूपिताः सन्ति।

अस्मिन् ग्रन्थे परमं तत्त्वं स्थललिङ्ग-परशिवाद्यभिधानैर्व्यवह्रियते। स तु निर्गुण-सगुण-उभयरूपः—

परिच्छेदकथाशून्यं प्रपञ्चातीतवैभवम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगोचरपदे स्थितम् ।।

इत्यत्र निर्गुणम् ।

विशुद्धज्ञानकरणं विषयं सर्वयोगिनाम् ।
कोटिसूर्यप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।।

अप्राकृतगुणाधारमनन्तमहिमास्पदम् ।।

इत्यत्र सगुणं च स्वरूपं प्रतिपादितम् । शिवस्य निर्गुण-सगुण-उभयरूपत्वे तदीया शक्तिरेव हेतुः निर्गुणोऽपि परशिवबोधरूप-विमर्शशक्तिविशिष्टत्वेन सविशेष एव। स परमेश्वर उपासकानुग्रहाय सगुणं रूपमङ्गीकरोति —

चद्रार्धशेखरं शुद्धं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।
शुद्धमुक्ताफलाभासमुपास्यं गुणमूर्तिभिः ।। इति।

सोऽयं शिवः सृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहरूपपञ्चकृत्यं निर्वर्तयति। सृष्टौ अवरमायया शक्तिविशिष्टस्य शिवस्याभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वम् ।

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ।।

इत्यादिभिर्निरूपितम् । जीवस्तु —

एक एव शिवः साक्षाच्चिदानन्दमयो विभुः ।
निर्विकल्पो निराकारो निर्गुणो निष्प्रञ्चकः ।।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तदंशो जीवनामकः ।।

इति पद्धत्या परमेश्वराशं भूतः किञ्चिद्ज्ञत्व-किञ्चित्-कर्तृत्व अपूर्णत्व-अनित्यत्व धर्मकः सन् स्वकर्मानुसारेण देवतिर्यङ्मनुष्यादिनानायोनिविभेदतः संसारे परिभ्रमति। आणवमायीयकार्मिकमलपाशबद्धो जीवस्तेषामपगमने मुक्तिमवाप्नोति। एतादृशपाशनिवृत्तेः शिवदीक्षायाः प्रधानकारणत्वम् ।

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पापबन्धनम् ।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षा चेति विचक्षणैः ।।

(शि०पु०वा स० ३०।१०८)

दीक्षया जीवः शुद्धो भवति। शुद्धः सन् परशिवेन साकमैक्यापत्तौ न केवलं कर्म न वा ज्ञानं साधनं भवति, किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चय एव मुक्तौ हेतुरिति।

ज्ञानहीनं सदा कर्म पुंसां संसारकारणम् ।
तदेव ज्ञानयोगेन संसारविनिवर्तकम् ।।

ज्ञानामृतेन तृप्तोऽपि योगी धर्मं न सन्त्यजेत् ।
आचारं महतां दृष्ट्वा प्रवर्तन्ते हि लौकिकाः ।।

इत्यादिभिः सिद्धान्तितम्।

जीवो दीक्षया इष्टप्राणभावलिङ्गधारणं कृत्वा भक्तादिसोपानस्थलान् अधिगत्य लिङ्गाङ्ग-सामरस्येन भ्रमरकीटन्यायेन पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिमवाप्नोतीत्यादिसिद्धान्तीयविषयनिरूपण-पूर्वकमनुभववेदान्तरूपस्थलानां सूक्ष्मेक्षणिकया परिशीलनं कृतम् ।

शिवपुराणीयवायवीयसंहितायां शिवस्य सगुणनिर्गुणरूपत्वम्, शक्तेरनपायिनीत्वम्, तदुपासनायां भूति-रुद्राक्ष-मन्त्र-लिङ्ग-पादतीर्थ-प्रसाद-दीक्षा-गुरुरूपाष्टावरणानां स्वरूपम्, वेधा-मनु-क्रियारूप-दीक्षास्वरूपम्, गुरुशिष्यलक्षणादिकं च शैवागमानुरूपेणैवोपवर्णितम्। किन्तु दीक्षया लिङ्गधारणमागमेषु सिद्धान्तशिखामण्यां च प्रतिपादितम्। वायवीयसंहितायां तु —

दद्याच्छिष्याय मूलेन रुद्राक्षं चाभिमन्त्रितम् ।
प्रतिमां वाऽपि देवस्य गूढदेहमथाऽपि वा ।।

इत्यादिनाऽर्चनार्थं शिष्याय शिवस्य प्रतिमां वा गूढदेहमित्यनेन लिङ्गं वा देयमिति प्रतिपादितम्, न तु लिङ्गधारणम्। आन्ध्राक्षरमुद्रितवायवीयसंहितायां तु धारणार्हलिङ्गप्रमाण-लिङ्गधारणप्रतिपादका इमे श्लोकाःपरिदृश्यन्ते —

कृष्ण वक्ष्ये शृणु मुदा नन्दिनोक्तं शिवात्मकम् ।
लिङ्गाङ्गसामरस्यं वै लिङ्गधारणमुत्तमम् ।।
धारणार्हस्य लिङ्गस्य लक्षणं त्वथ कथ्यते ।
- -
शिवार्चनं च धर्मार्थकाममोक्षफलप्रदम् ।। इति।

प्रायश एकाधिकषष्टिश्लोकात्मको भागोऽयं देवनागराक्षरग्रन्थेषु नोपलभ्यते। अस्य कारणमलाभो वा निष्कासो वा भवेदिति मन्ये।



पाशुपतमतस्य श्रीसिद्धान्तशिखामणौ प्रभावः

– पण्डितश्रीकामेश्वरमिश्रः –

पाशुपतमतं शैवधर्मस्य प्रसिद्धा शाखास्ति। महाभारतेऽस्य मतस्योल्लेखोऽस्ति[१]। उमापतिः शिवो ब्रह्मणः पुत्रान् प्रत्युपदेशं चकार[२]। विद्वद्भिरस्य मतस्य विकासो महाभारतात् पूर्वं मन्यते। शिव एवास्यादिप्रवर्तकः स्वीक्रियते। अस्य वर्णनं पुराणादिषु, तथाऽभिलेखादिषु दरीदृश्यते। वायुपुराणस्य लिङ्गपुराणस्य चाधारेणास्य मतस्योपदेशको नकुलीशः, किं वा लकुलीशनामा ब्रह्मचारी साक्षात् शिवावतारो वर्तते[३]। कथ्यते यत् पश्चिमीये भारते कायावरोहणनामकस्थाने नकुलीशस्य जन्म जातम्। स एव शिवस्याष्टाविंशत्यवतारेष्वन्तिमावतार आसीत् । युगानां प्रत्यावर्तने समुत्पन्ने कृष्णद्वैपायने सति महादेवोऽपि श्मशानस्थिते मृतशरीरे प्रविष्टः। स एव नकुलीश इति नाम्ना प्रसिद्धः। अस्य चत्वारः शिष्याः कुशिक-गर्ग-मित्र-कौरुष्यनामानो जाताः। तैश्च योगमयदृढधर्मोपदेशः कारितः। पश्चाद् रुद्रे विलीनास्ते। अत एवास्य मतस्य प्रवर्तको लकुलीश इति सर्वैः स्वीकृतम्।

लकुलीशपदस्यार्थः लकुटं किं वा लगुडम्, अपरं च लकुलं (भाषायां लंगोट) धारयति यः स लकुलीशो दण्डधारी (शिवप्रतीकरूपेण) इतीतिहासकाराः कथयन्ति। चतुर्थशताब्दीये चन्द्रगुप्तद्वितीयविक्रमादित्यस्य मथुरास्तम्भलेखे लेखोऽस्ति। यस्मिन् लेखे उदिताचार्य-पाशुपतस्य शिष्यद्वयस्य उपमितेश्वर-कपिलेश्वरस्य स्थापितलिङ्गस्य चर्चास्ति। अभिलेखे च कुशिकस्य बहवः शिष्या आसन्। तेषु क्रमागतशिष्येषु दशमोऽयमुदिताचार्यः[४]। यदि

---

१. महाभारते शान्तिपर्वणि ।

२. सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे ! किमु नानामतानि वै ।।
तथैव —
उमापतिर्भूतपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः ।।

३. वायुपुराणे, अ० ३३; लिङ्गपुराणे, अ० २४।

४. क. इपि. ३१९ पृ० ८, अस्यां पूर्वायां भगवत्कुशिकादृशशिलाभिलेखमेन भगवत्पराशरचतुर्थेन भगवत कपिल विमल शिष्याशिष्येन भगवत् उपमित विमल शिष्येन आर्पिता चार्मेण स्वपुष्या ....प्रतिष्ठापिता ।

ख. इपि. इ. पृ० २८१ भट्टारकश्रीलकुलीशमूर्त्याः तपःक्रियाकाण्डफलप्रदाता। अनावतरादिश्वमनुग्रहीतुं देवः स्वयं बालमृगाङ्कमौलि।

ग. " " पृ०......२८१।

प्रतिशिष्यं पञ्चविंशतिवर्षमितः कालः स्वीक्रियेत, तदा कुशिकस्य समयः १३० त्रिंशदुत्तरशत-वर्षाणि भवन्ति। अनेन च प्रमाणेनैतिहासिकी सङ्गतिः स्थापिता भवति। कुशाणशासको हुविष्कः सम्भवतः कुशिकस्य समकालीनः पाशुपतमतप्रभावितश्चासीत् । पाशुपतमतस्य विस्तारे प्रसारे च लकुलीश एव सर्वोपरि नान्यः।

वैशेषिकसूत्रस्य व्याख्यावसरे प्रशस्तपादेन महर्षेः कणादस्य अभिमतचर्चा कृता। तस्यामेव महेश्वरस्य योगस्य च सत्ताविमर्शो वर्तते। विमर्शोऽयं पाशुपतस्य शैवस्य च परम्परया सम्बन्धितो मन्यते। [१]बाणोऽपि पाशुपतसम्प्रदायान् शैवधर्मप्रवर्त्तकान् स्वीकरोति। अस्यानुयायिनो ललाटे भस्म [२]करे च रुद्राक्षमालां धारयन्ति स्म। अस्य मतस्य क्रमिकलोकप्रियताया एव फलं यदस्य मठस्य प्रधान आचार्यपदेन विख्यातः। भोजनगरस्य सोमेश्वरदेवमठस्य आचार्यो वाल्मीक आसीत्[३]।

कथ्यते च पाशुपतमतं शैवसम्प्रदायस्यैव शाखास्ति। शैवधर्मस्य सिद्धान्तग्रन्थेष्वस्य मतस्य विमर्शो लभ्यते। गुणरत्नेन नैयायिकं शैवं वैशेषिकं च पाशुपतमिति कथ्यते। पाशुपतमतस्य सर्वपक्षानां सम्पादितग्रन्थाभावः। किञ्च, शैवभारतीभवनाद् जङ्गमवाडीमठात् काशीतः प्रकाशितात् श्रीसिद्धान्तशिखामणिग्रन्थात् शैवदर्शनस्य सर्वपक्षाणां ज्ञानं सञ्जायते।

पाशुपतधर्मः, तत्कालीनधर्मपञ्चाङ्गस्याङ्गमासीत्[४] महाभारतस्य शान्तिपर्वण्यन्यतमभागे शिवसहस्रनामप्रसङ्गे शिवो हि पाशुपतसिद्धान्तं प्रकटितवान् । यस्तु वर्णाश्रमस्य कस्मिश्चिदंशेऽनुकूलः, कस्मिंचिदंशे प्रतिकूलः। [५]पाशुपतशैवाः साधारणशैवेभ्यो भिन्नाः। उत्तरभारतेऽस्य विशेष एव प्रभावः। अफगानिस्थाने, काश्मीरे, राजस्थाने, [६]पञ्चनदप्रदेशे तस्य प्रधानपीठं वर्त्तते। प्रशस्तपादाः कथयन्ति यत् कणादोऽपि वैशेषिकज्ञानं शिवेन प्राप्तवान्। शककुषाणानां कालेऽस्मिन् मते बहवः साधका आसन् । अस्य विशेषः प्रभावश्च।

पाशुपतमतम्

सर्वदर्शनसङ्ग्रहे लिखितमस्ति तदैतदवैष्णवमतं परदुःखवहत्वान्न दुखान्ता-दीप्तिसत्यवदमित्यरोचमानाः पारमैश्वर्यं कामयमानाः पराभिमतां मुक्ता न भवन्ति परतन्त्रत्वात्,

---

१ भाण्डारकर आर. जी. वैष्णविज्म....... इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी १९६५, पृ० ११७

२. कादम्बरी ३, धवलभस्मललाटिकाभिः, अक्षमालिकापरिवर्तनप्रचलकरताभिः ।

३. इपि ऐ. २५ पृ० १८५ श्रीभोजनगरे श्रीसोमेश्वरदेवमठनिवासी परमपाशुपत आचार्यभट्टारकः श्रीभाववाल्मीकः ।

४. महाभारतस्य बम्बईसंस्करणस्य शान्तिपर्वणि, ३५८, ६४।

५. कलिकातासंस्करणे महाभारते शान्तिपर्वणि, २८५, १२४।

६. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे, पृ० ६०।

पारमैश्वर्यरहितत्वादस्मदादिवत्, मुक्तात्मानश्च परमेश्वरगुणसम्बन्धिनः पुरुषत्वे सति समस्तदुःखबीजविधुरत्वात् परमेश्वरवदित्याद्यनुमानं प्रमाणं प्रतिपाद्यमानाः केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थपञ्चार्थप्रपञ्चनपरं पाशुपतशास्त्रमाश्रयन्ते। तत्रेदमादिसूत्रम् "अथातः पशुपतेः पाशुपतयोर्विधिं व्याख्यास्यामः" इति [1]वैष्णवानामिव पाशुपता अपि सासांरिकक्लेशेभ्यो मुक्तिरेव मुक्तये यतन्तो केचन माहेश्वराः परमपुरुषार्थसाधनरूपस्य पञ्चार्थप्रपञ्चस्य पाशुपतशास्त्रस्याध्ययनमेवाङ्गीकुर्वन्ति।

एते द्वैतवादिनः सन्ति। एभिः पाशुपतसिद्धान्तेषु पञ्चपदार्थाः स्वीकृताः। ते च कार्य-कारण-योग-विधि-दुःखान्ताः। एतेषामेव पञ्चपदार्थानामनुसारेण आचार्यशङ्करः पाशुपत-सम्प्रदायस्य पञ्चसिद्धान्तान् समालोचितवान् ।

परवर्तिभाष्यकाराः स्वचिन्तनानुसारेण तान् पञ्चसिद्धान्तान् प्रख्यापितवन्तः। स्वातन्त्र्यशक्तिरहितं कार्यम् । सृष्टिसंहारयोः समस्तवस्तूनामनुग्रहप्रदायकं कारणम्[2]। आत्मनः परमात्मना सह सम्बद्ध एव योगः। धर्मार्थसाधको यो विधिः स विधिः, [3]व्रतो द्वारं चेति। मुक्तिर्द्विविधादुःखान्निवृत्तिः, पारमेश्वर्यप्राप्तिश्च। दुःखान्तस्य पाशुपतमते विशेषविश्लेषणं प्रतिभाति। दोषादिभिर्जीवा बद्धाः। दोषाः पञ्चविद्याः — १. मिथ्याज्ञानम्, २. अधर्मः, ३. शक्तिहेतुः, ४. आसक्तिसम्पर्कः, ५. च्युति-पशुत्वम्।

मुक्तिलाभायोक्तपञ्चविधदोषाणां विनाशार्थं संसाधनमपेक्षते। तथा सति चित्तदयार्द्रं भवति, दयार्द्रहृदये शिवानुग्रहो जायते, कृपया शिवस्यैव मुक्तिं लभन्ते जीवाः।

दुःखान्तं द्विविधम् — अनात्मकं सात्मकं चेति। अनात्मके दुःखान्ते दुःखानां निवृत्तिमात्रम् । सात्मके च ज्ञानकर्मणोः शक्तिः परमेश्वरप्राप्त्यर्थं चेष्टाप्रधानम् ।

ज्ञानशक्तेश्च पुनः पञ्चभेदाः — १. मननम्, २. श्रवणम्, ३. दर्शनम्, ४. विज्ञानम्, ५. सर्वज्ञत्वम् । तदवदेव क्रियाशक्तेरपि त्रिभेदाः स्वीकृताः —१. मनोजवित्वम् कामरूपित्वम् २. विकरणधर्मित्वम् । पाशुपतमते उक्तसिद्धान्तानामेव महत्त्वं वैशिष्ट्यं शैवसाधकाः स्वीकुर्वन्ति। माधवाचार्यस्तु सर्वदशनसङ्ग्रहे पाशुपतदर्शनमेव समष्टयितुं प्रयासरतो दृश्यते। आचार्यशङ्करस्तु पाशुपतमतस्य पञ्चतथ्यानामेव वैशिष्य्यं प्रदर्शितवान्[5]। पाशुपतमेव माहेश्वरमतं कथ्यते। रामानुजाचार्यैस्तु पञ्चत्रिंशत्सूत्रेषु वर्णिततथ्याः पशुपति-

---

१. हजारीप्रसादद्विवेदिकृतनाथसम्प्रदायक-नामके ग्रन्थे ।

२. पाशुपतसूत्रे १८ स्वतन्त्रः कर्ता।

३. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे, पृ० ६३।

४. सिंहराम सुरेशचन्द्र, हिन्दुधर्मेर अभिव्यक्ति, बंगजातीय शिक्षा परिषद्, कलकत्ता, पृ० ६६।

५. ब्रह्मसूत्रे, २.२. ३६।

सम्बन्धिन इत्युक्तम् । केशवकश्मीरिणः ते पाशुपतान्तर्गता एव मन्यते। श्रीकण्ठशिवाचार्यस्तु पाशुपतमागममतं मन्यते। ११०३ ईस्वीये सोमेश्वरसूरिणः पाशुपतमतं लकुलसिद्धान्तं मन्यन्ते।

पाशुपतमतानां पञ्चतथ्यानां विमर्शत्वाद् व्यवहाररूपत्वं सिद्धान्तशिखामणौ प्रभावः समुल्लसति। पाशुपतमतानुसारेण विशुद्धाद्वैतस्य शैवसिद्धान्तस्य पार्थक्यं नास्ति।

यतो हि व्यक्तसृष्टौ ब्रह्म एव हि केवलम् । विश्वं तु प्रपञ्चात्मकं रहितास्तित्वम् । शैवसिद्धन्तानुसारेण असंख्याता जीवाः शाश्वताः परमशिववाच्याश्च तदंशिनः। आत्मनो हि कर्मबन्धनं पापम् ।

परमशिवस्य दययैव कर्मबन्धनान्मुक्तिर्मिलति। पाशुपतमते महादेव एव ज्ञानोपदेष्टा, "ज्ञानमिच्छेत्तु शङ्करात्" इति हि स्मृतिः। नाद्यः[1], शास्त्रमन्तरेणापि प्राकृतजनवद् देवानामधिपो महादेव इति ज्ञानोत्पत्तिमात्रेण मोक्षसिद्धौ शास्त्राभ्यासवैफल्यप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयः, अनेकमलप्रचयोपचित्तानां पिशितलोचनानां पशूनां परमेश्वरसाक्षात्कारानुपपत्तेः। तृतीयेऽस्मन्मतायातः पाशुपतशास्त्रमन्तरेण यथावत्तत्वनिश्चयानुपपत्तेः। तदुक्तमाचार्यैः —

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा ।
पञ्चार्थादन्यतो नास्ति यथावत्तत्त्वनिश्चयः ।।

श्रीसिद्धान्तशिखामणौ वीरशैवानां दार्शनिकस्वरूपस्य विशेषविमर्शनं वर्तते। ग्रन्थेऽस्मिन् भगवत्पादरेणुकाचार्यैस्तु षट्स्थलानां सिद्धान्तः प्रतिपादितः।

तत्र सप्तपञ्चाशत्स्थलानां लिङ्गस्थलरूपेण निरूपणं कृतम् । तथा हि रेणुकाचार्यः—

अगस्त बहुधा ख्याताः सिद्धान्ता रुचिभेदतः।
भिन्नाचारसमायुक्ता भिन्नार्थप्रतिपादकाः ।।

साख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि न हन्तव्यानि युक्तिभिः[2] ।।

अनेन पद्यद्वयेन सर्वेषु दर्शनेषूदारदृष्टिः समारोपिता।

दक्षिणभारते वीरशैवानां बहुशो विकासो बभूव। एते वीरशैवाः लिङ्गायता जङ्गमाश्चेति नाम्ना सम्बोधिताः। तत्र लिङ्गायता वर्णाश्रमव्यवस्थायां नानुकूलाः करण्डे रजतसुवर्णनिर्मिते लिङ्गाधारपात्रे लिङ्गं धारयित्वा स्वग्रीवायां सर्वदैव स्थापयन्ति। वसवपुराणानुसारेण सम्प्रदायस्यास्य प्रवर्त्तनमल्लभप्रभुणा तच्छिष्येन वसवनामकेन ब्राह्मणेन कृतम् । यस्तु कलचुरी शासकस्य

१. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे, आनन्दाश्रम-संस्कृतग्रन्थावलिः, पृ०-६६।

२. सि० शि० ५.३-५, पृ० ५३-५४।

विजयराज्ञो मन्त्री आसीत् । तन्न समीचीनम् । वीरशैवानां कथनमस्ति यद् ईशानादिपञ्चमुखोद्भूता आचार्याश्चतुर्षु युगेष्वस्य धर्मस्य संरक्षणं शिक्षणं च कुर्वन्ति ।

वीरशैवसम्प्रदायेषु कर्मणों वैशिष्ट्यं भाति । इदं कर्म निष्कामकर्मैव, यस्मिन् प्रतिफलस्यापेक्षा न स्यात् । शिव एव परमतत्त्वं कथ्यते। स्थलरूपेण शिवो व्यवह्रियते। अङ्गस्थलं लिङ्गस्थलं चेति द्विविधं स्थलम् ।

लिङ्गस्थलमुपास्यं शिवरूपं च। अङ्गस्थलं तु उपासको जीवश्च। अस्मिन् मते लिङ्गं त्रिविधम् — भावलिङ्गं प्राणलिङ्गमिष्टलिङ्गं चेति। अङ्गस्थलस्य व्यवहारो जीवानां कृते भवति। तदपि त्रिधा, योगाङ्ग-त्यागाङ्ग-भोगाङ्गभेदात् ।

लिङ्गायतानां क्रमशः चतस्रः श्रेण्यः सन्ति। १. जङ्गमः, २. शीलवन्तः ३. वणिकः ४. पञ्चमशालीति नामतः। एकस्मिन् पक्षे सिद्धान्तशिक्षामणिः पाशुपतदर्शनस्य मूलसिद्धान्तानां व्यावहारिकतामुपरि स्थापयति, अपरस्मिन् पक्षे वीरशैवदर्शनस्य सिद्धान्तान् शिवभक्तेभ्यः प्रयच्छति। आगमोक्तमूलचिन्तनमपि स्वीक्रियते।

सिद्धान्तशिखामणौ यथा भगवत्पादरेणुकाचार्यः —

शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताश्च शिवोदितम् ।
सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत् सदा ।।

वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्यः शिवागमः ।
वेदबाह्यविरोधित्वाद् वेदसम्मत उच्यते ।।

वेद-सिद्धान्तयोरैक्यमेकार्थप्रतिपादनात् ।
प्रामाण्यं सदृशं ज्ञेयं पण्डितैरेतयोः सदा ।।

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम्[१] ।।

शैवदर्शनमेव शैवतन्त्रमिति नाम्ना कथ्यते। वेदविहितधर्मस्य मान्यतायाः प्रचारे प्रसारे चास्य महत्त्वं विपुलम् । वीरशैवमतमपि तदेव कुरुते। वीरशैवमते वैष्णवानां गाणपत्यानां शाक्तानामपि कापालिकानां मतं सङ्गृहीतम् । दार्शनिकवीरशैवशब्दार्थनिर्वचनम् —

वीशब्देनोच्चते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ।।

१. सिद्धान्तशिखामणौ, ५।८, १२-१४।

विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद् रमणं यतः ।
तस्मादेते महाभागा वीरशैवा इति स्मृताः[१] ।।

अत्र दासगुप्तेनाक्षेपः कृतः। आक्षेपास्यायं भावः — सिद्धान्तशिखामणौ वीरशब्दस्य व्युत्पत्तिरतीव विचित्रा वर्तते। विद्यायां रमत इति व्युत्पत्त्या विर इत्येव स्यात्, न तु वीर इति। तस्माद् विद्याशब्दस्य वि कथं वी अभूत्। अपरं च शिवजीवैक्यबोधिकायां विद्यायां रमणं तु वेदान्तिभिस्तथा द्वैतवादिभिः कैश्चिदागमसाम्प्रादायिकैः शैवैरप्यङ्गीक्रियते। तस्माद् विद्यायां रमत इति व्युत्पतिसिद्धेन "वीर" इति विशेषणेन अद्वैतवेदान्तवादिषु भवितुमर्हत्वात् ।

अत्रेदं समाधानम् — सिद्धान्तशिखामणौ "वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका" इति विद्यावाचकः शब्दो वी इत्येवोक्तः, न तु वि-शब्दः। तस्माद् ह्रस्वो विशब्दः दीर्घोऽभूदिति शङ्काया अवसर एव नास्ति।

हिरेमठ सिद्धान्तशिखामणिप्रयुक्तो वी इति शब्दो विद्याशिवजीवानां बोधक इति कथयति। धार्मिकदृष्ट्यापि वीरशैवमते गुरुदीक्षेष्टलिङ्गधारणयोः महत्त्वं दर्शितम्। इष्टलिङ्गं प्राणसदृशं भणितम् —

प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव ।
कदाचित् कुत्रचिद् वापि न वियोजय देहतः[२] ।।

विशेषभक्त्युत्साहैः समायोजितं तल्लिङ्गम्। वीरशैवमतं तु इष्टलिङ्गोपासनाया दर्शनं कथ्यते। अत्र च विशेषाद्वैतशक्तिविशिष्टाद्वैतशिवाद्वैतानां च रूपे शिवोपासनाया दार्शनिका दृष्टिरस्ति।

अष्टमशताब्दौ श्रीशिवयोगिशिवाचार्यः शैवागमस्य प्रख्यापितुं सिद्धान्तशिखामणि-नामानं ग्रन्थं रचयामास। अयं ग्रन्थः पद्यात्मक एव। वीरशैवानां कृते प्रसिद्धो ग्रन्थः। एवमेव शैवागमस्य सारभूतं ग्रन्थं कथयन्ति शैवाः।

शिवयोगिशिवाचार्य आसीत् कर्णाटकनिवासी[३]। भारतीयदार्शनिकैरीश्वरस्य सर्वकर्तृत्वं स्वीक्रियते, ईश्वर एव कर्तुमकर्तुं सर्वं कर्तुं समर्थः। जीवत्वं च सुखदुःखफलभोक्त्वम्। अस्य वेदस्यैव प्रामाण्यम्। वैशेषिकदर्शनमपि परिदृश्यभूतस्यास्य विश्वस्य ईश्वरस्यैव कर्तृत्वं स्वीकरोति।

१. सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा, जङ्गमवाडी मठ, वाराणसी, पृ० ११।
२. सि० शि०, प्रथमपरिच्छेदे, पृ० १३।
३. सि० शि०, प्रथमप्रस्तावनायां काशीग्रन्थमाला, मैसूरप्रकाशने १९७१।

अद्वैतवादे आभासप्रतिबिम्बावच्छेदकवादैश्च जीवेश्वरयोर्व्याख्या दृश्यते। पाशुपतमतस्य पञ्चकारणेषु भोग-विधि-दुःखान्तानां प्रभावः स्पष्टरूपेण परिलक्ष्यते। तेषु च विधिरेव लिङ्गोपासनादिविभिन्नप्रकारेषु वर्त्तते।

दुःखान्तत्वं मोक्षमार्गस्य बोधकत्वम्, दुःखनिवृत्तिरेव दुखान्तम्[१]। दुःखान्तता मोक्षमार्गस्य बोधिका। आत्माश्रितो दुःखभावो मलः। स मिथ्याज्ञानादिभेदात् पञ्चविधः। तदाह हरदत्ताचार्यः —

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च शक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा ।
पशुत्वमूलं पञ्चैते तन्त्रे हेया विविक्तितः[२] ।।

ज्ञानेन सर्वमिदं प्रणस्यते ।

सिद्धान्तशिखामणौ —

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम् ।
निरस्येत गुरोर्बोधाद् ज्ञानशक्तिः प्रकाशते[३] ।।

अत्र बन्धनमेव मलम् ।

मोक्षार्थं तु शक्तिपातस्य सिद्धगुरोर्दीक्षा हि प्रमाणम् । अत्र च ज्ञानकर्मणोः समन्वयात्मिका चर्चा । यथा — "ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः"[४]।

पाशुपतमतस्य परमशिव एव सिद्धान्तशिखामणेः शिवः। उभाभ्यामपि सर्वदुःख-निवृत्तिपूर्वकपरमानन्दप्राप्तिरेव लक्ष्यं स्वीकृतम् । उभयोरद्वैतदर्शनस्य चिन्तनं स्पष्टं परिलक्ष्यते। शिवयोगादेव जीवः (मानवः) शिवत्वमेति। तद्यथा —

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम् ।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति सर्वदा ।।

पाशुपतमते जीवशिवयोरिदमेव रहस्यम् । मतेऽस्मिन् शैवसाधनायाः कारणभूतवर्णनं वर्त्तते। किञ्च, सिद्धान्तशिखामणौ अष्टावरणविमर्शः। तत्र—१. गुरुः, २. लिङ्गम्, ३. जङ्गमः, ४. पादोदकम्, ५. प्रसादः, ६.भस्म, ७. रुद्राक्षः, ८. मन्त्र इतीमान्यष्टौ वीरशैवदर्शनेऽष्टावरणानीत्युच्यन्ते ।

---

१. सर्वदर्शनसङ्ग्रहे, पृ० ६४।

२. क. ग. माहेश्वराः।

३. सि. शि. १८/१६, पृ० १३३।

४. सि. शि. १६/११, पृ० ७४।

अत्र च लिङ्गधारणस्य विशेषवैशिष्ट्यं प्रतिपादितम् । पाशुपतस्य विस्तारविधिः लिङ्गायतानां प्राणलिङ्ग-भावलिङ्ग-स्वयजङ्गम-चरजङ्गम-परजङ्गम-पादोदक-प्रसाद-विभूति-रुद्राक्षादिषु व्याख्यातः। पञ्चाचारसमीक्षायाम् —

लिङ्गाचारः सदाचारः शिवाचारस्तथैव च ।
भृत्याचारो गणाचारः पञ्चाचाराः प्रकीर्तिताः[१] ।। इति।

सिद्धान्तशिखामणौ पाशुपतमतस्य प्रभावोऽस्ति। पाशुपतानां पञ्चपदार्थाः वीरशैवादिभिः स्वरीत्या पञ्चाचारादिषु निर्दिष्टाः। इत्यलं विस्तरेण।



---

२८. चन्द्रागमे, क्रियापादे ९.४

सिद्धान्तशिखामणि में सामाजिक दृष्टिकोण

– श्री षणमुखय्य अक्कूरमठ –

सिद्धान्तशिखामणि के तत्त्व-आशय-आकर

सिद्धान्तशिखामणि वीरशैव तत्त्व को पूर्ण रूप से प्रतिपादन करने का एक सिद्धान्त ग्रन्थ है। यह आगमों का सार है। भगवत्पाद रेणुकाचार्य जी द्वारा अगस्त्य महामुनि को दिए गये उपदेशभूत वीरशैव मत का तत्त्व है। इस तत्त्व के आधार पर शिवयोगी शिवाचार्य जी ने सिद्धान्तशिखामणि की रचना की है। इस ग्रन्थ की रचना का काल लगभग दसवीं शतमान माना जाता है। इसने सिद्धान्तों की 'सीमन्तमणि' नामक प्रसिद्धि पाई है। वीरशैव सिद्धान्त ही इस ग्रन्थ का प्रधान विषय है।

सिद्धान्तशिखामणि मे २१ परिच्छेद और १३३० श्लोक हैं। इस ग्रन्थ के १-४ और २१ परिच्छेदों में श्री रेणुकाचार्य जी का ऐतिहासिक विषय संकेतित है। इस ग्रन्थ में पाँच से बीस तक सोलह परिच्छेदों में षट्स्थल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस सोलह परिच्छेदों में एकोत्तर स्थलों का विवरण है। 'शिवजीवैक्य' रूप, अथवा लिंगांग सामरस्य के रहस्य का बोध ही इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है।

बड़े-बड़े विद्वानों ने इस ग्रन्थ पर भाष्य लिखे हैं और विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी भाषा में भी इसका अनुवाद किया गया है। ये सब इस ग्रन्थ के महत्त्व को प्रस्तुत करते हैं।

सिद्धान्तशिखामणि के बारे में शिवयोगी शिवाचार्य जी कहते हैं —

श्रीवेदागमवीरशैवसरणिं श्रीषट्स्थलोद्यन्मणिं
श्रीजीवेश्वरयोगपद्मतरणिं श्रीगोप्यचिन्तामणिम् ।

इसका मतलब यह है कि वेदागम प्रतिपादित वीरशैव पद्धति है। षट्स्थल तत्त्व का रत्न है। शिवजीवैक्य बोध देने वाला सूरज है। इतना ही नहीं, शिवाद्वैत बल को अभिव्यक्त करने की चिन्तामणि है। इस प्रकार शिवयोगी शिवाचार्य जी ने ग्रन्थ के महत्त्व को बहुत सुन्दर रूप से वर्णन किया है।

मैं समझता हूँ कि शिवयोगी शिवाचार्य जैसे मूर्धन्य विद्वान् द्वारा इस ग्रन्थ की रचना करने के पहले वीरशैव सिद्धान्त एक अवस्थित रूप में शायद था।

सिद्धान्तशिखामणि में वीरशैव धर्म के सम्पूर्ण लक्षणों को हम देख सकते हैं। इस ग्रन्थ में शिवाद्वैत सिद्धान्त, षट्स्थल सिद्धान्त, नीतिशास्त्र, अतिवर्णाश्रम समाज रचना और शिवागम संस्कृति — इन सब विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में है।

इसके लिए यह ग्रन्थ 'वीरशैवज्ञान कोश' समझा जाता है। (Encyclopedia)

व्यक्ति, समाज और धर्म

सिद्धान्तशिखामणि सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ होने पर भी समाज-धार्मिक ग्रन्थ है। (Socio-Religious Book), इसमें सामाजिक दृष्टिकोण भी है। आदमी अपने समाज तथा अन्य समाजों के साथ किन किन तत्त्वों के आधार पर अपना जीवन बिताना और किन किन क्रियाओं से दूसरों को मदद करना, लोक व्यवहार के आचरण कैसे? समाज का स्वरूप कैसे होना? इन सब विषयों को समझाने के लिए समाज शास्त्र के सूत्र इस ग्रन्थ में मिलते जुलते हैं। इस ग्रन्थ में समाज शास्त्र के नियमों को **'आचार'** शब्द की परिभाषा में निबद्ध किया गया है। इन आचारों का समाज शास्त्र की परिभाषा में सामाजिक नियम कह सकते हैं। ये आचार व्यक्ति और समाज दोनों से अन्वित होते हैं।

व्यक्ति, समाज और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

समाज शास्त्रज्ञ हरबर्ट स्पेन्सर का अभिप्राय इस प्रकार है —

"It is fact that man can not live apart from society, today the goal of religion is not only liberation but it is more concerned with social welfare, social relations and national integration."

व्यक्ति समाज से अलग नहीं है। धर्म का लक्ष्य समाज-कल्याण है। इससे समाज का सम्बन्ध और राष्ट्रीय भावैक्यता होती है।

मॅयाक्स वेबर ने कहा है, कि —

"Both sociology and religion are value oriented. A society can become more civilized and rational if it is based on religious and moral values."

मतलब कि धर्म और समाज दोनों मौलिक हैं। धर्म और नीति का अस्थिवार में खड़ा हुआ समाज सुसंस्कृत (Cultured) समाज कहलाता है।

जिस धर्म में सामाजिक दृष्टिकोण नहीं है। वह धर्म परिपूर्ण धर्म नहीं है। यह ओडिया थॉमस की बात है, सुनिये —

"No explanation of Religion can be complete without considering its sociological aspects. Religion concerned as it is with shared beliefs and

practical religion is one of the important institutional structures making of the total social systems"(*Philosophy of Relation*).

A. R. Mahapatra

उपर्युक्त बातों से स्पृष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र और धर्मशास्त्र अभिन्न हैं।

समाज तत्त्व क्या है?

समाज पद का अर्थ समाज शास्त्रज्ञ **ग्रीन बर्ग** बताता है कि निश्चित और निगदित बन्धुत्व के आधार पर एकत्रित रहने वाला व्यक्तियों का समूह समाज कहलाता है। व्यक्ति परावलम्बी है। उसे अपने परिवार के साथ रहना पड़ता है और दूसरों के साथ सह जीवन करने की आवश्यकता है। समाज में धार्मिक नियमों का पालन करना पड़ता है। सामाजिक बन्धन तथा सम्बन्ध में हमारी सद्भावना रहती है। पारस्परिक आदान-प्रदान रहता है। एकत्रित होने के लिए समभाव-सहकार के गुण आवश्यक हैं। समाज को अँग्रेजी में (Society) कहते हैं। इसका मतलब 'संघ' स्नेह भी है।

सिद्धान्तशिखामणि में समानता, सेवाभाव, सामाजिक कुरीतियों का निराकरण, असंग्रह प्रवृत्ति, धार्मिक-स्वातन्त्र्य-जाति भेद, लिंग भेद और वर्ग-वर्ण रहित समाज के तत्त्वों का उल्लेख हम देख सकते हैं। विशेषत: भक्तिमार्ग क्रियाचार स्थल यहाँ का उल्लेखनीय है।

अब मैं उपर्युक्त विषयों पर ग्रन्थ के आधार पर सम्यक् विवरण आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ।

अतिवर्णाश्रम समाज

विभिन्न जाति के लोग समय-समय पर वीरशैव समाज में समाविष्ट हुए हैं। हर एक व्यक्ति को वीरशैव मत में दीक्षित होने के बाद अपने पूर्व संप्रदायों को छोड़ना पड़ता है। जिस व्यक्ति का शिवसंस्कार होता है, वह परिशुद्ध माना जाता है। उसको 'अप्राकृत' भी कहते हैं, भक्त भी कहते हैं। जो व्यक्ति दीक्षित नहीं होता उसे अशुद्ध, प्राकृत, तथा भवि— इस प्रकार अलग-अलग नामों से पुकारते हैं। अर्थात् जिस व्यक्ति का कहना और करना एक है, वही भक्त है। जिस व्यक्ति में करना और कहना अलग है, उसे 'भवि' कहते हैं। भारतीय परम्परा में वर्णाश्रम धर्म की अवस्था दो प्रकार की मानी जाती है। एक तो ब्रह्मोक्त है उसे वैदिक कहते हैं। दूसरी शिवोक्त है, वह आगमिक मानी जाती है। वैदिक धर्म, वर्णाश्रम समाज को मानता है। किन्तु आगम धर्म—अतिवर्णाश्रम समाज को मानता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लिंग दीक्षा संस्कार होने वाला व्यक्ति, कोई भी हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य, शूद्र भी हो सब समान हैं। यह आगम संमत तत्त्व है। शिवागम का सार सर्वस्व सिद्धान्तशिखामणि इस तत्त्व का प्रतिपादन करता है —

वर्णाश्रमादिधर्माणां व्यवस्था हि द्विधा मता ।
एका शिवेन निर्दिष्टा ब्रह्मणा कथिताऽपरा ।।
· (पृ.१०, श्लो० ३५)

वीरशैव मताचार्य श्री रेणुकाचार्य जी ने सिद्धान्तशिखामणि में बताया है कि शिवागम संमत, अतिवर्णाश्रम धर्म ही, आचरण के लिए सुकर है। अतिवर्णाश्रम नामक समाज में जाति-मत-पंथ का, स्त्री और पुरुष का भेदभाव नहीं रहता। यह सर्वसमान समाज माना जाता है। ब्राह्मण से अछूत तक सब लिंगदीक्षा लिये रहते हैं, अत: ये सब समान होते हैं। यही सिद्धान्तशिखामणि का सामाजिक तत्त्व है।

सिद्धान्तशिखामणि आचार विचार के समन्वय, भक्ति-ज्ञान-कर्म के समन्वय, भेदा-भेद के समन्वय और व्यक्ति समाज के समन्वय तत्त्व का प्रतिपादन करता है। इतना ही नहीं, स्थावर पूजा, वर्णश्रम पद्धति, जातिपद्धति सूतकाचरण, देवालय निर्माण, अमीर लोगों की स्तुति, इन सबका निराकरण है। मानव समाज को, भवि और भक्त के नाम पर, विभक्त किया है। भवि, लोगों के बारे में अगौरव की भावना, भक्त लोगों के बारे में बड़ा आदर भाव है। समाज संघटना और विकास की सूचना है।

सिद्धान्तशिखामणि में सर्वाचार तत्त्व महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भिन्न भिन्न वर्णों के लोग वीरशैव धर्म में समय-समय पर स्वयं प्रेरणा से दीक्षित हो गये हैं। इन सब लोगों में समानता की भावना वीरशैव धर्म में निष्ठा लाने के लिए, जीवन विधानों का नियंत्रण करके वीरशैव सुपथ पर चलाने के लिए दिग्दर्शन करने वाला सूत्र हैं।

हमारे देश में जाति भेद का अंश धर्म का एक भाग है। यह बात सब धर्मों से अन्वित होती है। मुझे ऐसा लगता है कि शायद विना जाति के कोई धर्म नहीं है। मगर जाति भेदों का निराकरण करने का उद्देश्य सब धर्मों का है। सिद्धान्तशिखामणि जाति भेद का खंडन करता है।

धर्म का मतलब क्या है? जीव, देव और जगत् के बारे में एक प्रज्ञा, हमारे आस-पास या परिसर अवस्था के बारे में एक दृष्टिकोण और जीवन लक्ष्य के बारे में एक व्याख्या ही सरल अर्थ में धर्म है।

सिद्धान्तशिखामणि में आचार (नीति) की परिकल्पना

धर्म के विवेचन की पूर्णता के लिये तीन अंश प्रधान हैं। वे हैं — तात्त्विक विवेचन, धार्मिक विवेचन और नैतिक नियम। इन तीनों का समन्वय हम सिद्धान्तशिखामणि में देख सकते हैं। धार्मिक आचरण में नीति का प्रमुख स्थान है। आचार का मतलब है नैतिक जीवन विधान (Moral life)। व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था में नीति का स्थान महत्त्वपूर्ण है। मानव समाज के साथ नीति नियम रहता है। हर एक समाज अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार

या देश-काल के अनुसार, नीति का निर्माण करता है। नीति और धर्म अलग नहीं है। वे परस्पर पूरक हैं।

"Religion that did not concern itself with right and wrong wored be no religion at all"

George Albert
(The religion of a mature mind)

नीति नियम बीज है, मगर धर्म बीज का फल है। इस विचार को — वीरशैव मताचार्यों ने 'आचार' कहा है। आचार शब्द का सिद्धान्तशिखामणि में व्यापक अर्थ में प्रयोग हुआ है। नैतिक नियम तथा धार्मिक साधनाओं की पूर्ण दृष्टि यहाँ हम देखते हैं। आचार शब्द का पर्याय पद **'क्रिया'** के रूप में प्रयोग में है।

अष्टावरण ही अंग, पंचाचार या सर्वाचार ही प्राण और षट्स्थल ही आत्मा के रूप में मान्य है। इन के द्वारा **लिंगाङ्गसामरस्य** अथवा **मुक्ति** पाने के विधान ही सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ का मूल तत्त्व है। **अंगगुण लिंगगुण** होने का विधान ही आचार है। इस विशाल अर्थ में षट्स्थल, पंचाचार और अष्टावरण ये सर्वाचार की संपत्ति हैं। आचार सिर्फ शुष्क नहीं है, यांत्रिक नहीं है, मगर उसमें विचार है। आचार समाज में व्यक्ति का जीवन विधान है। विचार के बिना आचार नहीं है। वह ज्ञान-क्रिया का समन्वय है। **विचार ज्ञान है, आचार क्रिया है**। धार्मिक साधना में आचार सोपान होता है।

सामाजिक तत्त्व

वीरशैव धर्म के समानतत्त्व को आचार कहते हैं। वीरशैव का परम लक्ष्य, **लिंगाङ्ग सामरस्य** है। इष्टलिंग परम साधना है। इष्टलिंग दैव संकेत है। इतना ही नहीं, यह आत्मा का स्वस्वरूप है, परमात्मा का प्रतीक है। हर एक व्यक्ति इष्टलिंग धारण करने के योग्य है। दीक्षा के द्वारा, व्यक्ति पुरुष हो या औरत हो, इष्टलिंग धारण के साथ समाज में समानता लाने का प्रयत्न किया करता है। 'इष्टलिंग' जाति-मत-पथ-लिंग भेद और वर्ग-वर्ण भेदों का निवारण करता है। सबको सामाजिक स्वातन्त्र्य और धार्मिक समानता भी लाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इष्टलिंग सामाजिक और धार्मिक समानता का संकेत माना जाता है।

साधक अपने इष्टलिंग की उपासना के द्वारा **शिवाचार** के आचरण में सर्वत्र शिवस्वरूप देखता है। वह समाज में ऊँच-नीच, भेद भाव नहीं मानता। सामाजिक समानता को वह क्रिया में लाता है। उसका कहना और करना दोनों एकीकृत है। आचारशील शिवयोगी (साधक) का सिद्धान्तशिखामणि अर्थपूर्ण रूप से वर्णन करता है। 'सर्वं लिङ्गमयं जगत्' यह वाक्य केवल बौद्धिक नहीं, अपि तु अनुभवपूर्ण है। तत्त्वतः हर व्यक्ति का आचार में प्रयोग होना चाहिए। बिना आचार के धार्मिक तत्त्व सार्थक नही होता है। धार्मिक आचार

समाज कल्याण के लिए साधक बन जाता है। सिद्धान्तशिखामणि में **सर्वाचारों** में—**'लिंगा चार'**, व्यक्तियों में सद्गुण विकास का कारण होता है। **'शिवाचार'** हर एक व्यक्ति में समानता की भावना लाने में कारण होता है। **'भृत्याचार'** हर एक व्यक्ति में अहंकार के निरसन करने का कारण होता है और समाज सेवा में मग्न होने का संस्कार देता है।

समाज व्यक्तियों से निर्मित हुआ है। समाज व्यक्ति विकास में सहायक होता है। समाज और व्यक्ति में सर्वदा सामरस्य होना आवश्यक है। जब व्यक्ति और समाज में **समरस** भाव का अभाव होता है, तब दोनों में विरसता आ जाती है। इसको विपरीत व्यक्ति आचारशील बनकर समाज को पूर्णदृष्टि से देखता है, तो समाज में फिर **समरस** की भावना पैदा होती है।

सिद्धान्तशिखामणि के आधार पर जब साधक षट्स्थल साधनावस्था में रहता है, तब पहले स्थान को **'भक्तस्थल'** कहते हैं। इस स्थल में साधक इष्टलिंग के ऊपर श्रद्धा रखकर आगे चलता है। दूसरा स्थल **महेशस्थल** कहलाता है। इस स्थल में साधक की भावना दृढ निष्ठा के साथ चलती है। आगे **प्रसादी स्थल** आता है। इस स्थल में साधक की साधना तीव्र चलती है और जाग्रत रहती है। यह दैवी शक्ति के खोजने की अवस्था है। दैव के साथ संवेदनात्मक सम्बन्ध होता है। आगे चलने से वह प्राणलिंगी स्थल पर पहुँचता है। इस स्थल में इष्टलिंग या दैव को अपने प्राण स्वरूप देखता है। इस अवस्था में लिंग ही प्राण है, प्राण ही लिंग है, यह अविनाभाव सम्बन्ध होता है। प्राणलिंगी के बाद शरणस्थल आता है। इस समय साधक देव को पति बनाकर (लिंगपति, शरणसती) अपने को सती मानकर आराधना करता है। यह **सती-पति न्याय** अथवा **(शरणसति लिंगपति)** भक्ति माना जाता है। अन्त में आत्मा परमात्मा में या अंग लिंग में एकीभाव में समरस होता है। इसको **लिंगाङ्ग-सामरस्य** कहते हैं। यह मन का सर्वशक्ति का एकीकरण, दैवसमर्पण भाव होता है। ऐसे उदात्त आचार विचारों के साधन का बोधन हम सिद्धान्तशिखामणि में देखते हैं।

पहले बताया गया है कि सिद्धान्तशिखामणि आगम-तत्त्वों का प्रतिपादन करता है। शिवयोगी शिवाचार्य जी **''शैवागमेषु सर्वेषु पुराणेष्वखिलेषु च''**, **''वीरशैवमहातन्त्र में एकोत्तरशतस्थलम्''** इत्यादि वाक्यों के अनुसार **कामिकादि वातुल पर्यन्त** अट्ठाईस आगमों को और समस्त पुराणों का अनुशीलन करके वेदपथ के उत्तमांशों का ग्रहण करने का धर्म प्रतिपादन करते हैं। प्रधानतः शिवागमों के रहस्य का प्रतिपादन करते हैं यह ग्रन्थ वीरशैवमहातन्त्र के नाम पर भी प्रसिद्ध है। यहाँ महातन्त्र का मतलब है—महाज्ञान या शिवज्ञान।

सिद्धान्तशिखामणि वीरशैवों के लिए विशिष्ट ग्रन्थ माना जाता है। शिवप्रणीत शैव-शास्त्र 'सिद्धान्त' भी कहलाते हैं। सिद्धान्त वेद के समान हैं। इस महातन्त्र या सिद्धान्त के उत्तर भाग में वीरशैवमत है, यह सिद्धान्तशिखामणि का अभिप्राय है। (पृ० ५, श्लो-१४) **शिवजीवैक्य** का बोध या **लिंगाङ्ग सामरस्य** के रहस्य का बोध कराने वाला मत वीरशैव है। यह नाम अन्वर्थक है।

सिद्धान्त शिखामणि में सामाजिक मुख्य लक्षण (Social Values)

लिंग आत्मा का प्रतीक है या संकेत है। इसलिए लिंग को प्राण के समान रक्षण करना चाहिए। देह से कभी भी अलग नहीं करना चाहिए। प्रमादवश जमीन पर गिर पड़े तो मोक्ष संपादन के लिए अपने प्राण भी छोड़ देना चाहिए। (पृ-६-२५-२६) इसका मतलब **एकदेवोपासन में निष्ठा** है। दैवीश्रद्धा की आवश्यकता के बारे में यह बात सूक्त होती है। अछूत हो, ब्राह्मण हो, भक्तिमान् व्यक्ति शिव को प्रिय होता है। भक्तिहीन व्यक्ति, ब्राह्मण होने पर भी, वह शिव को प्रिय नहीं होता। (पृ.१-श्लो-५) उपर्युक्त सभी बातों का तात्पर्य यही है कि समाज में हर एक व्यक्ति के लिए दैवभक्ति आवश्यक है। दैवभक्त की कोई जाति नहीं होती —

ब्राह्मणो क्षत्रियो वापि वैश्यो वा शूद्र एव वा ।
अन्त्यजो वा शिवे भक्तः शिववन्मान्य एव सः ।।

शिवभक्तिसमावेशे क्व जातिपरिकल्पना ।
इन्धनेष्वग्निदग्धेषु को वा भेदः प्रकीर्त्यते ।।
(पृ० ११)

यह सिद्धान्तशिखामणि का श्लोक हैं। इसका तात्पर्य है कि—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी हो, मगर वह शिव भक्त हो गया तो, उसकी जाति, नहीं पूछनी चाहिए, क्योंकि अग्नि में विभिन्न जाति की लकड़ियाँ भस्म होने के बाद, लकड़ियों में जाति की पहचान हम नहीं कर सकते। इस प्रकार दीक्षा संपन्न वीरशैवों में — जाति भेद करना उचित नहीं है। यही सिद्धान्तशिखामणि का—सामाजिक दृष्टिकोण है। सूक्ष्मागम का तत्त्व भी यही है —

''शिवसंस्कारसम्पन्ने जातिभेदो न विद्यते''

वीरशैव भक्तों के घर में ही भोजन करना चाहिए। दूसरों के घर में **(भवि लोगों के घर में)** भोजन नहीं करना चाहिए। (पृ-१-२१) भक्त या वीरशैव को शिव के बिना अन्य देवों की पूजा नहीं करना चाहिए। और स्तुति भी नहीं करनी चाहिए। प्रसाद भी नहीं लेना चाहिए (पृ-१-३०)। वीरशैव को देवालयों में स्थावरलिंगों का प्रसाद नहीं स्वीकार करना चाहिए। अगर स्थावरलिंगों को आघात हुआ तो, अपना प्राण देकर भी रक्षण करना चाहिए। जिस घर में शिव की निन्दा, वीरशैवाचार को अपचार होता हो, उस घर को छोड़ देना चाहिए (पृ-१ श्लो. ३६)।

वीरशैव होने के बाद पूर्वाश्रम की पद्धति संप्रदाय को छोड़ना चाहिए। अगर ऐसा नही करते हैं, तो लिंग पूजा निष्फल होती है (पृ-१-३१) वीरशैव को नरस्तुति या अमीर लोगों की स्तुति, या राजा-महाराजों की स्तुति नहीं करनी चाहिए। अगर करता है, तो वह दुराचारी

कुकवि बन जाता है। वीरशैवों को जनन-मरण आदि सूतक नहीं लगता। वीरशैव स्त्रियों के लिए ऋतुकाल और प्रसव काल में भी सूतक (Pollution) नही लगता (९।४४-४५)।

हर एक वीरशैव को शैवक्षेत्रों की यात्रा करनी चाहिए और शैव यात्रोत्सवों में भाग लेना चाहिए। यात्रा में अन्नदान-जलदान करना चाहिए, क्योंकि अन्नदान और जलदान के समान दूसरा दान नहीं है। अहिंसा के समान तप नहीं है (९।४६-४८)। वीरशैव को स्वधर्मी लोगों में ही रोटी-बेटी का सम्बन्ध करना चाहिए। (९।४९) वीरशैवों की गुरु-लिंग-जंगम यह त्रिविध संपत्ति मानी जाती है। वे शिवस्वरूप हैं। उनमें भक्ति रखनी चाहिए (१।५९)।

सिद्धान्तशिखामणि में **भवि- भक्त** की कल्पना गुणात्मक है। आचारशील को 'भक्त' कहते हैं। अनाचारी को 'भवि' कहते हैं। विशाल अर्थ में देवभक्त **भक्त** है। देवभक्तिविहीन **भवि** है। इस प्रकार भवि-भक्त शब्दों का विशाल अर्थ में—ग्रहण करने की आवश्यकता है।

सिद्धान्तशिखामणि सामाजिक मूल्य की दृष्टि से दान की परिकल्पना भी वैशिष्ट्यपूर्ण है। समाज में दान की कल्पना बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारतीय संस्कृति में इसका व्यापक अर्थ है। समाज में (haves and have nots) है। समाज में अमीर लोगों के द्वारा गरीबों की मदद करने के विधान को हम दान कहते हैं।

''दानं समविभागयोः'' यह उक्ति प्रसिद्ध है। विशाल अर्थ में समाज में समान वितरण ही 'दान' माना जाता है। जागतिक सभी धर्म दान को महत्त्व देते हैं। यह समाजिक मूल्य माना जाता है। सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार दान देने वाले और स्वीकार करने वाले में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। देनेवाला अहंकार रहित होकर, देयवस्तु को देवस्वरूप मानकर जो देता है, उसे **सहजदान** कहते हैं। इसको **'उत्तमोत्तम दान'** भी कहते हैं। वीरशैव समाज में गुरु-जंगमों को दान देना उचित माना गया है, क्योंकि इनके द्वारा **'दान'** समाज में उपयुक्त होता है। मनुष्य जन्म दुलर्भ है, इसको सार्थक बनाने का सन्देश देता है।

सिद्धान्तशिखामणि में हर एक व्यक्ति के लिए मानस लिंग पूजा करने का विधान है। (Psychological worship of God), इष्टलिंग के बिना — पूजा परिकर से **मानसिक पूजा** करने का सन्देश है। जैसे — क्षमा-अभिषेक है, विवेक वस्त्र है, सत्यवचन आभरण, वैराग्य पुष्प, एकाग्रता गन्ध, निरहंकार अक्षत, श्रद्धा धूप, ज्ञान दीप, आत्मसमर्पण नैवेद्य, मौन ही घंटा वाद्य, विषयसुखवर्जन ही ताम्बूल, ऐहिक सुख का निराकरण प्रदक्षिणा, इष्टलिंग में श्रद्धा नमस्कार है। इस प्रकार भाव शुद्धि के साथ लिंग पूजा करने का सिद्धान्तशिखामणि हमको सन्देश देता है।

समाज में हर एक व्यक्ति का **उत्तम चरित्र** ही अलंकार होता है। उस को समाज **इज्जत** देता है। चरित्रभ्रष्ट को समाज में गौरव नहीं मिलता। समाज में व्यक्ति को नीतिसूत्रों

के पालन करने की सूचना सिद्धान्तशिखामणि में मिलती है। वे धर्म के लक्षण भी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप, ध्यान — इन गुणों से व्यक्ति के जीवन का अन्तरंग परिशुद्ध होता है। समाज में संघर्ष भेदभाव के कारण होता है। समाज में समता भाव के रहने से संघर्ष नहीं होता। भेदभाव ही समाज में अनर्थ का मूल होता है (१८।४३)।

वीरशैव दीक्षा के बाद ब्राह्मण से अन्त्यज तक सब समान होते हैं। जाति रहित या ज्यात्यतीत (**सेक्यूलारिज्म**) की परिकल्पना है। सिद्धान्तशिखामणि में अन्य देव के बारे में भवि लोगों के बारे में असहन का भाव होने पर भी देवनिष्ठा समाज में निष्ठा के अर्थ में स्वीकार करना चाहिए। देश-काल के अनुसार — वीरशैव धर्म के अन्तर्गत **सामाजिक मूल्यों** का पहचान करना इस प्रबन्ध का उद्देश्य है। वीरशैव समाज में स्त्री-पुरुष समान हैं। जाति-पन्थ का भेदभाव नहीं है। अमीर और गरीब समान हैं।

सामाजिक दृष्टिकोण में वीरशैवमताचार्यों में और वैदिक मताचार्यों में मतभेद है। वैदिक मताचार्यों ने द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत तत्त्वों को उपदेश करते हुए वर्ण व्यवस्था को माना है। यह समाज की दुरवस्था है। भारतीय शास्त्र में दो प्रकार की चिन्तन प्रक्रिया है। जगत् का अस्तित्व मानने वाला एक क्रम है, निराकरण करने का दूसरा। सिद्धान्त-शिखामणि दुनिया का अस्तित्व मानता है । यहाँ ज्ञान और क्रिया अलग नहीं है। मगर दोनों परस्पर पूरक हैं।

अद्वैत के महान् आचार्य शंकराचार्य धर्मशास्त्रकार **मनु** के विचार को मानते हैं। ब्रह्म-सूत्र के द्वितीय अध्याय के पहले सूत्र की व्याख्या में कहा है—**'यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद्भेषजम्'** (जो कुछ मनु ने कहा है, वह सब औषध के समान है। वैदिक मताचार्यों की दृष्टि से समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार प्रकार के लोग हैं। वर्णाश्रम धर्म विद्यमान है। इनमें से ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। शूद्र लोग कनिष्ठ हैं। मनु महर्षि कहते हैं — **''न शूद्राय मतिं दद्यात्''** इस वाक्य को वैदिक आचार्य मानते हैं। वे तात्त्विक दृष्टि से **जीव ही ब्रह्म** है, कहते हैं। मगर सामाजिक सन्दर्भ में वर्णाश्रम धर्म का निष्ठुर प्रतिपादन करते हैं।

वीरशैवमताचार्यों ने अतिवर्णाश्रम समाज को हमारे सामने रखा है। **अतिवर्णाश्रम समाज** आगम सिद्धान्त पर आधारित है। आगमों में वैदिक वर्णाश्रम धर्म का खंडन है। तीन मत के आचार्यों की तात्त्विक दृष्टि में भेद होने पर भी (द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत) सामाजिक दृष्टि में एक होता है, यह विचित्र सी ही बात है। इनको (double intelligents) कहते हैं।

जाति पद्धति के बारे में **हटन** नामक समाजशास्त्रज्ञ कहता है कि **भारत में धार्मिक नियमों से जाति नियम अधिक कठिन होते हैं**। दूसरे समाजविज्ञानी ड्रम्ंड के अनुसार "जाति भावना समाज में एक मौलिक व्यवस्था है, वे जातिपद्धति को मानते है"।

"The caste system is above all a system of ideas and values"

एम. एन. श्रीनिवास नामक समाजशास्त्रज्ञ का कहना है कि — **जाति नियम ही धार्मिक नियम है।** (The rules of caste behaviour are rules of religion) हर एंक धर्म में अनेक जातियाँ रहती है। वे उद्योग मूल से आती है। भारत में बिना जाति के कोई धर्म नहीं है। एम. एन. श्रीनिवास आगे कहते है कि **जाति का नाश होने पर धर्म का भी नाश होता है।**

भारतीय सामाजिक इतिहास का वेद ही प्रधान आधार है। वेद की वर्ण व्यवस्था ने कालानन्तर में जाति का मार्ग दिखाया।

आगमाधारित सिद्धान्तशिखामणि में तात्त्विक दृष्टि सामाजिक दृष्टिकोण से अलग नहीं है, एक ही है। वह धर्म और जाति में भेद नहीं मानता।

श्रीरेणुकाचार्य जी सिर्फ सिद्धान्त प्रतिपादक नहीं है, किन्तु सामाजिक चिन्तक भी हैं। वे समाज दार्शनिक हैं। वीरशैव सिद्धान्त में सिद्धान्त के साथ-साथ सामाजिक दृष्टिकोण भी है, सामाजिक चिन्तन भी है।

मतधर्मों में समानता का मतलब **भावनात्मक** दृष्टि से होता है, सामाजिक दृष्टिकोण में नहीं। सिद्धान्तशिखामणि आध्यात्मिक समानता के साथ सामाजिक समानता का बोध कराता है। हर एक व्यक्ति अतीत शक्ति के साथ अनुसन्धान कर अपने सहजीवियों के साथ नैतिक नियमों के साथ अपना जीवन चलाता है—सिद्धान्तशिखामणि यह बोध देता है।

भारत में शैव, लोकायत, बौद्ध, जैन और वीरशैव लोग चतुर्वर्ण का खंडन करते हैं। गीता में अध्यात्मवाद का — समर्थन करने वाले श्रीकृष्ण 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' कहते हैं। अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले श्री शंकराचार्य जी—**''ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या''** तत्त्व का प्रतिपादन करते हुए सामाजिक क्षेत्र में चातुर्वर्ण्य का समर्थन करते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी आचार्य शंकराचार्यजी के बारे में कहते हैं —

Those powerful epoch makers Sankaracharya and others were the great caste makers. I cannot tell you all the wonderful things they fabricated and some of you may request what I have to say.

***The complete works* vol-3-296, Calcutta 1964**

आगम तत्त्व प्रतिपादक वीरशैवमताचार्यों के तत्त्व और आचारण दोनों भिन्न नहीं हैं। ज्ञान-क्रिया एक ही है। वे तत्त्व को सामाजिक जीवन के आचरण में लाने का सन्देश देते हैं। कहने और करने में भेदभाव नहीं मानते ।

हर एक धर्म में ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड विद्यमान हैं। ज्ञानकाण्ड में कोई समस्या नहीं है, कर्मकाण्ड में ही समस्या पैदा होती है।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुधा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ।।
(ऋ.सू.५।६०।५)

सब आदमी समान हैं, उनमें ज्येष्ठ-कनिष्ठ भाव नहीं है। पिता परमात्मा है, माता धरित्री है। भेद जनन में नहीं है, मगर देखने की दृष्टि में है। इस प्रकार वेद गुणात्मक तत्त्व का प्रतिपादन करता है।

पूर्वोक्त प्रकार से **वर्णाश्रम** धर्म भी दो प्रकार के हैं—एक शिव से निर्मित, अर्थात्—**आगमिक,** दूसरा ब्रह्म से निर्मित **वैदिक**। आगम की **अप्राकृत वर्णपद्धति** और वेद की **प्राकृत वर्णपद्धति,** दोनों में बहुत अन्तर है। इनका उद्‌गम का इतिहास भी अलग-अलग है।

प्राकृत वर्णाश्रम का उद्‌गम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है। विराट् पुरुष का वर्णन काव्यमयशैली में चित्रित किया गया है। पहले वेद में, वृत्ति में, ऊँच नीच का भेद भाव नहीं था। इसके लिए एक उदाहरण हम देखते हैं —

कारुरहं ततो भिषग् उपलक्षिणीनना ।
नानाधियो वसूयवो अनु गा इव तस्थिमे... ।।
(ऋ ९।११२।३)

इस मन्त्र का अर्थ है—ऋषि-कवि-गायक-वैद्य वृत्तिभेद होने पर भी एक गृह में परस्पर समन्वय भाव से रहते थे। वेदकाल में वर्ण गुण-कर्म के आधार पर थे। उपनिषत्-काल में वैसा ही था। आगे चलकर स्मृतियों के काल में उलटा हो गया। तब जन्म से वर्ण निर्णय हुआ।

भारत में तत्त्वज्ञानी अलग हैं, समाज शास्त्रज्ञ अलग हैं। तत्त्वज्ञानी के तात्त्विक मूल्यों का स्मृतिकार या समाज शास्त्रज्ञ निर्णय करते थे। इसका परिणाम उलटा हो गया। मतलब है कि तत्त्व और आचरण में बहुत अन्तर हुआ।

एक उदाहरण से इस विषय को स्पष्ट किया जा सकता है। सबकी आत्मा एक है। आत्मा परमात्मा का अंशरूप है। इस प्रकार तत्त्वज्ञानी कहते हैं। स्मृतिकारों ने कहा है कि—सब लोगों की आत्मा एक ही नहीं है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र — ये जन्म से ही श्रेष्ठ-कनिष्ठ होते हैं। ब्राह्मण की आत्मा श्रेष्ठ है, शूद्र का कनिष्ठ है।

इस प्रकार की दुरवस्था को देखकर स्वामी विवेकानन्दजी कहते हैं कि — वेद (श्रुति) स्वामी है, स्मृति सेवक है। स्वामी सेवक को आज्ञा देता है। यही लोक धर्म है। मगर स्मृति काल में सेवक (Servant) के स्वामी को आज्ञा देने का सम्प्रदाय प्रारम्भ हुआ, यही **अविवेक** है।

इस प्रकार **प्राकृत वर्णाश्रम** की पद्धति से भारतीय समाज में जाति पद्धति पैदा होकर, मनुष्य मनुष्यों में, नीचोच्च की भावना से समाज विभक्त हो गया है।

इस प्रक़ार की दुरवस्था, **अप्राकृत वीरशैवों** को नहीं भाई, क्योंकि वीरशैव आचार्य तत्वज्ञानी के साथ साथ समाज-विज्ञानी भी थे। इसके कारण समाज मे भेद-भाव नहीं हुआ।

भारतीय समाज में जाति पद्धति उद्योग और जन्म के आधार पर खड़ी हुई है। सिद्धान्तशिखामणि में इस समस्या का परिहार है कि —

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शिवसंस्कारसंयुतः ।
जातिभेदं न कुर्वीत शिवभक्ते कदाचन ।।

जब व्यक्ति दीक्षा-संस्कार लेता है, तब जाति-भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। सब लोग समान होते हैं। दीक्षा संस्कार से जाति नष्ट हो जाती है। समाज में सब व्यक्ति समान रूप से व्यवहार करते हैं। इस समाज को अतिवर्णाश्रम समाज कहते हैं। आज की परिभाषा में इसे (Non-caste system society) कहा जा सकता है।

वीरशैव धर्म में धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में **स्त्री-पुरुष समान** हैं। दोनों का स्वातन्त्र्य एक ही प्रकार का है। इस धर्म में स्त्री साक्षात् शक्ति-स्वरूपिणी मानी जाती है।

पञ्च सूतक (Five Pollutions)

स्त्रियों को हर महीनें में एक बार रजोदर्शन क्रिया होती है। वह निसर्ग-नियम है। वैदिक सम्प्रदाय के लोग उस समय स्त्री को अपवित्र दृष्टि से देखते है। आहार, अन्न-पान सभी बाहर चलता है। स्त्री के साथ अछूतों जैसा व्यवहार करने की पद्धति हम देखते है। तबियत की दृष्टि से या स्वच्छता की दृष्टि से देखना उचित होता है। मगर धार्मिक अथवा अन्ध सम्प्रदाय की दृष्टि से देखना उचित नहीं है।

वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार लिंग पूर्ण चेतन का लाक्षणिक संकेत है। आत्मा का प्रतिरूप है। इष्टलिंगधारी स्त्री स्नान करके, इष्टलिंग पूजा कर सकती है। इष्टलिंग पूजा में सूतक नहीं है —

"लिङ्गार्चनरतायाश्च ऋतौ नार्या न सूतकम्" (४।९, श्लो-४३)

इस वाक्य के अनुसार वीरशैवों को जनन सूतक, मरणसूतक, रजसूतक इत्यादि, समाज-आचरण के रूप में नहीं करना चाहिए।

वीरशैवमताचार्यों ने हर एक व्यक्ति को इष्टलिंग के द्वारा पूजा करने का स्वातन्त्र्य दिया है। स्त्री और पुरुष को समान स्वातन्त्र्य है। पुरोहित, या अर्चक के बिना, पूजा करने का स्वातन्त्र्य है। इसलिए वीरशैव **चलने वाला** या (चलनशील) **लिंग स्वरूपी माना जाता** है। इसलिए वीरशैवों में सूतकों का आचरण नहीं है।

वीरशैव गुरु-लिंग-जंगम को आराध्यवस्तु मानते हैं। समाज में गुरु आध्यात्म मार्ग में माता के समान है। शिष्य को अध्यात्म मार्ग की शिक्षा देते हैं। इतना ही नही स्वयं आदर्शों का जीता-जागता, नमूना होते हैं। शरीर पर धारण किये जाने वाला **लिंग** इष्टलिंग है। यह उपासक को इष्ट, इच्छित वस्तु प्रदान करने के कारण इष्टलिंग कहलाता है। इष्ट प्रदाता अनिष्ट परिहारक यह इष्टलिंग आचार्यों द्वारा **इष्टलिंग** कहा गया है। **जंगम** भ्रमणशील जीवन्मुक्त होते हैं। ये साधकों के आध्यात्म मार्ग का प्रदर्शन करने और समस्याओं का हल करने के लिए निरन्तर एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहते हैं। इसलिए वीरशैव धर्म में जंगम गुरु और लिंग के समान ही समझे जाते हैं।

सिद्धान्तशिखामणि का कथन है कि —

'नमः शरीराय शिवालयाय' 'देह ही देवालय' है।

शरीर ही मन्दिर है। (Moving Temple) यह चलता है, फिरता है, तो फिर अन्य मन्दिर की क्या आवश्यकता है? आगम का अभिप्राय भी इस प्रकार है कि **"देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सनातनः"**। वीरशैव आचार्यों का उपदेश है कि यह देह एक इमारत है। हृदय कमल के पीठ में जीवात्म नामक लिङ्ग मूर्ति है। इसलिए हर एक वीरशैव चलनशील देवालय है।

"नार्चयेद् अन्यदेवांस्तु न स्मरेन्न च कीर्तयेत्" इस वाक्य के द्वारा एक देवोपासना का विधान समझाया गया है। भारत में दो प्रकार की संस्कृतियाँ है — एक देवालय की संस्कृति तथा दूसरी इष्टलिंग की संस्कृति। ये दोनों समानान्तर रूप से चली आ रही हैं। हमें एक बात पर ध्यान रखने की आवश्यकता है कि, देवालय तथा स्थावर लिंग पूजा का निराकरण करता हुआ— सिद्धान्तशिखामणि देवालय और स्थावरलिंगों को गौरव प्रदान करता है।

यदि देवालय को आघात हुआ तो प्राण देकर भी, उसका संरक्षण करने की बात करता है। सिद्धान्तशिखामणि में दूसरों की संस्कृति सम्प्रदाय को गौरव देने की बात करता है। दूसरों की संस्कृति को तिरस्कार करने की बात नहीं करता है। परधर्म पर गौरव है। यही सिद्धान्तशिखामणि का महत्त्व है।

सिद्धान्त शिखामणि में लिखा है हर एक व्यक्ति को स्वावलम्बी बनकर उद्योग के साथ राष्ट्रजीवन को उपकृत करना चाहिए। उद्योग में निष्ठा होनी चाहिए। क्रिया में चित्तवृत्ति को एकत्रित करके काम करना चाहिए। इसको सिद्धान्तशिखामणि में **वृत्तिचैतन्य** कहा गया है। इसमें वृत्ति के गौरव को बढ़ाने की बात कही गयी है।

समाज में बाह्य कर्मकाण्ड बदलते रहते हैं। मगर सार्वकालिक नैतिक नियम शाश्वत रहते हैं। सिद्धान्तशिखामणि बोध देता है कि सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, पूजा, जप, ध्यान नहीं बदलते। ये समाज के हर एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

"Those are the ideas these are the Ten commandments of Religion"

सिद्धान्तशिखामणि में जो आचार संहिता है, वह सम्पूर्ण समाजशास्त्र है। उदाहरण के लिए प्रधानतः पंचाचार आचरण के पाँच नियम हैं। हर एक वीरशैव समाज के सदस्य को इन नियमों का पालन करना चाहिए। इनमें से वीरशैव को एक ही देव को मानना चाहिए, अपने इष्टलिंग की पूजा करनी चाहिए, यही **लिंगाचार** है। **सदाचार** में हर एक व्यक्ति को नैतिक जीवन बिताना चाहिए, स्वयं कार्य करके पैसा कमाना चाहिए। अपना ज्यादा धन लोगों की सहायता में लगाना चाहिए। धर्म के घुम्मकड़ जंगमों को खाना और कपड़ा देना चाहिए। शिवाचार के अनुसार वीरशैव समाज के सदस्यों में परस्पर कोई भेद-भाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि सब शिवभक्त हैं। समाज में जाति का भाव तोड़कर एक साथ खाना और परस्पर-विवाह-सम्बन्ध करना चाहिए। **भृत्याचार** में शिवभक्तों के प्रति नम्रता का भाव रखना चाहिए। स्त्रियों के प्रति गौरव का भाव रखना चाहिए। **गणाचार** रक्षण की भावना का प्रतिनिधित्व करता है। वीरशैव को परमात्मा की निन्दा और दूसरों के द्वारा किया जाने वाला दुर्व्यवहार का खंडन करना चाहिए। हर एक वीरशैव की उन्नति और विकास के लिए मदद करना चाहिए।

वीरशैव धर्म शैवधर्म का प्रभेद है, शैवधर्म का परिवार है। शैवधर्म का शिवागम साहित्य में प्रारम्भ से ही वर्णाश्रम, जातिव्यवस्था आदि अप्राकृतिक बन्धनों का विरोधी रहा। प्रार्थना, ध्यान, पूजा और योग इसके विशेष अंग हैं। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण और शूद्र सब को समान रूप से शिव पूजा और मोक्षप्राप्ति के अधिकार प्राप्त हैं।

वीरशैव धर्म शैवधर्म का एक सुन्दर सुविकसित पुष्प है। शैवधर्म की पृष्ठभूमि है, यह अग्रभूमि है। शैवधर्म नेपथ्य है, तो यह रंगमंच है। वीरशैव के आधार ग्रन्थ **शैवागम** है। वीरशैव का मूलस्रोत **शिवागम** में है। आगमों ने बिना किसी भेदभाव के धर्म के दरवाजे सब के लिए खुले रखे।

तमिलों के इतिहास के विद्वान् श्रीनिवास अयंगार के मतानुसार आज भी एक अछूत (Pariah), जिसने शिवदीक्षा ग्रहण कर ली हो, एक ब्राह्मण को दीक्षित कर उसका गुरु बन सकता है। आगम के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यास आवश्यक नहीं है। सब जातियों के लिए **'सुलभ भक्ति'** एक गृहस्थ को भी संसार सागर से पार कर सकती है। आगमों के अनुसार दीक्षा एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। आवश्यक गुणों का अधिकारी कोई भी व्यक्ति गुरु बन सकता है।

एक मत है कि आगम तमिल भाषा के द्रविड़ धार्मिक साहित्य का अनुवाद हैं। यह असम्भव नहीं है। सिद्धान्तशिखामणि में आगमों के उदार तत्त्व सम्मिलित हैं। समाज कल्याण का उदार दृष्टिकोण भी है।



सिद्धान्तशिखामणि एवं श्रीकण्ठभाष्य
एक तुलनात्मक समीक्षा

– डॉ० केदारनाथ त्रिपाठी –

सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ वीरशैव सम्प्रदाय का प्रमुख एवं मौलिक आद्य आगम ग्रन्थ है, जिसे जगद्‌गुरु श्री रेणुकाचार्य द्वारा महर्षि अगस्त्य को दिये गये शैव सिद्धान्त सम्बन्धी उपदेशों को संगृहीत कर श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने मानव कल्याण हेतु प्रस्तुत किया है। शैव आगम का प्रादुर्भाव आद्यशक्ति गिरिजा को सुनाये गये भगवान् शिव के वचन के रूप में हुआ है। उसे ही श्री रेणुकाचार्य ने सर्वप्रथम अगस्त्य महर्षि को उपदिष्ट किया था। वह उपदेश आगम इसलिए है —

आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखे ।
मतं श्रीवासुदेवेन, आगमस्तेन कीर्तितः ।।

यह आगम शब्द का रूढ्यर्थ है। योगार्थ यह है — आसमन्तादर्थं गमयतीति आगमः। अर्थात् जो मानव हित के विषय को विशद रूप से अवगत करावे, वह आगम है। योगदर्शन की तत्त्ववैशारदी व्याख्या में श्रीवाचस्पति मिश्र ने आगम पद की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए कहा है — "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः"।

यह आगम सर्वथा वेदानुसारी है; क्योंकि आगम यदि परात्पर शिव की वाणी है, तो वेद भी उसी परमात्मा का निःश्वास है; और अन्तःनिःश्वास, प्राण षट् मारुत ही वाक् या स्वर के रूप में मुखरित होता है, यह लोक में भी सुप्रसिद्ध है। वेद और आगम के इस सामरस्य को प्रमाणित करने के उद्देश्य से ही ज्ञानकाण्डीय वेदार्थ को बताने वाले वेदान्त सूत्रों पर भाष्य ग्रन्थ का प्रणयन शैवागम मर्मज्ञ आचार्य श्रीकण्ठ ने किया। अतः सिद्धान्तशिखामणि और श्रीकण्ठभाष्य की तुलनात्मक समीक्षा का दिग्दर्शन इस लघु निबन्ध में किया गया है।

ब्रह्म का लक्षण या स्वरूप

सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में ब्रह्म को सच्चिदानन्द स्वरूप, किसी दृग्गोचर चिह्न को बताने वाले शब्दों का अविषय, किसी दृग्गोचर आकार से रहित, देश-काल की सीमा से परे, प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाणों से अगम्य, अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान, जन्ममरणादि दोष से रहित, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान्, विभु, सर्वत्र अप्रतिहत गतिवाला, शिव-रुद्र-

महादेवमय आदि शब्दों से प्रतिपादित अद्वितीय तथा वाणी का अविषय कहा गया है। सृष्टि के पूर्व में उसी में लीन यह जडचेतनात्मक जगत् बीजाङ्कुरन्याय से प्रकट हुआ है।

श्रीकण्ठाचार्य ने वेदान्त सूत्रों के भाष्यारम्भ में मङ्गल-श्लोक में सच्चिदानन्दरूप, लोकपदार्थ जगन्मात्र के बीजाङ्कुरन्याय से प्राकट्य का हेतु बताया है और 'शिवोऽहम्' इसमें अहं पदार्थ शिवात्मक ब्रह्म है—यह कहा है। उसी ब्रह्म की मीमांसा ब्रह्मजिज्ञासा है। उपनिषद् ही वेदान्त है, वेदों का रहस्य है। "इहौपनिषदी मीमांसा समारभ्यते" ऐसा कहते हुए उपनिषत् प्रतिपाद्य औपनिषद् ब्रह्मविषयिणी मीमांसा तथा उपनिषत्पदवाच्य वेदान्तवाक्य-विषयिणी मीमांसा यह दोनों ही औपनिषदी मीमांसा है—यह बताया गया है। यहाँ वेदान्त-वाक्यों का तो अव्यवधानेन तथा ब्रह्म का व्यवधानेन विचार किया गया है। अतः वेदान्त सूत्रों द्वारा मुख्यतया वेदान्त वाक्यों का विचार हुआ है और तद्विषयतया ब्रह्म विचारित हुआ है। किन्तु सिद्धान्तशिखामणि में मुख्यतया शिवात्मक ब्रह्म का विचार किया गया है तथा उसके समर्थन के रूप में शिव द्वारा गिरिजा को सुनाये गये उपदेश वचन विचारित हुए हैं। यह विशेषता है।

समस्त उपप्लव कलङ्क से रहित निरतिशय ज्ञान-आनन्दादि शक्ति की सर्वातिशायी महिमा से सम्पन्न ब्रह्म है, यह लक्षण भाष्य में किया गया है। यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। जगज्जन्मादिकारणत्व यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र के भाष्य में बताया गया है और यह जगज्जन्मादिकारणत्व मायिक नहीं है। जैसा कि बीज से हुआ अङ्कुर मायिक नहीं होता है। ज्ञान, आनन्द आदि ब्रह्म के स्वरूपलक्षण ब्रह्म के धर्म हैं। इस शैवमत में शिवब्रह्म को धर्मी के रूप में माना गया है, जिसके निरतिशय ज्ञान आनन्द आदि धर्म हैं।

"शास्त्रयोनित्वात् , तत्तु समन्वयात्" ये दोनों सूत्र वेदान्तवाक्यों का तात्पर्य शिवब्रह्म में ही है, प्रधान आदि में नहीं, यह बताते हैं। इस प्रकार शिखामणि प्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप का ही समर्थक वेदान्तवाक्य है। यह श्रीकण्ठाचार्य प्रतिपादित करते हैं। अतः सिद्धान्तशिखामणि प्रतिपादित शिवब्रह्म का बोधक भाष्य उसका उपोद्बलक है, न कि भिन्नाभिप्रायक ।

माया शिव परमात्मा की परम शक्ति है; उसी से श्रीशम्भु नामरूपादि से युक्त हो जाते है, बीजाङ्कुरन्याय से। श्रीरेणुकाचार्य ने कहा है —

यया महेश्वरः शम्भुर्नामरूपादिसंयुतः ।
तस्यै मायास्वरूपायै नमः परमशक्तये ।।

इसी को श्रीकण्ठाचार्य ने — "निजशक्तिभित्तिनिर्मितनिखिलजगज्जालचित्रनिकुरम्बः" श्लोक द्वारा प्रतिपादित किया है। वह शिवशक्तिभूत माया असत् से विलक्षण होती हुई

सत्स्वरूपा है। अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिव से अभिन्न उनकी माया भी सत् चित् और आनन्दरूपा है। जैसे शुक्तिका से मोती निकलती है, वैसे ही उस महाशक्ति से सदाशिव से लेकर भूमिपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। सारा विश्व अण्डरसन्याय से उसमें अविभक्त होकर रहता है। जैसे वृक्ष में बिना विकार आये उससे पुष्प-फल आदि विभिन्न स्वरूपों की प्रतीति होती है, वैसे ही शिव की महाशक्ति से यह समस्त इदन्तालक्षण विश्व विभक्त रूप में प्रकट हुआ दिखाई पड़ता है। पुनश्च कूर्मभङ्गीन्याय से भगवदिच्छावशात् उस माया में समा जाता है। वह शिवशक्तिभूता माया शिवा है, भवानी है। उसे 'विनाभाव-विभिन्नया' कहा गया है, अर्थात् वह शिव से सदा अविनाभूत है। अविनाभूत होने से शिव और शिवा में व्याप्यव्यापक भाव है। शिव व्यापक है और शिवा व्याप्य है। यद्यपि शिव और शिवा का यह व्याप्यव्यापकभाव समव्याप्तिरूप है, तथापि प्रधानता के कारण शिव व्यापक कहे जाते हैं और शिवा व्याप्य, अर्थात् विशेषणभूत कही जाती है।

'वश कान्तौ' इस धातु से वर्णव्यत्यय द्वारा शिवशब्द सिद्ध होता है। जैसे हिसि धातु से वर्णव्यत्यय द्वारा सिंह शब्द सिद्ध होता है तथा पश्यन् का कश्यप बन जाता है। कान्ति का अर्थ है इच्छा, अर्थात् इच्छाशक्ति। कहा भी गया है —

समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थानामुपक्रमम् ।
शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्माद् देवः शिवः स्मृतः ।। (म.भा.)

इसीलिए शिव की इच्छाशक्तिरूपा शिवा है। वह इच्छाशक्तिरूपा शिवा विमर्शशक्ति शब्द से कही गयी है।

उक्त शिवतत्त्व के ज्ञान में निष्ठावान् जन शैव हैं और वे ही वेदान्तजन्य ज्ञानरूपा विद्या में रमण करने के कारण 'वीरशैव' शब्द से कहे गये हैं। जैसा कि इस ग्रन्थ में श्लोकात्मक सूत्र द्वारा कहा गया है —

वेदान्तजन्यं यज्ज्ञानं विद्येति परिकीर्त्यते ।
विद्यायां रमते तस्यां वीर इत्यभिधीयते ।। इति।

माहेश्वरतत्त्व से सम्बद्ध कर्म में निष्ठावान् जन माहेश्वर कहे जाते हैं। अर्थात् ज्ञान-निष्ठ शैव और कर्मनिष्ठ माहेश्वर हैं। ज्ञाननिष्ठ शैव द्वारा अन्तः लिङ्गार्चन किया जाता है और कर्मनिष्ठ माहेश्वर द्वारा बहिः लिङ्गार्चन किया जाता है। इस प्रकार लक्ष्यभूत शिव और महेश्वर के एक होने पर भी उनकी क्रिया भिन्न भिन्न है — ज्ञान और कर्म। ज्ञानयज्ञ में रत शैव हैं और कर्मयज्ञ में रत माहेश्वर हैं। यहाँ रति का अर्थ है — विशिष्ट प्रीति। अर्थात् शैवों का ज्ञान मुख्य है और कर्म सहकारी है। एवं माहेश्वरों का कर्म मुख्य है और ज्ञान सहकारी है। इसीलिए वीरशैव सम्प्रदाय में मुक्ति हेतु ज्ञानकर्मसमुच्चय अभिप्रेत है, न कि केवल ज्ञान या केवल कर्म। व्याख्याकारों ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है —

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
अपश्यन्नन्धको दग्धः पश्यन् पङ्गुश्च दह्यते ।।

श्रीकण्ठाचार्य ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र के भाष्य में सूत्रगत 'अथ' शब्द के अर्थ निर्णय में कहा है कि "परमेश्वराज्ञापरपर्यायनियोगरूपचोदनालक्षणस्य धर्मस्य विचारानन्तरं ब्रह्मजिज्ञासेति 'अथ'-शब्दार्थः।" अर्थात् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि द्वारा विहित केवल वेदाध्ययन सम्पादित कर ब्रह्मविचार करे—ऐसा नहीं है, किन्तु वेदाध्ययन कर धर्म-विचार करे। तदनन्तर ही ब्रह्मविचार कर्तव्य है। अतः कर्मावबोध—शिरस्क वेदाध्ययन के अनन्तर ही ब्रह्मविचार की कर्तव्यता 'अथ' शब्दार्थ है, न कि धर्मविचारसम्पन्न किये बिना ही केवल वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मविचार में कर्तव्यता है। श्रीकण्ठाचार्य धर्मविचारशास्त्र और ब्रह्मविचारशास्त्र में आत्यन्तिक भेद नहीं मानते, प्रत्युत दोनों सम्मिलित रूप से एक ही शास्त्र हैं। भाष्य में कहा है—"अथातो धर्मजिज्ञासेत्यारभ्य अनावृत्तिः शब्दाद् इत्येतावत् पर्यन्तमेकमेव शास्त्रम्" इति। इसके समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जैसे धर्मविचारशास्त्र में ही प्रथम दो अध्यायों द्वारा वेदप्रामाण्य की सिद्धि और कर्मभेद प्रामाण्य की सिद्धि को उपजीव्य बनाकर "अथातः शेषलक्षणम्" इस तृतीयाध्याय के आरम्भिक सूत्र से लेकर अवशिष्ट दशाध्यायी में किये जाने वाले विचार के आरम्भ की प्रतिज्ञा की गयी है, वैसे ही पूर्व मीमांसाशास्त्र में किये गये धर्मविचार को उपजीव्य बनाकर "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस वेदान्त सूत्र से आगे चतुरध्यायी में किये जाने वाले ब्रह्मविचार के आरम्भ की प्रतिज्ञा की गयी है। इसीलिए भाष्यकार ने कहा है —"यावदुत्पद्यते ज्ञानं तावदनुष्ठेयानि कर्माणि" इति।

आगे श्रीकण्ठाचार्य ने कहा है — "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह" इत्यादिकाया, ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिन्याः श्रुतेरुपलम्भात् कर्मज्ञानयोर्मोक्षैकफलत्वात् तद्विचारयोरपि क्रमनियमो युक्तः" इति। इस प्रकार सिद्धान्तशिखामणि का ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद पूर्वोक्त उभय मीमांसाशास्त्रों का सामञ्जस्य प्रतिपादित करता है, यह श्रीकण्ठभाष्य से स्पष्ट है।

वीरमाहेश्वरों का शास्त्रीय विषय छः भेदों में विभक्त है — १. स्थल, २.धर्म, ३,४. स्थलोक्त अन्तर्बाह्य सदाचार, ५. अधिकारी और ६. स्थलनिष्ठ भक्त आदि अधिकारी। इनमें स्थलशास्त्र के छः भेद हैं — १. भक्तस्थल, २. माहेश्वरस्थल, ३. प्रसादिस्थल, ४. प्राणलिङ्गिस्थल, ५. शरणस्थल और ६. शिवैक्य स्थल। इस शास्त्र में भी चार अनुबन्ध हैं — अधिकारी, प्रयोजन, विषय और सम्बन्ध। वीरशैव धर्मनिष्ठ मुमुक्षु अधिकारी है। शिवभक्ति से प्राप्य शिवैक्य रूप परममुक्ति प्रयोजन है। एक सौ एक स्थलों का ज्ञान विषय है। तथा शास्त्र एवं विषयों का प्रकाश्यप्रकाशकभाव सम्बन्ध है।

शिवभक्तों के लिए अनुष्ठेय धर्मों के भेद हैं — सदाचार, शिवभक्ति, लिङ्गजङ्गमैक्य, लाञ्छनभक्ति एवं शरणभक्ति। इनका उपदेश भक्तस्थल है। इसके भी दीक्षा लिङ्गधारण आदि पन्द्रह अवान्तर भेद हैं।

वेदान्तसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतया ब्रह्मस्वरूप परम पुरुषार्थ मोक्ष, उसके साधन उपासना में तथा ज्ञान कर्म का सम्बन्ध आदि हैं। इसलिए शिखामणि ग्रन्थ में विशद रूप से वर्णित भक्ति-धर्म एवं सदाचार आदि का अवान्तर भेद सहित विवेचन सूत्र भाष्य में न होने पर भी श्रीकण्ठाचार्य आगमोक्त उन उन विषयों के अनुमन्ता हैं। "अप्रतिषिद्धं ह्यनुमतं भवति" यह सामान्य पद्धति है। आगम ग्रन्थ सम्प्रदाय की दृष्टि से सर्वाङ्गपूर्ण होता है, कोई भी अभीष्ट विषय छूटता नहीं। दर्शन ग्रन्थ का उद्देश्य अपने मौलिक आधारभूत सिद्धान्त की रक्षा के लिए वादान्तरों का प्रतिवाद करना भी होता है। "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" यह सर्वमान्यन्याय है। इस प्रकार आगम और दर्शन ग्रन्थ परस्पर में एक लक्ष्य होते हुए एक दूसरे के पूरक होते हैं। इसी दृष्टि से सिद्धान्तशिखामणि एवं श्रीकण्ठभाष्य का आकलन अभिप्रेत है।

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ श्रीकण्ठभाष्य के रचयिता श्रीकण्ठाचार्य ने "जन्माद्यस्य यतः" इस सूत्र के भाष्य में ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है — जगत् के जन्म स्थिति और भंग जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है। यद्यपि यह लक्षण ब्रह्म में नहीं संभव है; क्योंकि ये तीनों ही जगत् के धर्म हैं, ब्रह्म से इनका सम्बन्ध नहीं है, तथापि यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण भले ही न हो; किन्तु इन्हें ब्रह्म का तटस्थलक्षण मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्वादि धर्मविशिष्ट एवं भव शर्व आदि नामों का अधिकरण जो शिवतत्त्व है, वही जगत् का कारण ब्रह्म है। सर्वज्ञत्वादि षड्विध अङ्गों के कारण वह सच्चिदानन्द है। शिव के छः अंग हैं—सर्वज्ञत्व, नित्यतृप्तत्व, अनादिबोधत्व स्वतन्त्रत्व, अलुप्तशक्तित्व और अनन्तशक्तित्व। बाह्यकरणनिरपेक्ष शुद्धबोध शक्ति ही उसका मन है, जिससे वह सदा आनन्द का अनुभव करता है। अनन्त शक्ति की महिमा से वह जगत् का समवायि-निमित्त उभय कारण है। "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" सूत्र के भाष्य में भी शिव ब्रह्म को निमित्तोपादान उभय कारण सिद्ध किया गया है। पाश के सम्बन्ध से पशुनामधारी जीव का पति (स्वामी) होने से वह पशुपति है। सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चिदचिद् विशिष्ट जगत् उसका कार्य है। शैवमत में शिवतत्त्व धर्मी रूप में स्वीकृत है, जिसमें जगद्धेतुत्व एवं आनन्दादि धर्मों का पर्यवसान है।

जीव और शिव का सम्बन्ध बताते हुए सिद्धान्तशिखामणि में प्रतिपादित किया गया है कि जीव का पाप समुदाय जब अनेक जन्मकृत पुण्यों के प्रभाव से पूर्णतया क्षीण हो जाता है, तो वही शुद्धान्तःकरण होकर पिण्ड नाम से कहा जाता है। वह पिण्ड भी वस्तुतः शिव ही है, जो अनादि अविद्यावश जीव कहा जाता है। इस मत में जैसे जीव शिवब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही ईश्वर भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उदाहरणस्वरूप कहा है —

चन्द्रकान्ते यथा तोयं सूर्यकान्ते यथाऽनलः ।
बीजे यथाङ्कुरः सिद्धस्तथाऽऽत्मनि शिवः स्थितः ।।
आत्मत्वमीश्वरत्वं च ब्रह्मण्येकत्र कल्पितम् ।। इति।

इसी प्रकार गुणत्रय के भेद से शुद्ध चैतन्य में ही भोक्तृत्व-भोज्यत्व और प्रेरकत्व भी कल्पित है। ब्रह्म में वर्तमान यह गुणत्रयात्मक शक्ति सनातन शक्ति है और वही ब्रह्म की स्वाभाविकी विमर्श शक्ति है तथा वह ज्ञानक्रियात्मक है। जैसा कि श्रुति में कहा है — "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । शिव में चित् और आनन्द के अखण्ड होने से वह विक्षोभरहित होता है तथा इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्ति के सविषयक होने से विक्षोभ संभव है।

इस प्रकार अंशतः विक्षोभ और अंशतः विक्षोभाभाव होने से शिव में भेदाभेद दोनों ही विद्यमान हैं। वह विमर्शशक्ति वैसा ही है, जैसे मयूराण्ड रस में उसके पाद-पक्ष और विचित्र वर्ण आदि सभी वर्तमान रहते हैं, किन्तु उस समय उनका भेद नहीं मालूम होता; वैसे ही सम्पूर्ण चराचरमयी वह विमर्श शक्ति है, जिससे सम्पूर्ण जगत् विचित्र रूपों में प्रकट होता है। अतः अविभाग परामर्शदशा में वह शक्ति निर्गुण होती है तथा विभाग परामर्श दशा में गुणत्रयात्मिका होती है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है —

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।

सिद्धान्तशिखामणि के पञ्चम परिच्छेद में सांख्यादि तत्त्वों को वेद का एकदेशवर्ती बताते हुए शैवतन्त्र को सर्ववेदानुसारी होने से विशिष्ट बताया गया है। जैसे —

वेदैकदेशवर्तिभ्यः सांख्यादिभ्यो महामुने ।
सर्ववेदानुसारित्वात् शैवतन्त्रं विशिष्यते ।।
शैवतन्त्रमिति प्रोक्तं सिद्धान्ताख्यं शिवोदितम् ।
सर्ववेदार्थरूपत्वात् प्रामाण्यं वेदवत् सदा ।।

शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल आगमों के रूप में शैव आगम के चार भेद अन्यत्र वर्णित हैं। सिद्धान्तशिखामणि में इनके वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त नामक चार भेद और उनके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं —

शक्तिप्रधानं वामाख्यं दक्षिणं भैरवात्मकम् ।
सप्तमातृपरं मिश्रं सिद्धान्तं वेदसम्मतम् ।।

इसके अनुसार सिद्धान्त आगम को वेदसम्मत, अर्थात् विशिष्ट माना गया है। सिद्धान्तशिखामणि में कथित शैवतन्त्र के सर्ववेदानुसारित्व को श्रीकण्ठभाष्य के समन्वयाध्याय में विशद वर्णन किया गया है। सांख्यस्मृति को श्रीकण्ठभाष्य में भी अनुमेय श्रुति मूलक बताते हुए प्रत्यक्ष श्रुति से सिद्ध ब्रह्मकारणत्व को प्रतिपादित करने वाली मन्वादि स्मृतियों के द्वारा बाधित बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि सांख्यादि स्मृति भी वेदमूलक हैं और शैवतन्त्र भी वेदमूलक है, किन्तु श्रीकण्ठभाष्य में सांख्यतन्त्र को जो अनुमेय श्रुतिमूलक एवं वेदैकदेशी मत बताया गया है, उसे ही सिद्धान्तशिखामणि में वेदैकदेशवर्ती शब्द से कहा गया है। दोनों का अभिप्राय एक ही है।

बाह्य आभ्यन्तर समुदायद्वयात्मक जगत् का कारण क्रमशः परमाणु एवं स्कन्धपञ्चक को मानने वाले बौद्ध मत का निराकरण सूत्र और श्रीकण्ठभाष्य में है, किन्तु सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में नहीं है। सप्तभङ्गीनय का भी निराकरण यहाँ नहीं है। ऐसे ही परमेश्वर को केवल निमित्त कारण मानने वाले पाशुपत मत को तो स्वतः खण्डित हुआ समझना चाहिए। यद्यपि सिद्धान्तशिखामणि में इसकी भी चर्चा नहीं है।

दीक्षा

गुरु द्वारा शिष्य को कर्ण में दी जाने वाली दीक्षा के सम्बन्ध में प्रकृत ग्रन्थ में पञ्चाक्षरी मन्त्र की ही दीक्षा देने का विधान किया गया है। तथा शिष्य के हाथ में स्फटिकमय-प्रस्तरमय-चन्द्रकान्तमय या सूर्यकान्तमय लिङ्ग को शिवकला से आवाहित कर ध्यान पूजनादि द्वारा मन्त्रपूत कर धारण कराने को कहा गया है। जैसे —

मन्त्रपूते कलां शैवीं योजयेद् विधिना गुरुः ।
शिष्यस्य प्राणमादाय लिङ्गे तत्र निधापयेत् ।।
एवं कृत्वा गुरुर्लिङ्गं शिष्यहस्ते निधापयेत् ।।

इसके साथ उसे प्राणवत् धारण करना चाहिए, कभी भी उस लिङ्ग का देह से वियोग नहीं करना चाहिए, ऐसी शिक्षा शिष्य को गुरु दे।

उक्त लिंग धारण दो प्रकार का कहा गया है — बाह्य और आभ्यन्तर। चिद्रूप आभ्यन्तरलिंग प्रपञ्चातीत, अव्यय, परब्रह्म रूप है और उसे महालिङ्ग कहा गया है, वही ज्योतिलिंग है। सम्पूर्ण चराचर जगत् उसी में लीन होता है और पुनः उत्पन्न होता है, इसीलिए यह लिङ्ग पद से कहा जाता है। वह सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म है तथा वह बाह्य लिंग धारण की अपेक्षा कोटिगुणित विशिष्ट है। इस चिद्रूप आन्तर लिंग धारण करने वालों का पुनः संसार में आगमन नहीं होता —

ये धारयन्ति हृदये लिङ्गं चिद्रूपमैश्वरम् ।
न तेषां पुनरावृत्तिर्घोरसंसारमण्डले ।।

ऐसा कहा गया है।

सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार शैवतन्त्र में वर्णाश्रमादि व्यवस्था भी है, जिसके दो भेद है — एक साक्षात् शिव द्वारा निर्दिष्ट तथा दूसरा ब्रह्मा द्वारा प्रतिपादित। शिव संस्कार से सम्पन्न जनों के लिए शिवनिर्दिष्ट व्यवस्था है और अन्यों के लिए ब्रह्मा द्वारा कथित व्यवस्था है।

इस प्रकार शिखामणि ग्रन्थ में वे समस्त विषय वर्णित हुए हैं, जो वेदान्त सूत्र एवं उसके भाष्य में नहीं है एवं दार्शनिक दृष्टि से जो विषय शिखामणि में नहीं है, उनकी मात्रा अत्यल्प है। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थ दोनों के पूरक हैं, तथापि इस सन्दर्भ में सिद्धान्तशिखामणि का विशिष्ट स्थान है, इसमें सन्देह नहीं है। यद्यपि ब्रह्मसूत्र एवं श्रीकण्ठभाष्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका है—शैवतन्त्र को पूर्णतया वैदिक आगम प्रतिपादित करना।

इस शैवतन्त्र में सर्वाद्वैत का निराकरण अभीष्ट है, क्योंकि पूज्यपूजक एवं लिङ्गजीव का भेद न मानने पर पूजा कर्मादि न हो सकेगा और लिङ्गनिष्ठा का भी विरोध प्राप्त हो जायेगा। पशु-पशुपति (स्व स्वामी) भाव भी न बन सकेगा। पृथिव्यादि अष्टमूर्ति के साथ शिव का अद्वैतभाव नहीं है। शिव को अष्टमूर्ति कहा जाता है, उनके अधिष्ठाता होने के कारण। जैसे तन्तु से उत्पन्न पट तन्तुमय है, वैसे शिव से उत्पन्न चराचर शिवमय है।

जीव बालाग्रशतभाग के समान है, हृदय में अवस्थित है, कर्मफलभोक्ता है और देह में दीपवत् स्फुरित होता है। वह जीव गुरुद्वारा प्राप्त बोध से जीवभाव का परित्याग कर भासित होता है, तब अन्तरात्मा कहलाता है। यह जीव और परमात्मा के अन्तरालवर्ती होने से अन्तरात्मा कहा गया है। यह अन्तरात्मा ही परमात्मा कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

निर्धूते तत्त्वबोधेन मले संसारकारणे ।
सामरस्यात् परात्मा स्यात् परमात्माऽयमुच्यते ।।

जीवन्मुक्त में ज्ञातृत्वधर्म नहीं होता है और शैवतन्त्र में परातृप्ति ही मुक्ति है।

एक सौ एक स्थलों में पूर्ण सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ शैवतन्त्र के समस्त अङ्गों को प्रकाशित करने वाली सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसमें दीक्षा का विशिष्ट महत्त्व बताया गया है। शिवयोगी गुरु से ज्ञान प्राप्त कर ज्ञान सम्पन्न शिष्य का आनन्द स्वरूप गुरु के साथ ऐक्य हो जाता है। इसे दीक्षा पादोदक कहा गया है। यहाँ पाद गुरु या आनन्द है तथा उदक शिष्य या ज्ञान है। दोनों का ऐक्य भाव ही दीक्षा का रहस्य है। ज्ञान सम्पन्न परम योगी का यह भाव

उत्पन्न हो जाता है कि सम्पूर्ण जगत् शिव है और मैं भी शिव ही हूँ, तब भव में रहते हुए वह भव के दोषों से बाधित नहीं होता। वह स्वस्वरूप में सदा अवस्थित रहता है।

इस स्थिति को प्राप्त करने के कारण उपासक सभी परा विद्याओं की उपासना में अपने को बन्धकर्तृत्व भोक्तृत्वादि जीव धर्मों से विशिष्ट भावना न करे, किन्तु भावी मुक्तिदशा में आविर्भूत होने वाले अपहत पाप्मत्वादि धर्मों से विशिष्ट की ही भावना करे, यह बात श्रीकण्ठ भाष्य में 'शरीरभावाधिकरण' में प्रतिपादित की गयी है (३।३।३०)।

विभिन्न उपासनाओं के अंग के रूप में निरूपित कुछ अंग ऐसे हैं, जो सिर्फ उन्हीं उपासनाओं में करणीय हो ऐसा नहीं है; किन्तु सभी वेदों की सभी शाखाओं में ब्रह्मोपासकों के लिए वे अवश्य करणीय हैं, जैसे — दहरोपासनागत प्रणवाभ्यास, पाशुपत विद्यागत भस्मोद्धूलन-त्रिपुण्ड्र धारणादि क्रियायें सभी ब्रह्मोपासकों को करनी चाहिए। इसमें मीमांसोक्त सन्निधि प्रमाण बाधक नहीं होता, यह सिद्धान्त श्रीकण्ठभाष्य में प्रतिपादित किया गया है, जो प्रकृत आगम ग्रन्थ का अनुगमन है।

विद्या कर्म का अंगभूत नहीं है, किन्तु साक्षात् पुरुषार्थ है, यह श्रीकण्ठभाष्य और सिद्धान्तशिखामणि उभयत्र प्रतिपादित है। अन्त्याश्रम (संन्यासाश्रम) भी उभयत्र कथित है। सभी आश्रमियों को अपने अपने आश्रम के लिए विहीत कर्म सापेक्ष विद्या का विधान है, न कि कर्म निरपेक्ष होकर। पर विद्या से युक्त के लिए भी प्राणात्यय की स्थिति में ही सर्वात्र ग्रहण की अनुमति है, न कि सभी स्थिति में। विद्या के साधनभूत आश्रम धर्मों के अभॉव में आश्रमविहीन स्नातकों एवं विधुरों को ब्रह्मविद्या संभव नहीं है, इस आक्षेप का निराकरण करते हुए श्रीकण्ठभाष्य में 'अनाश्रमी को भी ब्रह्मविद्या संभव है', यह सिद्धान्त बताया गया है। फिर भी आचार्य श्रीकण्ठ ने अनाश्रमी की अपेक्षा आश्रमी होकर ब्रह्मविद्या ग्रहण करने को श्रेष्ठ बताया है। पूर्व आश्रम से ऊर्ध्व आश्रम में आरोहरण हो सकता है, किन्तु ऊर्ध्वता के लिए पूर्वाश्रम में लौटना निषिद्ध किया गया है। "अरण्यमियात् ततो न पुनरेयात्" यह निषेध वचन है। सभी आश्रमों के लिए ब्रह्मविद्या विहित है। उनमें फल त्याग ही संन्यास है और जितेन्द्रियत्व ही यति का स्वरूप है।

अथर्वशिरस् श्रुति में पाशुपत व्रत विहित है और पुराणों में भी विहित है। इस व्रत में निष्ठावान् को विद्या की प्राप्ति एवं मुक्ति है या नहीं? इस सन्देह का निराकरण करते हुए भाष्यकार ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि यद्यपि पाशुपतव्रतनिष्ठों का आश्रम में समावेश नहीं है तथा विद्या का सहकारी आश्रम धर्म उनमें संभव नहीं है, तथापि उनको भी मुक्ति और विद्या की सम्पत्ति संभव है, क्योंकि वे भी परब्रह्म रुद्र की उपासना में निष्ठावान् हैं। उनका वह पाशुपताश्रम एक स्वतन्त्र आश्रम है, जो परम शिव की प्राप्ति का हेतु है। वह अत्याश्रम संज्ञक एक आश्रमविशेष है। उसमें भी विद्या का साधन ब्रह्मचर्य आदि यति

धर्म समन्वित है। मुक्ति फल इस जन्म में भी संभव है और जन्मान्तर में भी। कर्मों का फल भिन्न भिन्न होता है और सातिशय होता है; किन्तु विद्या का एक ही फल है मुक्ति और वह निरतिशय है। अतः कर्मफल की तरह मोक्षफल में तरतमभाव नहीं है, इस तरह के श्रीकण्ठभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्त सर्वथा शैवागम ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि के अनुसारी है, इसमें सन्देह नहीं है।

इस तरह शैवतन्त्र के प्रमुख ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि एवं वेदान्त सूत्रों पर निर्मित श्रीकण्ठभाष्य दोनों परस्पर पूरक हैं, वीरशैव सिद्धान्त को प्रस्फुटित करते हैं तथा श्रुति एवं तर्कों के आधार पर उनको पुष्ट प्रमाणित करते हैं। इति शिवम् ।



सिद्धान्तशिखामणि और निगमागम-सम्मत अष्टावरण विज्ञान

– श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग –

नम शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्द-घन-स्वात्म-परमात्म-विभासिने ।।

उपक्रम

निगमागमसम्मत वीरशैव दर्शन[1] में तीन तत्त्व प्रधान हैं — (१) अंगस्थानीय अष्टावरण (२) प्राणस्थानीय पंचाचार और (३) आत्मस्थानीय षट्स्थल। सहकारिकारण अष्टावरण और पंचाचारों के माध्यम से षट्स्थलस्वरूप सोपानों पर आरोहण करता हुआ जीव शिवसायुज्य प्राप्त करता है, जिसके विषय में श्रुति कहती है — न स पुनरावर्तते। क्रियासार में नीलकण्ठ शिवाचार्य कहते हैं —

अष्टावरणविज्ञानी पञ्चाचारपरायणः ।
वैदिकं कर्म कुर्वीत ज्ञानैकफलसाधनम् ।।
न कुर्यात् पाशवं कर्म वीरशैवः कदाचन ।।

---

१. निगमागमसम्मत वीरशैवदर्शन—

'निश्चयेन तत्त्वं गमयतीति निगमः।' 'आसमन्ताद् अर्थं गमयतीति आगमः। यद्वा आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः।'

आगतं शिववक्त्रात् तु गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं श्रीवासुदेवस्य आगमस्तेन कीर्तितः ।।

ये व्युत्पत्तियाँ 'निगम' और 'आगम' शब्दों की हैं। वीरशैवदर्शन निगमागमसम्मत है। वेदों को 'निगम' कहते हैं। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इस निर्वचन के अनुसार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थ वैदिक साहित्य हैं। आगम अनेकविध हैं। 'पारमेश्वरागम' के अनुसार वीरशैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, वैनायक और कापालक ये षड्विध आगमसम्मत दर्शन हैं, जिसमें वीरशैवदर्शन सर्वप्रथम है —

वीरशैवं वैष्णवं च शाक्तं सौरं विनायकम् ।
कापालमिति विज्ञेयं दर्शनानि षडेव हि ।। (पार.१.२२-२३)

कारणागम में श्रीगुरु शिष्य को इस प्रकार उपदेश करता है, जिसमें अष्टावरण एवं पंचाचारों में श्रद्धा का प्रतिपादन है —

अष्टस्वावरणेषु त्वं श्रद्धां कुरु प्रयत्नतः ।
प्रवर्तस्व महाबुद्धे पञ्चाचारेष्वपि क्रमात् ।।
(कारणागम क्रि. १.१२८)

'आवरण' शब्द का निर्वचन

निर्वचन की दृष्टि से आवरण शब्द के तीन अवयव हैं। (१) आ (२) वृ (३) ल्युट्। इनमें 'आ' अवयव 'आङ्' और 'आ' दो उपसर्गों में किसी एक का है। 'आङ्' उपसर्ग 'ङित्' है और उसके ङकार का लोप होता है। दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, जैसा कि भाष्य का कथन है।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च या ।
एतमाङं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ।।

आवरण शब्द में 'आङ्' उपसर्ग प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है मर्यादा की अभिविधि। यह हमें उसके दूसरे अवयव भ्वादि गणपठित वृ धातु से होता है—जिसका अर्थ है संवरण। उसका तीसरा अवयव है 'ल्युट्' प्रत्यय। करण अर्थ में इसका प्रयोग करने पर चर्ममय फलक अथवा ढाल होता है। यथा —

विचित्राणि च वासांसि प्राकारावरणानि च ।

महाभारत के इस पद्यार्थ में आवरण शब्द का अर्थ रक्षाकवच ही है। भावार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर इसका अर्थ आच्छादन होता है। इसका वेदान्तसम्मत अर्थ आत्मा के यथार्थ स्वरूप का आच्छादन ही है।

'सिद्धान्तशिखामणि' में 'वीरशैव' शब्द का निर्वचन इस प्रकार है —

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ।।

'वी'कार शिव एवं जीव के ऐक्य अर्थात् लिङ्गाङ्गसामरस्य को बोध कराने वाली विद्या का वाचक है। लिंगाङ्गसामरस्य विद्या में रमण करने वाले शिवभक्त 'वीरशैव' नाम से विख्यात हैं। 'सिद्धान्त' शब्द का योगरूढ अर्थ शैवागम है। कामिक से वातुल तक अठाइस शिवप्रोक्त आगम 'सिद्धान्तागम' कहलाते हैं। प्रत्येक शैवागम के चार पाद होते हैं — क्रियापाद, चर्यापाद, योगपाद तथा ज्ञानपाद (विद्यापाद)। प्रत्येक आगम के उत्तर भाग में वीरशैवदर्शन के तत्त्वत्रय, अष्टावरण, पञ्चाचार तथा षट्स्थल वर्णित हैं, अतः वीरशैवदर्शनागम सभी सिद्धान्तागमों (शैवागमों) में चूडामणिस्वरूप है। 'सिद्धान्तशिखामणि' वीरशैव दर्शन की गीता है, जो 'रेणुकगीता' नाम से भी अभिहित है।

श्री गणपत्यथर्वशीर्ष की फलश्रुति में कहा गया है —**ब्रह्माद्यावरणं विद्याद् न बिभेति कदाचनेति**। जो ब्रह्म की आवरणशक्ति के रहस्य को समझता है, वह कभी भी भयभीत नही होता; क्योंकि वह माया का आवरण भङ्ग करते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ होता है, यही इस फलश्रुति का रहस्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता[१] में 'आ' पूर्वक 'वृ' धातु का दसों बार प्रयोग है। श्रीमान् आदि शङ्कर भगवत्पाद के अनुसार उसके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं— (१) व्यापन, (२) आच्छादन और (३) वेष्टन। एतदर्थ गीता का तेरहवाँ, चौदहवाँ और अठारहवाँ अध्याय द्रष्टव्य है। तन्त्रशास्त्र की आवरण पूजा में आवरण शब्द का अर्थ स्थानविशेष है, जिसके अन्तर्गत केन्द्रबिन्दु में इष्ट देवता तथा अनन्तर के आवरणों में अङ्ग देवताओं के पूजा का विधान है। पातञ्जलयोगदर्शन का अष्टाङ्ग अष्टावरण (रक्षाकवच) ही है। सांख्यदर्शन[२] के माया आदि उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व को आच्छादित करते हैं, अत: वे सात आच्छादन अर्थ में सात आवरण ही हैं। महाज्ञानी निजगुणशिवयोगी ने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। 'आवरण' शब्द की व्याख्या वीरशैव दर्शन सम्मत रक्षाकवच ही है, जिसका विशद विवेचन जगद्गुरु **डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी** ने अष्टावरण विज्ञान, सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा और शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श इन तीन ग्रन्थरत्नों में किया है। वे इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं। आव्रियते देहादिकं येन तद् आवरणम् । आवरण के दो प्रयोजनों का निरूपण करते हुए इसका वीरशैवदर्शन सम्मत अर्थ रक्षाकवच ही करते हैं। इसका मूल वे **चन्द्रज्ञानागम** में खोजते हैं —

---

१. "भगवद्गीता" के तीन पद्य और व्याख्या यहाँ द्रष्टव्य है—

सर्वत: पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। (गीता १३.१३)

शाङ्करभाष्य—आवृत्य=संव्याप्य (अच्छी तरह व्याप्त कर)

"ज्ञानमावृत्य तु तम: प्रमादे सञ्जयत्युत" (गीता १४.९)

शा.भा. आवृत्य=आच्छाद्य (आच्छादित कर, ढ़क कर)

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धि: सा पार्थ! तामसी ।। (गीता १८.२२)

आनन्दगिरि—आवृता=वेष्टिता (घिरी हुई)।

इस प्रकार गीता में आवरण शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) संव्यापन, (२) आच्छादन और (३) वेष्टन।

२. सांख्यदर्शन के अनुसार (१) माया, (२) प्रकृति, (३) महत्तत्त्व, (४) अहङ्कार, (५) पञ्चतन्मात्राएँ, (६) पंच महाभूत और (७) भौतिक पदार्थ सात आवरण ही हैं, क्योंकि ये उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित करते हैं।

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्म-रुद्राक्ष-मन्त्राश्चेत्यष्टावरण-संज्ञिताः ।।
इमानि शिवभक्तानां भवदोषततेः सदा ।
निवारणैककार्याणि ख्यातान्यावरणाख्यया ।।

(चन्द्रज्ञानागम, क्रि. २.२-३)

परिगणन - (१) गुरु, (२) लिङ्ग, (३) जङ्गम, (४) पादोदक (तीर्थ), (५) प्रसाद, (६) भस्म, (७) रुद्राक्ष, और (८) मन्त्र, ये आठ आवरण हैं। यतः ये सांसारिक दोषपरम्परा से शिवभक्तों की रक्षा करते हैं, अतः इनका नाम सार्थक है।

षट्स्थलों में प्रथम भक्तस्थल के पन्द्रह अवान्तर भेद हैं। उक्त आठों आवरण भक्त स्थल से अभिन्न हैं, जैसा कि जगद्गुरु रेणुकशिवाचार्य प्रतिपादित करते हैं। पिण्ड का पिण्डविज्ञान और संसारगुणहेयता के पश्चात् दीक्षादि स्थलों में इनका परिगणन किया गया है[1]।

वीरशैव साधक को आत्मस्वरूप का परिचय के बिना गुरुकृपा के नहीं मिलता है। पाप नष्ट होने पर जिसका अन्तःकरण निर्मल होता है। वह जीवात्मा **पिण्ड** कहलाता है, जो निर्विकल्पक परमात्मा का ही एक अंश है। शिवभक्ति के कारण उसका वह अन्तिम जन्म होता है। देह और देही के भिन्न-भिन्न स्वरूप को समझते हुए जो जीवात्मा अपने से पृथक् प्रेरक परमात्मा के पार्थक्य का विवेक करता है, वह जीवात्मा **पिण्डज्ञानी** होता है। फलस्वरूप वह नश्वर संसार की हेयता को समझ लेता है। इन सबके लिए गुरुकृपा की आवश्यकता होती है। वह गुरुकृपा से त्रिविध दीक्षा प्राप्त करता है। इस प्रकार दीक्षा प्राप्तिरूप गुरुकारुण्यस्थल में गुरुकृपा ,उभयस्थल में गुरु और लिङ्ग का अर्चन तथा विभिन्न स्थलों में लिङ्गधारण, विभूतिधारण, रुद्राक्षधारण, पंचाक्षरमन्त्रजप, जङ्गम का अर्चन, प्रसाद स्वीकृति और पादोदक का निरूपण किया गया है।

पूजनीय आवरण

इन आठ आवरणों में (१) श्रीगुरु, (२) लिङ्ग और (३) जङ्गम आराध्य हैं। **ईशावास्यमिदं सर्वम्** यह ईशावास्योपनिषद् की घोषणा हैं। ॐकार वाच्य निष्कल घन

---

१. भक्तस्थल के अवान्तर भेदों में अष्टावरण का संकेत इस प्रकार है —

अवान्तरस्थलान्यत्र प्राहुः पञ्चदशोत्तमाः ।
पिण्डता पिण्डविज्ञानं संसारगुणहेयता ।।
दीक्षा लिङ्गधृतिश्चैव विभूतेरपि धारणम् ।
रुद्राक्षधारणं पश्चात् पञ्चाक्षरजपस्तथा ।।
भक्तमार्गक्रिया चैव गुरोर्लिङ्गस्य चार्चनम् ।
जङ्गमस्य तथा ह्येषा प्रसादस्वीकृतिस्तथा ।। (सि.शि.म.५.२७)

ज्योतिर्लिङ्ग ही वह ईश है, जिसमें चराचर विश्व व्याप्त है। वह सच्चिदानन्द स्वरूप अखण्ड महालिङ्ग है। **अनुभवसूत्र** के अनुसार उसके तीन स्वरूप हैं— (१) सद्रूप, (२) चिद्रूप और (३) आनन्दरूप। भावलिङ्ग उसका सद्रूप, प्राणलिङ्ग उसका चिद्रूप और इष्टलिङ्ग उसका आनन्दरूप है —

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याद् चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।। (अनु. सू०)

इनमें सद्रूप भावलिङ्ग परम गुरु हैं, चिद्रूप प्राणलिङ्ग जङ्गमस्वरूप है और बिन्दुनादात्मक लिङ्ग इष्टस्वरूप। इनका हृदयादिस्थल में अनुसन्धान क्रमशः गुरु, जंगम एवं लिङ्ग की आन्तर उपासना है। **शिवरहस्य** के अनुसार भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए महालिङ्ग का सद्रूप भावलिङ्ग गुरु के रूप में चिद्रूप प्राणलिङ्ग में जङ्गम शिवयोगी के रूप में और बिन्दुनादात्मक लिङ्ग इष्टलिङ्ग के रूप में प्रकट होता है—

लिङ्गं स्यादिष्टरूपं तु जङ्गमं प्राणलिङ्गकम् ।
भावलिङ्गं गुरुः प्रोक्तं त्रिविधं त्वेकमुच्यते ।। (शिवरहस्य)

गुरु जंगम एवं लिङ्ग की अर्चना परमशिव की ही बाह्य अर्चना है।

(१) श्रीगुरु

व्युत्पत्ति – इस शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं — (१) गिरति अज्ञानमिति गुरुः। जो अज्ञान को ज्ञान द्वारा निगलता है, वह गुरु है। (२) गृणातीति गुरुः, जो उपदेश देता है, वह गुरु होता है। (३) गीर्यत इति गुरुः, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं द्वारा जिसकी स्तुति की जाती है, वह गुरु है। आगमशास्त्र के अनुसार गुरु शब्द में अवस्थित 'गु'कार सिद्धिदाता, रकार पापहारक और उकार सर्वव्यापक परम शिव का वाचक है। अत एव त्रिविध स्वरूप गुरु में निहित है —

गुकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः ।
उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः ।।

सद्रूपं भावलिङ्गं स्याद् चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम् ।
आनन्दरूपमाचार्यैरिष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।। (अनु. सू.)

लिङ्गं स्यादिष्टरूपं तु जङ्गमं प्राणलिङ्गकम् ।
भावलिङ्गं गुरुः प्रोक्तं त्रिविधं चेदमुच्यते ।। (शिवरहस्य)

गुरु के भेद

कुलागम के अनुसार साधना एवं दीक्षा की प्रेरणा, सूचना, गणना, दिग्दर्शन, तत्त्वविवेचन और उपदेशदाता की दृष्टि से गुरु के छः भेद हैं — (१) प्रेरक, (२) सूचक, (३) गणक, (४) दर्शक, (५) बोधक और (६) शिक्षक। इनमें बोधक गुरु श्रेष्ठ है।

गुरु-शिष्य-परंपरा

ईशावास्योपनिषद् में उन आचार्यों की ओर संकेत है, जो ज्ञानकर्मसमुच्चयोपासना एवं सगुण निर्गुणोपासना का उपदेश अपने शिष्यों को देते हैं—

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।

(ईशा. उ. १०,१३)

केनोपनिषद् में भी इसी प्रकार का मंत्र है—

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे । (१.३)

शिवसूत्र के अनुसार गुरु ही एकमात्र उपाय है, जिससे शिव की प्राप्ति होती है— **गुरुरुपायः**। अनुभवसूत्र का कथन है —

गुरूपदेशतः साध्यं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।

मुण्डकोपनिषद् की गुरु-शिष्य-परंपरा इस प्रकार है— (१) आदि गुरु परम शिव, (२) ब्रह्म देव (ज्येष्ठ पुत्र), (३) अथर्वा, (४) अङ्गि, (५) भरद्वाज पुत्र सत्यवाह, (६) अङ्गिरस एवं (७) महर्षि शुनक के पुत्र महर्षि शौनक (मुण्डक. उ. १.१-३)।

महर्षि शौनक महाशाल अर्थात् शिवगृहस्थाश्रमी हैं, जो ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में जाने का इस प्रकार उपदेश देते हैं —

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाऽभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।। (१.२.१२)

यह उपदेश दीक्षा प्राप्ति लक्षण **गुरुकारुण्यस्थल** का द्वार है। शरणागत शिष्य को पंचाक्षर मन्त्रोपदेश देना गुरु का कर्त्तव्य है। (मुण्ड़क.उ.१.२.१३)

कैवल्योपनिषद् का परमेष्ठी

कैवल्योपनिषद् में भगवान् आश्वलायन परमेष्ठी के पास जाकर ब्रह्मविद्योपदेश की प्रार्थना करते हैं—

अथाऽऽश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच–अधीहि भगवो ब्रह्मविद्यां वरिष्ठाम् (कै.उ.१.१)।

भाष्यकार श्रीसदाशिवशास्त्री मंत्रस्थित परमेष्ठिन शब्द की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

परमे व्योम्नि चिदाकाशे तिष्ठतीति परमेष्ठी, तं हृदयपुण्डरीकावच्छिन्नत्वेन भासमानं ज्योतिर्लिङ्गरूपपरशिवाभिन्नं सच्चिदानन्दं गुरुमित्यर्थः।

चिन्मय हृदयकमल के अन्तराल (आकाश) में ज्योतिर्मय स्वरूप में प्रकाशमान परमशिव ही सत् स्वरूप एवं चित् स्वरूप परम गुरु हैं, इनका अनुसन्धान कर उन्होंने ब्रह्मविद्या प्राप्त की। मुण्डकोपनिषद् में शिवतत्त्ववेत्ता गुरु की अर्चना का फल मोक्षप्राप्ति कहा गया है।

कैवल्योपनिषद् में अन्यत्र हृदयकमल में सच्चिदानन्दस्वरूप परमगुरु परमशिव के ध्यान का विधान इस प्रकार वर्णित है —

अत्याश्रमस्थ: सकलेन्द्रियाणि निरुद्ध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ।

ब्रह्मोपनिषद् इसका समर्थन करता है —

गुरुरेव हर: साक्षान्नान्य इत्यब्रवीत् श्रुति: ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार शिष्य की परा भक्ति परमगुरु, परमशिव एवं अपने दीक्षा गुरु में समान रूप से होनी चाहिए। इस प्रकार उपनिषदों में परमशिव स्वरूप परमगुरु की आन्तर पूजा का विधान है।

आगमों के अन्तर्गत प्रत्यक्ष गुरु के कर्तव्य निर्धारित करते हुए **कारणागम** लिखता है—

तनुत्रयगताऽनादिमलत्रयमसौ गुरु: ।
दीक्षात्रयेण सन्दह्य लिङ्गत्रयमुपादिशेत् ।। (१.१०)

जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं — (१) स्थूल (२) सूक्ष्म और (३) कारणशरीर। इनमें यथाक्रम (१) कार्मिक, (२) मायिक और आणवमल विद्यमान रहते हैं। दीक्षा गुरु का कर्तव्य है कि वह (१) क्रिया दीक्षा, (२) मान्त्री दीक्षा और (३) वेधा दीक्षा के द्वारा त्रिविध मल को भस्मसात् करे एवं तदनन्तर क्रिया दीक्षा के द्वारा हृदयस्थल में लिङ्गधारण कराए, मांत्री दीक्षा द्वारा प्राणलिङ्ग के एवं वेधा दीक्षा द्वारा भावलिङ्ग के अनुसन्धान का उपदेश दे शिवज्ञान मुक्तिप्रद है, किन्तु वह ज्ञान बिना दीक्षा के प्राप्त नहीं होता। अत: दीक्षा गुरु अवश्य बनाना चाहिए। चराचर जगत् के स्वामी महादेव ही हमें गुरु रूप में दर्शन देते हैं। जैसा कि सूक्ष्मागम का वचन है —

गुरुरेव महादेव: साक्षात् सर्वजगत्प्रभु: । (५.१०)

सूक्ष्मागम में हृदयाकाशस्थित ज्योर्तिमय परमगुरु का लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित है—

सर्वतत्त्वैकनिलयं सर्वाधारमनूपमम् ।
षड्भावरहितं दिव्यमुक्तं श्रीगुरुलक्षणम् ।।

निरालम्बं निराधारं निर्विकल्पं निरामयम् ।
निर्द्वन्द्वं नित्यसंसिद्धमुक्तं श्रीगुरुलक्षणम् ।।

निधानं सर्वविद्यानां सर्वभूतनियामकम् ।
परात्परतरं सूक्ष्ममुक्तं श्रीगुरुलक्षणम् ।। (५.१४-१६)

इसी दक्षिणामूर्तिस्वरूप परमगुरु का अनुसन्धान करने वाले शिष्य के सम्बन्ध में कहा जाता है —

गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु च्छिन्नसंशयाः ।

गुरुकृपा प्राप्त शिष्य के पास मृत्यु फटकती तक नहीं —

गुरुकारुण्यपीयूषरसास्वादविनोदिनः ।
अमृतस्यास्य निकटे कथं मृत्युः प्रयास्यति ।।
(कारणा. १.३)

परमगुरु तथा उससे अभिन्न सद्गुरु के चरणों पर ही सारा जगत् टिका है —

तस्मात् तत्पादयुगलमाश्रित्यास्ति जगत्त्रयम् ।
(सूक्ष्मा. ५.१६)

परमगुरु पशुपति एवं सद्गुरु दोनों समान हैं, क्योंकि दोनों ही पशु (जीव) के पाश (मल) को दूर करते हैं।

सङ्गिरत्यखिलं तत्त्वं शिष्याय परमार्थतः ।
अतो गुरुरिति प्रोक्तो गुरुत्वादपि पार्वति ! ।।
(सूक्ष्मा. ५.१६)

तत्त्वोपदेश और गुरुत्व दोनों गुरु नाम को चरितार्थ करते हैं। मुकुटागम में श्रीगुरु एवं जंगम की शरण में जाने का विधान प्रतिपादित है।

चन्द्रज्ञानागम के अनुसार शिष्य की शिक्षापात्रता और गुरु का गौरव नाम की सार्थकता में हेतु हैं —

शिष्यस्तु शिक्षणीयत्वाद् गुरुर्गौरवकारणात् । (२.६)

परमगुरु शिव के रुष्ट होने पर गुरु रक्षा करता है, गुरु के रुष्ट होने पर भला कौन रक्षा करेगा? अतः गुरु के कोप से बचना चाहिए और परम गुरु की प्राप्ति के लिए गुरु को ही प्रसन्न करना चाहिए। पारमेश्वरागम के अनुसार मोहान्धकार का विनाशक गुरु सूर्य स्वरूप है —

गुकारोऽन्धं तमः प्रोक्तं रुकारो भास्करोदयः ।
मोहान्धकारहरणाद् गुरुरित्यभिधीयते ।। (१४.९३)

सिद्धान्तशिखामणि के त्रिविध गुरु — 'सिद्धान्तशिखामणि' के **गुरुकारुण्यस्थल** में गुरु का स्वरूप विस्तृत रूप से वर्णित है। गुरु एवं लिंग की पूजा करने वाला भक्त उभयस्थल की कोटि में और उन दोनों के साथ जंगम शिवयोगी की पूजा करने वाला भक्त **त्रिविधसंपत्तिस्थल** की कोटि में प्रविष्ट है। जिसके विषय में यह कहा गया है —

एक एव शिवः साक्षात् सर्वानुग्रहकारकः ।
गुरु-जङ्गम-लिङ्गात्मा वर्तते भुक्तिमुक्तिदः ।।
(सि.शि.म २.५९)

ऐक्यस्थलापन्न भक्त के लिए प्रतिपादित **लिंगाचार** में नवविध लिंगस्थल वर्णित है। उनमें प्रथम तीन स्थलों में सद्गुरु के तीन स्वरूप प्रतिपादित हैं, जो 'गु'कार और 'रु'कार का अर्थ प्रतिपादन करते हुए परमशिव के गुणातीत तथा रूपातीत चिन्मय ज्ञान का निर्वचन करता है, वही 'गुरु' है —

गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।।

(सि.शि.म. १५.८)

परम ज्ञान दान और पाशबन्धन का क्षय करने वाली 'दीक्षा' को प्रदान करने वाला **दीक्षागुरु**[१] होता है। शिष्य के मन में समागत ब्रह्मजिज्ञासा का समाधान करते समय वही दीक्षा गुरु **शिक्षागुरु** बन जाता है[२]। 'शिक्षागुरु' ही सम्यग् ज्ञान प्रदान से **ज्ञानगुरु** होता है[३]। इस प्रकार परम शिव ही गुरु के त्रिविध स्वरूप में भक्तानुग्रहार्थ प्रकट होते हैं। इनके स्वरूप सिद्धान्तसिखामणि में द्रष्टव्य है। इसी प्रसङ्ग में **आचार्य, देशिक** और **जगद्गुरु** की परिभाषाएँ दी गयी हैं। **'जगद्गुरु'** का स्वरूप इस प्रकार है —

षडध्वातीतयोगेन यतते यस्तु देशिकः ।
मायाब्धितारणोपायहेतुर्विश्वगुरुः शिवः ।।
अखण्डं येन चैतन्यं व्यज्यते सर्वजन्तषु ।
आत्मयोगप्रभावेन स गुरुर्विश्वभासकः ।।

(सि.शि.म-१५.१०-११)

वर्णाध्व, पदाध्व, मैत्राध्व, भुवनाध्व, तत्त्वाध्व और कलाध्व इन छः अध्वों को पार कराते हुए शिष्य को संसारसागर से तारने वाला तथा लिंगाङ्गसामरस्यविद्या से सभी प्राणियों में चैतन्य का प्रकाशक उपदेष्टा गुरु **जगद्गुरु** होता है।

---

१. दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः ।।
दीयते परमज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्या गुरुर्दीक्षागुरुः स्मृतः ।। (सि.शि.म.१५.७)

२. दीक्षागुरुरसौ शिक्षाहेतुः शिष्यस्य बोधकः ।
प्रश्नोत्तरप्रवक्ता च शिक्षागुरुरितीर्यते ।। (सि.शि.म.१५.१२)

३. शिववेदकरे ज्ञाने दत्ते येन सुनिर्मले ।
जीवन्मुक्तो भवेच्छिष्यो स गुरुर्ज्ञानसागरः ।। (सि.शि.म.१५.२९)

आन्तरगुरु हृदयकमल में भासमान परम शिव है, उसका निरन्तर अनुसन्धान आन्तर गुरु की अर्चना है। प्रत्यक्ष दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और ज्ञानगुरु का पूजन बाह्य गुरुपूजन है। अज्ञान के आवरक रक्षाकवच होने के कारण गुरु प्रथम आवरण हैं।

गुरुपरम्परा : दिव्यौघ – परम शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुखों से क्रमशः श्री रेणुकशिवाचार्य, दारुकशिवाचार्य, घण्टाकर्णशिवाचार्य, धेनुकर्ण शिवाचार्य और विश्वकर्णशिवाचार्य आविर्भूत होकर कलियुग में क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ लिङ्ग, मल्लिकार्जुन ज्योतिर्लिंग और विश्वेश्वर ज्योतिर्लिंग से उत्पन्न हुए, जो यथाक्रम रेवणाराध्य, मरुलाराध्य, एकोरामाराध्य, पण्डिताराध्य और विश्वाराध्य नामों से अगस्त्य आदि महर्षियों को वीरशैवधर्मोपदेश देकर पुनश्च उन्हीं लिङ्गों में विलीन हुए, अतः उक्त पंचाचार्य वीरशैव दर्शनसम्मत दिव्यौघ में आते हैं।

सिद्धौघ – मुण्डकोपनिषद् में वर्णित ब्रह्मदेव की शिष्यपरम्परा अथर्वा, अङ्गी भरद्वाज पुत्र सत्यवाह, अङ्गिरस एवं महर्षि शौनक सिद्धौघ के अन्तर्गत हैं। उसी प्रकार अगस्त्य-व्यास-सदानन्द-दूर्वासा आदि महर्षि भी सिद्धौघ में समाविष्ट हैं।

मानवौघ – मानवौघ के अन्तर्गत शिवयोगीशिवाचार्य, नीलकण्ठ शिवाचार्य, श्रीपतिपण्डिताराध्य, नन्दिकेश्वर शिवाचार्य आदि परिगणित हैं।

(२) लिङ्ग

ईश – 'ईशावास्योपनिषद्' का 'ईश' महालिङ्गस्वरूप है, जिसका निरूपण इस मन्त्र में है —

तदेजति तन्नेजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ।। (ईशा.५)

महालिङ्ग की गतिशीलता मन से भी तीव्र है। स्थूल क्रिया के अभाव में गतिशील होने पर भी वह निश्चल, स्थिर है। नास्तिकों के लिए दूर है, तो आस्तिको के निकट। वह अन्तर्यामी है, चराचर जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। उसी प्रकार इष्टलिंङ्ग के रूप में वह बाहर भी प्रतिष्ठित है। बिन्दुरूपिणी सूक्ष्म पराशक्ति से विशिष्ट नाद स्वरूप उसका निर्गुण सूक्ष्म स्वरूप है —

बिन्दुरूपा परा शक्तिर्नादरूपः परः शिवः ।
बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं तस्माच्छिवशिवात्मकम् ।।

स्थूलशक्तिविशिष्ट इष्टलिङ्ग उसका सगुण स्थूल स्वरूप है। दोनों की समन्वित उपासना मुक्तिप्रद होती है —

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।। (ईशा.उ. १४)

महालिंग का हृदयस्थल में स्थान आन्तरलिंग पूजा है। आन्तर लिंगोपासना के दो रूप हैं — (१) प्राणलिंग मनोग्राह्य है और सकल निष्कल है। (२) भावलिंग भावैकग्राह्य निष्कल है। इसका अनुसन्धान लिंग की आभ्यन्तर पूजा है, जिसके विषय में केनोपनिषद् कहती है —

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिक्षणात् ।
अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ।। (के.उ. १.३)

अन्तःस्थ शिव – मुण्डकोपनिषद् के अनुसार दृष्टिस्थैर्य द्वारा इष्टलिंङ्ग का तथा मन और भाव की स्थिरता द्वारा ही प्राणलिंग का साक्षात्कार सम्भव है। अतः श्रुति यह उपदेश देती है —

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत् सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सौम्य! विद्धि ।।
(मुण्डक.उ.२.२)

इस मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप अक्षर परमशिव स्वरूप महालिंग का सतत ध्यानोपदेश है। कैवल्योपनिषद् (१.१०) के अनुसार परमशिव सभी भूतों में व्याप्त है। जिस प्रकार वट के बीज में महावृक्ष रहता है, उसी प्रकार परमशिव में सभी भूत वास करते हैं। भाष्यकार सदाशिव शास्त्री के अनुसार वह परमशिव इष्टलिंग के रूप में भक्त के पास सदा रहता है।

सूर्यो मुख्यशरीरं स्यात् शिवस्य परमात्मनः ।

स्कन्दपुराण के इस वचन के अनुसार सूर्यमण्डलान्तर्गत परमशिव की उपासना विधि महानारायणोपनिषद् में वर्णित है, जो अपने ही शरीर में विद्यमान है। इसके चतुर्दश अनुवाक में 'दिव्याय नमः' इस मन्त्र से सहस्रारचक्र और उसमें भासमान त्रिगुणात्मिका महाशक्ति का बोध होता है। 'दिव्यलिंगाय नमः' इस मन्त्र से उस शक्ति से व्याप्त स्वप्रकाश लिंग का ज्ञान होता है, जो इष्टलिंग से अभिन्न है।

त्रिविध शिव

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याऽभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१.१०) के इस मन्त्र के अनुसार भावरूप, प्राणरूप और इष्टरूप परमशिव मल और पाशहरण के कारण 'हर' जरा-मरणरहित होने के कारण अमृत

और क्षरण रहित होने से 'अक्षर' है। देह एवं जीव का वही नियामक है। वह सूक्ष्म शरीर स्वरूप हृदय में अंगुष्ठमात्रपरिमित चिन्मय प्राणलिंग के रूप में वर्तमान है। इष्टलिंग के रूप में स्थूल देह में हम उसे धारण करते हैं। सहस्रार कमल में सत्ताकलामात्र वह भावलिंग के रूप में अवस्थित है। त्रिविध स्वरूप परमशिव का क्रमशः ध्यान धारण एवं सामरस्यानुभव के द्वारा सर्वत्र विद्यमान अविद्या से छुटकारा पाते हैं।

वन का अर्थ

तद्ध तद्वनं नाम तद् वनमित्युपासितव्यम् ।। (के.उ. ४.६)

इस मन्त्र का अर्थ यही है कि सभी इष्टलिंग की उपासना करें। इसमें वन शब्द का दो बार प्रयोग है, जिसमें ब्रह्मश्री शंकरशास्त्री ने प्रथम वन का अर्थ इष्टलिंग और द्वितीय वन का अर्थ भजन किया है। जो महालिंग का आन्तर अनुसन्धान करने में असमर्थ है, उनके लिए इष्टलिंग की बाह्य पूजा का विधान है, क्योंकि महालिंग ही 'घृतकाठिन्य' न्याय से इष्टलिंग के रूप में प्रत्यक्ष होता है, जो सच्चिदानन्दस्वरूप है —

घृतकाठिन्यवन्मूर्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
शिवाद् भेदेन नैवास्ति शिव एव हि सर्वदा ।।

(व्यास)

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' इस शान्ति मंत्र में इष्टलिंग के दर्शन तथा धारण का उल्लेख करते हुए इन्द्रादि देवताओं द्वारा लिंग धारण का इतिवृत्त चित्रित है। एतदर्थ मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में वीरशैव भाष्य द्रष्टव्य है।

लिंगधारणस्थल – सिद्धान्तशिखोपनिषद् में लिंगधारणस्थल इस प्रकार निर्दिष्ट है —

शीर्षे कक्षे वक्षसि कक्षदेशे
नाभौ हस्ते सर्वदा प्राणलिङ्गम् ।
धार्यं यथासम्प्रदायं पुरस्तात्
गुरोर्विदित्वा हृदयं मुख्यमुक्तम् ।।

यहाँ इष्टलिङ्ग को प्राणलिङ्ग इसलिए कहा गया है कि देहत्याग पर्यन्त प्राण के समान ही इष्टलिङ्ग को धारण करना चाहिए —

प्राणवद् धारणीयं तत् प्राणलिङ्गमिदं तव ।

मनोग्राह्य चिद्रूप प्राणलिङ्ग इसलिए भिन्न है, जंगम शिवयोगी जिसका दृश्यरूप है। परशिव की षट् अङ्गस्थलों में स्थिति अनुभवसूत्र में इस प्रकार वर्णित है—

ब्रह्मा हरिश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
साक्षात् परशिवश्चेति क्रमशः षट्स्थलात्मकाः ।।

लिंगधारण दीक्षा – कारणागम में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इष्टलिङ्ग के जलाधिवास संस्कार से लेकर प्राण प्रतिष्ठापूर्वक शिष्य को लिंग प्रदान पर्यन्त इस विधि में गुरु शिष्य को लिंग निष्ठा का उपदेश देता है और इष्टलिंग में मन के विलय की दीक्षा देता है। शैवी कला भावना इष्टलिंग में करते हुए जीव की प्राणकला का इष्टलिंग में प्रवेश कराता है। इस प्रकार भक्त गुरु प्रदत्त इष्टलिंग को जीवन भर धारण कर सकता है। कारणागम के सप्तम पटल में सह लिंगस्थलों का आन्तरपूजा विधान एवं अष्टम पटल में तान्त्रिक पूजा पद्धति प्रतिपादित है।

शब्दनिर्वचन – सूक्ष्मागम के अनुसार लिंग शब्द में अवस्थित लिकार, लय, बिन्दु और गकार क्रमशः विलय, स्थिति और सृष्टि के वाचक हैं —

लिकारो लयबुद्धिस्थो बिन्दुना स्थितिरुच्यते ।
गकारात् सृष्टिरित्युक्ता लिङ्गं सृष्ट्यादिकारणम् ।।

(सूक्ष्मा. ६.५)

जिसमें प्रलयकाल में समस्त चराचर जगत् का विलय होता है और सृष्टिकाल में जिससे वह व्यक्त होता है, वही लिङ्ग है —

लीनं प्रपञ्चरूपं हि सर्वमेतच्चराचरम् ।
सर्गादौ गम्यते यस्मात् तस्माल्लिङ्गमुदाहृतम् ।।

(सूक्ष्मा. ६.६)

नादबिन्दुरूप शिव – चन्द्रज्ञानागम के अनुसार ॐकार वाच्य प्रणवस्वरूप लिङ्ग का सूक्ष्मस्वरूप नाद है और सूक्ष्म परा शक्ति बिन्दु उसकी पीठिका। महालिङ्ग नाद-बिन्दु-कला का समन्वित रूप है। प्रणव की वेदिका पर अपर बिन्दु, अपरनाद, परबिन्दु एवं परनाद इस प्रकार चतुर्विध रूप में बिन्दुनादमय शिव प्रतिष्ठित है। उसी से चराचर जगत् व्यक्त होता है और उसी में लीन होता है। इष्टलिङ्ग उसका प्रत्यक्ष विग्रह है। अतः प्रपञ्च के माता-पिता की आन्तर पूजा बिन्दु नादात्मक लिंङ्ग के अन्तःसन्धान एवं इष्टलिङ्ग के बाह्यपूजन से अवश्य सम्पादित करनी चाहिए। (चन्द्र. ३.१०-१७)

बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्मशब्दाभिधेयकम् ।

(सि.शि.म ६.३८)

'बृहत्' (विस्तारशील) और बृंहण (विस्तार) शक्तिसम्पन्न होने के कारण उसे ब्रह्म कहते हैं, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह केवल भावग्राह्य है। भावलिंग का लक्षण चन्द्रज्ञानागम में द्रष्टव्य है।

पंचसूत्र लिंग – मकुटागम के अनुसार पूजन के योग्य पंचसूत्र लिंग के तीन भाग होते हैं — (१) बाणलिंग, (२) पीठ और (३) गोमुख। बाणलिंग शिव है और पीठ उसकी शक्ति। पंचसूत्र लिंग में दोनों सम (बराबर-बराबर) होना चाहिए। अर्थात् (१) बाणलिङ्ग की वर्तुलाकृति (गोलाई), (२) पीठ की लम्बाई (दैर्घ्य) (३) चौड़ाई (विस्तार) तथा (४) उँचाई (औन्नत्य) आकार की दृष्टि से समान होना चाहिए । गोमुख का आकार बाणलिङ्ग और पीठ दोनों से आधा होना चाहिए।

लिङ्गवृत्तसमं पीठं दीर्घं विस्तारमुन्नतम् ।
तदर्धं गोमुखं चैव पञ्चसूत्रं प्रकीर्तितम् ।।

(मकुट. ४.४६)

धारण के योग्य इष्टलिंग आकार में आधा अंगुल से कम और एक अंगुल से बड़ा नहीं होना चाहिए। एक अंगुल आठ यव के बराबर होता है। गुरुप्रदत्त इष्टलिंग में पंचसूत्र का लक्षण का विचार नहीं होता। पंचसूत्र लक्षण भुक्तिमुक्तिफलप्रद होता है।

षड्विध महालिंग – चन्द्रज्ञानागम (३.२३-३०) के अनुसार त्रिविध महालिङ्ग के छः भेद हैं। (१) भावग्राह्य—यह निष्कल परात्पर और भावैकग्राह्य है, जो द्विविध है — महालिंग और प्रसादलिंग (२) प्राणलिंग सकल-निष्कल और मनोग्राह्य है। वह भी द्विविध है—चरलिंग एवं शिवलिङ्ग (३) सकल दृष्टिग्राह्य इष्टलिंग होता है, जो गुरुलिंग और आचार्य लिंग के रूप में द्विविध है। इनमें आचार्य लिंग परम शिव के सद्योजात स्वरूप से, गुरुलिंग वामदेव स्वरूप से, शिवलिग अघोर मुख से, चरलिंग तत्पुरुष मुख से, प्रसादलिंग ईशानमुख से, तथा महालिङ्ग अखण्ड शिव स्वरूप है। इष्टलिंग का सम्बन्ध स्थूल शरीर से, प्राणलिंग का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से और भावलिंग का सम्बन्ध कारण शरीर से है। (चन्द्र.३.४५)

आकाश लिंगस्वरूप है और पृथिवी उसकी पीठिका। सभी प्राणियों का आलय और विलय स्थान यही है—

आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका ।
आलयः सर्वभूतानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ।।

(चन्द्र.३.५१)

विभिन्न शिवलिङ्ग – पारमेश्वरागम के अनुसार स्थावरजंगम स्वरूप जगत् ही शिवलिङ्ग स्वरूप है। स्थूल दृष्टि से नर्मदा आदि नदियों से उत्पन्न प्राणलिङ्ग, प्रस्तर शिला निर्मित, पारद, सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता, शीशा और रुद्राक्ष लिङ्ग प्रत्यक्ष दृश्य पूजनीय और विभिन्न फलप्रद हैं। इनमें 'शिवनाभ' और गुरु प्रदत्त इष्टलिंग उत्तम होते हैं। (पारमे.३.३२)

सिद्धान्तशिखामणि (२.४-१७) के अनुसार लिङ्ग धारण दो प्रकार का होता है। हृदयादि स्थल में इष्टलिङ्ग के अतिरिक्त अन्य विविध लिंगों का अनुसन्धान आन्तर लिंगधारण है जो कठिन है। अतः अपरिच्छिन्न परम शिव अपनी ही माया से परिच्छिन्न इष्टलिङ्ग के रूप में दर्शन देते हैं —

अपरिच्छिन्नमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्म सनातनम् ।
उपासनार्थमन्तस्थं परिच्छिन्नं स्वमायया ।।

वह इष्टलिङ्ग श्रीशैलपर्वतशीला, स्फटिक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, नर्मदोद्भव बाणलिङ्ग कोई भी हो सकता है। शिवयोगी को भी लिंग स्वरूप परम शिव का आन्तर ध्यान करने के लिए इष्टलिंग धारण अनिवार्य है। अन्तर्बाह्य लिंगार्चन एवं लिंगधारण जीवात्मा (पशु) को पाश (कर्मबन्धन) से मुक्ति और मलत्रय का प्रक्षालन करता है, यही अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग दृष्टि से लिंगार्चन का महत्त्व है।

(३) जङ्गम

अर्थ – 'शब्दस्तोममहानिधि' के अनुसार 'जङ्गम' का अर्थ गतिशक्ति से विशिष्ट है। 'अमरकोष' के अनुसार इसका अन्य पर्याय चर है—'चरिष्णु जङ्गम चरम्'। चरिष्णु (गतिशील) इसका अर्थ है।

जंगम प्राणलिंग – 'ईशावास्योपनिषद्' का 'ईश' त्रिविध 'परम शिव' है, जिसमें अन्यतम 'जंगम' प्राणलिङ्ग है। इसमें शिवरहस्य का वचन प्रमाण है—'जङ्गमं प्राणलिङ्गकम्।' इसी प्रकार ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री 'सम्भूतिं च विनाशं च' (ईश.उ. १४) इस मन्त्र में अवर्ण लोप द्वारा सम्भूति पद को असम्भूति कहकर उसका अर्थ 'सूक्ष्म शक्तिविशिष्ट-निर्गुण-शिवोपासना' करते हैं। आगम के अनुसार वह परा सूक्ष्मशक्ति बिन्दुरूपिणी है और निर्गुण परशिव नादरूप —

बिन्दुरूपा परा शक्तिर्नादरूपः परः शिवः ।
बिन्दुनादात्मकं लिङ्गं तस्माच्छिवशिवात्मकम् ।।

यह सूक्ष्म शक्ति विशिष्ट निर्गुण परशिव जंगम प्राणलिङ्ग से भिन्न नहीं है, जिसके विषय में श्रुति कहती है—तत्प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गम् । अनुभवसूत्र के अनुसार यह मनोग्राह्य होने के साथ ही सकल निष्कल स्वरूप भी है —

प्राणलिङ्गं मनोग्राह्यं भवेत् सकलनिष्कलम् ।

केनोपनिषद् के प्रथम मंत्र में यह जिज्ञासा है—'केन प्राण: प्रथम: प्रैति युक्त: ?' प्राणवायु किसके द्वारा प्रेरित होकर इन्द्रिय व्यापार के पूर्व प्रयुक्त होने के कारण जेष्ठ स्थान प्राप्त करते हुए यत्र-तत्र विचरण करता है? इसका उत्तर द्वितीय मंत्र में है—'स उ प्राणस्य प्राण:'। प्राणवायु में व्याप्त उसका अधिष्ठाता प्राणलिङ्ग ही प्राणियों को जीवन प्रदान करता है। जङ्गम प्राणलिङ्ग की मनोग्राह्यता में अन्य श्रुतिवचन भी प्रमाण है—'मनसैवाऽनुद्रष्टव्यम्', मनसैवेदमाप्तव्यम् दृश्यते त्वग्रया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि:। परब्रह्म परमशिव ही शिव से लेकर धरणीपर्यन्त छत्तीस तत्त्वों में घृतकाठिन्यन्याय से प्राणलिङ्ग के रूप में अधिष्ठित रहता है। अनुभवसूत्र के अनुसार यह प्राणलिङ्ग चिद्रूप है—'चिद्रूपं प्राणलिङ्गकम्'। इसी के विषय में आगे श्रुति कहती है —

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राण: प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

(के. उ. १.८)

प्राणवायु द्वारा प्राणलिंग सञ्चालित नहीं होता है, प्रत्युत परमशिव ही प्राण-अपान-व्यान-उदान समान नामक पञ्चप्राण शरीर में प्राणलिङ्ग के रूप में अधिष्ठित होकर प्राणियों में जीवन सञ्चार करता है। प्राण ही प्राणियों के देह धारण का हेतु है —

प्राण एव मनुष्याणां देहधारणकारणम् ।

प्राणाधार परमशिव है, जिसके द्वारा प्राण प्रतिष्ठित है। परमशिव का कोई आधार नहीं हैं —

तदाधार:, शिव: प्रोक्त: सर्वकारणकारणम् ।
निराधार: शिव: साक्षात् प्राणस्तेन प्रतिष्ठित: ।।

इसके विषय में मुण्डकोपनिषद् कहती है —

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राण: पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।

(मु.उ. ३.१.९)

वह प्राणलिङ्ग 'अणु' अत्यन्त सूक्ष्म है। मन के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। अणु स्वरूप जिस प्राणलिङ्ग में प्राण पञ्चरूपों में प्रविष्ट है, वह चित्त (अन्त:करण)

चक्षुरादि समस्त ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के साथ पञ्चप्राणों से ओत-प्रोत है। आकाशस्वरूप लिङ्ग में जब प्राणों का विलय होता है, तब जीवात्मा प्राणलिङ्गी कहलाता है —

चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम् ।
प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ।।

शिवयोगिप्रदीपिका का यह वचन इसमें प्रमाण है। प्राणियों के सूक्ष्म शरीर में भक्तानुग्रहार्थ परिच्छिन्न 'अणु' स्वरूप में विद्यमान है, यद्यपि उसका आकाश स्वरूप अपरिच्छिन्न है—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति', 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्याति श्रुति वचन इसमें प्रमाण है।

कारणगत चिदाकाश में जो भाव लिंग प्रतिष्ठित है, वही पंचप्राण और स्थूल शरीर के अधिष्ठाता के रूप में विद्यमान मनोमय प्राणलिङ्ग है—'मनोमयः प्राण शरीर नेता प्रतिष्ठितः'।

जङ्गम का आन्तर और बाह्य अर्चन – इसी चिद्रूप प्राणलिङ्ग का चित्त द्वारा अनुसन्धान जङ्गम का आन्तरिक अर्चन है। 'चिति' उसकी विकसित शक्ति है और 'चित्त' उसका संकुचित स्वरूप। शिवयोगी उसका दृष्टिकला ग्राह्य प्रत्यक्ष गतिशील स्वरूप है, जिसकी अर्चना जंगम की बाह्य अर्चना है। इष्टलिंग के समान शिवतत्त्ववेत्ता जंगम की भी पूजा करनी चाहिए, जिससे सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते यांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।
(मु. उ. ३.१.१०)

कैवल्योपनिषद् इसी के विषय में कहती है —

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत् ।
(कै.उ.१.१६)

और —

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

मनोमय सूक्ष्मतम प्राणलिङ्ग के रूप में परमशिव हृदय कमल के अन्तराल में अधिष्ठित है, जिससे प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रिय व्यक्त होते हैं। **श्वेताश्वतरोपनिषद्** के अन्तर्गत नदीरूप में वर्णित प्राणलिंग के रूप में प्रतिष्ठित परशिव स्वरूप परब्रह्म को पञ्चप्राणोर्मि कहा गया है, जो हृदयकमल में अवस्थित रहती है, जिसके निरन्तर चिन्तन से मोहकारिणी माया की

निवृत्ति होती है। (आत्ममनःसंयोग से प्राणलिंग का साक्षात्कार किया जा सकता है, जो मोक्षप्रद है —

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सर्वें ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ।।
(श्वेताश्व. उ. २.२)

प्राणवायु के अधीन ही मंत्रोच्चारणादि कर्म हैं, अत एव मुमुक्षु का मन मंत्रजप में लगता है —

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुह्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र सञ्जायते मनः ।।
(श्वेताश्व. उ. २.६)

अत एव प्राणायाम का उपदेश इस उपनिषद् में है, जिससे मलक्षय हो।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
(श्वे. उ. ३.१३)

इसी प्राणलिंग का स्वरूप है। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' उसी का वर्णन है।

महानारायण उपनिषद् में 'सुवर्णलिङ्गाय नमः' के द्वारा शिखाचक्रव्यापी चित्कलात्मक प्राणलिंग का अनुसन्धान किया जाता है, जो परमशिव का आभ्यन्तर जङ्गम स्वरूप है।

'सिद्धान्तशिखोपनिषद् के प्रारम्भिक 'शं नो मित्रः' इत्यादि शान्तिमंत्र की व्याख्या करते हुए ब्रह्मश्री शङ्करशास्त्री ने 'मित्र' शब्द का निर्वचन किया है और यह प्रतिपादित किया कि यह मित्र सूर्य न होकर सभी जीवों के हृदयाकाश में भासमान प्रेरक प्राणलिङ्ग है। इसमें 'स एषोऽन्तहृदय आकाशः' और —

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति' ।

यह गीता वाक्य प्रमाण है।

जंगम शिवयोगी – प्राणलिङ्ग का दृक्कलाग्राह्य प्रत्यक्ष स्वरूप जंगम शिवयोगी है। वह अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में क्रमशः इष्टलिंग, प्राणलिंग एवं भावलिंग को धारण करते हुए भूतल पर विचरण करते हुए जीव का पशुत्व और पाश दूर करता है—

शरीरत्रितये भक्त्या लिङ्गं परशिवात्मकम् ।
यो धृत्वा विचरेद् भूमौ स पाशुपत उच्यते ।।

सूक्ष्मागम के अनुसार देह और इन्द्रियों से परे रहने वाले अपने मन को भी शिव में समर्पित करने वाले योगी के हृदय में भासमान चिद्रूप प्राणलिङ्ग आभ्यन्तर जंगम है।

त्यक्तदेहेन्द्रियगुणः शिवार्पितनिजान्तरः ।
शिव एव मनो लीनं प्राणलिङ्गं तदुच्यते ।।

(सूक्ष्मा. ८.१६)

प्रत्यक्ष दृश्य जंगम त्रिविध है—स्वयंजङ्गम, चरजंगम और परजंगम। गुरु प्रदत्त इष्ठलिंग पूजन के अतिरिक्त बाह्य-कर्मकाण्ड का परित्याग करने वाला शिवयोगी स्वयं लिङ्ग (स्वयं जंगम) है। लिंगस्वरूप से अपने को अभिन्न समझने वाला, निर्भीक और भ्रान्ति रहित स्वच्छन्दचारी शिवयोगी चरलिङ्ग या चर जंगम कहलाता है। राग-द्वेष, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों से परे स्थिरचित्त, जन्ममरणचक्र से मुक्त जीवन्मुक्त ज्योति लिङ्गस्वरूप शिवयोगी परलिङ्ग अथवा परजङ्गम नाम से प्रसिद्ध है। जंगम के भक्त भी छः प्रकार के होते हैं—मोही, एकभक्त, एकपूजक, एकवीर, एकप्रसादी और एकप्राणी।

चन्द्रज्ञानागम के अनुसार जङ्गम के द्विविध स्वरूपों में मान्त्रिक जङ्गम इष्टलिंग ही है। सहज जङ्गम माहेश्वर चर भक्त, शैव और जंगम के नाम से विख्यात है। उसके तीन भेद हैं — ब्रह्मचारी, गृहस्थ और निराभारी। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। उनके भक्तिचिह्न, आन्तरिक और बाह्यचिह्न चन्द्रज्ञानागम में द्रष्टव्य है।

'पारमेश्वरागम' के अनुसार जंगम जितेन्द्रिय जङ्गम शिवयोगी सर्वत्र विचरण कर सकता है।

जीव छः अंगस्थलों के रूप में विभक्त है—भक्त, माहेश्वर, प्रसादी, प्राणलिंगी, शरण और शिवलिङ्गैक्यस्थल। इनमें अन्तिम तीन स्थलों को छोड़कर प्रथम तीन स्थलापन्न जीवों के लिए जंगमार्चन आवश्यक है। उसी प्रकार अनादिशैव, आदिशैव, अनुशैव और महाशैव—इन चतुर्विध वीरशैवों को जंगमार्चन विहित है। महाशैव तो बिना जंगमार्चन और उसका प्रसाद ग्रहण कराये स्वयं भोजन नहीं करता। जंगम शिवयोगी गुरु प्रणाम पूर्वक लिंगधारी शिवयोगियों के यहाँ भिक्षाटन करे। गृहस्थ शिवयोगी जंगम शिवयोगी का सत्कार करे।

'सिद्धान्तशिखामणि' के अनुसार द्विविध लिङ्गों में अजङ्गम (स्थावरलिंग) आदि होता है और जंगम शिवलिङ्ग शिवयोगी परमेश्वर में नित्य वास करने के कारण जंगम लिङ्ग श्रेष्ठ होता है। शिवयोगी का सत्कारादि मोक्षप्रद होता है। इष्टलिंग एवं गुरु की कोटि में ही जंगम की पूजा करनी चाहिए।

जंगम कौन है?

जानन्त्यतिशयाद् ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः ।।

(सि.शि. ११.३६)

'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इस श्रुति वाक्य के अनुसार जो विश्व को प्रकाशित करने वाले शिव को स्वस्वरूप से अभिन्न समझते हैं, वे शिवयोगी जंगम कहलाते हैं। वे अपने शिवयोग (लिंगाङ्गसामरस्य) से सम्पूर्ण जगत् को चिन्मय समझते हैं और निर्मल हो जाते हैं। वे काम-क्रोध मोहादि विकारों को जीत कर सभी में समदृष्टि रखते हैं। ऐसे जंगम शिवयोगियों की चरण धूलि से गृहस्थों के घर पावन हो जाते हैं।

अभेद दृष्टि – वस्तुतः गुरु, जंगम एवं इष्टलिंग में अभेद दृष्टि रखनी चाहिए और समान रूप से उनकी अर्चना करनी चाहिए, क्योंकि महालिंग का वही साक्षात्कार करता है, जो लिंगाङ्ग सामरस्य को जानता है। उसके त्रिविध स्वरूपों में प्राणलिंग प्राणिमात्र के अन्तःकरण में चिद्रूप में विद्यमान है। सद्रूप भावलिंग भावनामात्र ग्राह्य है। इन दोनों का साक्षात्कार बिना गुरु कृपा के संभव नहीं है। अतः गुरु का अर्चन परमावश्यक है, जो भावलिंग का प्रत्यक्ष विग्रह है। मनोग्राह्य प्राणलिंग का प्रत्यक्ष विग्रह जंगम शिवयोगी है, जिसके सन्मार्गोपदेश से प्राणलिंग का मन से साक्षात्कार करते हुए भावलिंग के निरन्तर अनुसन्धान द्वारा जीव महालिंग में विलय प्राप्त करता है। इष्टलिंग सच्चिदानन्द स्वरूप महालिङ्ग का घृतकाठिन्यन्याय से पिण्डीभूत दृक्कला ग्राह्य स्थूल विग्रह है। सद्रूप भावलिङ्ग, चिद्रूप प्राणलिङ्ग और आनन्दस्वरूप महालिंग का आन्तरिक अनुसन्धान गुरु, जंगम और लिंग की आन्तर अर्चना है। गुरु, जंगम और इष्टलिंग यथाक्रम उनके अभिन्न स्वरूप हैं। इनकी बाह्य पूजा से ही आंतर अनुसन्धान संभव है।

पूजा-साधन

अष्टावरणों में गुरु-लिंग-जंगम स्वरूप आराध्य परम शिव के तीन पूजा साधन हैं— (१) विभूति, (२) रुद्राक्ष और (३) मन्त्र। शिवपूजा में जो विश्वास नहीं रखते, मृत्युलोक में विचरण करने वाले पापात्मा इष्टलिंगधारण, भस्म धारण-भस्मोद्धूलन और रुद्राक्षधारण से द्वेष करते है, जैसा कि सिद्धान्तशिखोपनिषद् का मन्त्र है —

पापपूर्णस्य मर्त्यस्य त्रिपुण्ड्रोद्धूलने शिवे ।
रुद्राक्षधारणे द्वेषः स्वत एव प्रजायते ।।

(सि. शि. उ. ३.५)

आराध्य के भस्म, रुद्राक्ष और मन्त्र इन पूजासाधनों का परित्याग करने वाले नास्तिक का अन्त्यजवत् परित्याग करना चाहिए, यह **वृद्धशातातप** की आज्ञा है।

(४) विभूति (भस्म)

ऐसे पापात्मा न तो इष्टलिंग के त्रिपुण्डधारण में श्रद्धा रखते हैं और न पाँच शैव मुद्राओं में विद्यमान भस्मघुण्टिकाओं में —

महादेवे त्रिपुण्ड्रस्य धारणे भस्मकुण्ठने ।
पुण्यलेशविहीनस्य श्रद्धा नैव प्रजायते ।।

(सि. शि. उ. ६)

भस्मधारण लिङ्गधारण स्वरूप महाव्रत का प्रधान अङ्ग है। सिद्धान्तशिखोपनिषद् यह उपदेश देती है कि वीरशैव साधक भक्तों के कर्तव्य-कोटि में सर्वप्रथम शिवतीर्थ में स्नान, भस्मोद्धूलन और त्रिपुण्ड्रधारण है —

स्नानं कृत्वा शिवतीर्थेऽथ देहं
सर्वं भस्मोद्धूलनात् पावयित्वा त्रिपुण्ड्रं धार्यम् ।।

(सि. शि. उ. १६)

इस मन्त्र के व्याख्यान प्रसङ्ग में ब्रह्मश्री शंकरशास्त्री ने सप्रमाण यह प्रतिपादन किया है कि 'अग्निः' इत्यादि मन्त्र से भस्म लेकर 'सद्योजातं प्रपद्यामि' इत्यादि मंत्र से चरण से मस्तक पर्यन्त सर्वाङ्ग में भस्मोद्धूलन करना चाहिए। यजुर्वेद का वचन है — 'भूत्यै न प्रमदितव्यम्।'

त्रिपुण्ड्रधारण – त्रिपुण्ड्र शिव से अभिन्न होने के कारण इसकी निन्दा शिवनिन्दा है एवं त्रिपुण्ड्र धारण शिव की अर्चना। 'त्रियायुषम्' मंत्र से त्रिपुण्ड्रधारण का विधान है। 'त्रिपुण्ड्र' भस्म तीन रेखाओं की संज्ञा है, जिसमें ऊर्ध्व सामवेद का, मध्यपुण्ड्र यजुर्वेद का और अधःपुण्ड्र ऋग्वेद का प्रतीक है —

ऊर्ध्वपुण्ड्रं भवेत् साम मध्यपुण्ड्रं यजूंषि च ।
अधःपुण्ड्रं ऋचः साक्षात् तस्मात् पुण्ड्रं त्रियायुषम् ।।

श्रौत भस्म पर श्रद्धा न रखने वालों का गर्भाधानादि संस्कार व्यर्थ है, यह जाबालोपनिषद् की घोषणा है। सिद्धान्तशिखोपनिषद् में पातक-उपपातकों की भर्त्सना करने के कारण भस्म नाम की सार्थकता इस प्रकार प्रतिपादित है —

भर्त्सनात् पापौघगिरेर्भस्मेत्याहुः सत्यमेतत् ।

(सि. शि. उ. १७)

आगे चलकर ग्यारह अवयवों में यथाक्रम भस्म धारण का उपदेश इस प्रकार है —

स्थानं त्रिपुण्ड्रस्य शिरोललाटवक्षः स्कन्धः मणिबन्धेषु ।
नाभिप्रदेशे पार्श्वयोर्गण्डप्रदेशे गुल्फयोश्च क्रमात्स्यात् ।।

(सि. शि. उ. १८)

वीरशैवाचारप्रदीपिका के अनुसार बत्तीस, सोलह, पन्द्रह, ग्यारह अथवा कम से कम पाँच स्थानों में त्रिपुण्ड्र धारण का विधान है।

त्रिपुण्ड के तीन पुण्ड्र एक ओर आहवनीय, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि त्रिविध अग्नि के प्रतीक है, तो दूसरी ओर भूलोक, अन्तरिक्ष और द्युलोक तीन लोकों का। उसी प्रकार वे सत्व, रज और तम इन तीन गुणों के प्रतीक हैं, तो इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन शक्तियों के भी। अत एव त्रिपुण्ड्रधारी के दर्शन मात्र से पापराशि से मुक्ति मिलती है—

वह्नित्रयं च जगत्त्रयं च यद् गुणत्रयं तच्छक्तित्रयं स्यात् ।
धृतत्रिपुण्ड्रं यदि कोऽपि दैवात् तं दृष्ट्वाऽन्यः पातकौघाद् विमुक्तः ।।
(सि. शि. उ. १९)

इस प्रकार भस्मधारण की फलश्रुति इस उपनिषद् में वर्णित है।

भूतिपट्टदीक्षा – कारणागम में दीक्षागुरु के द्वारा भूतिपट्टदीक्षा से अनादिमल के निवारणार्थ भस्मोद्धूलन एवं भस्मधारण कराने का विधान किया गया है—

अनादिमलसंहत्यै भूतिपट्टाख्यदीक्षया ।
स्नानमुद्धूलनं भूत्या धारणं चापि कारयेत् ।।
(कारणा. १.८३)

कारणागम के तृतीय पटल में पूजनीय इष्टलिंग को भस्म धारण कराने एवं स्वयं भस्मधारण करने का विधान प्रतिपादित है, जिसमें प्रत्येक अवयव में शुद्ध भस्मलेपन के विविध मंत्र है, इसी को 'भस्मोद्धूलन' कहते हैं। तदनन्तर हथेली में भस्म द्वारा षट्कोण और उसमें षडक्षर शिव मंत्र लेखन विधि तथा उसके पश्चात् बत्तीस स्थानों पर भस्मधारण का विधान प्रतिपादित है। (कारणा.४१.४९)

भस्मनिर्माणविधि – चन्द्रज्ञानागम में पंचाक्षर मंत्र द्वारा धेनु का अभिमन्त्रण, तृण-जल दान, गोदोहन, गोमूत्र और गोमय ग्रहणादि , गोमय पिण्ड निर्माण, उनकी आहुति द्वारा भस्म निर्माण विधि वर्णित है। इसकी अन्य संक्षिप्त विधि भी है।

त्रिविध भस्मों में गोयोनि से निकलते समय हाथ में लिए हुए गोमय पिण्ड का ब्रह्म मंत्रों से सन्दग्ध भस्म 'शांतिक', जमीन पर गिरने से पहले संगृहीत गोमय पिण्ड का षडङ्गमंत्रों से निर्मित भस्म 'पौष्टिक' और अनायास पृथ्वी पर गिरे पिण्ड का प्रसाद मंत्र से संदग्ध भस्म 'कामद' कहलाता है। शिवयोगी के लिए शिवाग्नि से उत्पन्न, मुनियों के लिए विरजानल से उत्पन्न, गृहस्थों के लिए औपासनाग्नि का भस्म, ब्रह्मचारियों के लिए समिधा का भस्म, त्रैवर्णिकों के लिए अग्निहोत्र का भस्म, शूद्रों के लिए श्रोत्रिय के पराग्नि का भस्म तथा

सर्वसाधारण के लिए दावानल का भस्म धारण योग्य होता है। उद्धूलन, अवगुण्ठन और त्रिपुण्ड्र के भेद से उसका त्रिविध उपयोग है। अन्य विषय पूर्ववत् प्रतिपादित हैं।

पारमेश्वरागम में विभिन्न मंत्रों द्वारा सिद्ध आदि विभिन्न अवयवों में भस्मधारण विधि निरूपित है। (पार. ५.२०-२३)। भस्म निर्माण विधि के अन्तर्गत कपिला गौ का गोमय भस्म श्रेष्ठ कहा गया है। भस्मसंग्रह के लिए मृण्मय, काष्ठनिर्मित अथवा धातु का पात्र होना चाहिए और धन के समान उसको सुरक्षित रखना चाहिए। प्रवासकाल में भस्म को लेकर साथ चलने वाले व्यक्ति की पात्रापात्रता का भी विचार किया गया है। अनन्तर भस्म धारण विधि और भस्ममहिमा प्रतिपादित है।

भस्म के पर्याय – भसित, भस्म, भूति और रक्षा भस्म के पर्याय हैं, जो साथक हैं—

भसनात् भसितं प्रोक्तं भस्म कल्याणभक्षणात् ।
भूतिर्भूतिकरी यस्माद् रक्षा रक्षाकरी यतः ।।
(पारमे. १७.६०-६१)

भक्तस्थल के पन्द्रह अवान्तर भेदो में षष्ठ 'विभूतिधारणस्थल' है, जिसका प्रतिपादन सिद्धान्तशिखामणि के सप्तम परिच्छेद में है।

'स एष भस्मज्योतिः, स एषः भस्मज्योतिः' यह भस्मजाबालोपनिषद् का मंत्र भस्मज्योति को परमशिव का ज्योतिर्लिङ्गस्वरूप प्रतिपादित करता है। उसके पाँच नाम सार्थक हैं—

विभूतिर्भूतिहेतुत्वाद् भसितं तत्त्वभासनात् ।
पापान्तं भर्त्सनात् भस्म क्षरणात् क्षारमापदाम् ।
रक्षणात् सर्वभूतेभ्यो रक्षेति परिगीयते ।।
(भस्म. उ. ६.५-६)

विभूति अथवा 'भूति' के सम्बन्ध में अमरकोष प्रमाण है —

विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा ।

नानार्थ वर्ग में 'भूति' अथवा 'विभूति' के दो अर्थ प्रतिपादित हैं—भस्म और ऐश्वर्य 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि'। इन्ही प्रमाणों से 'विभूति' अथवा 'भूति' का ऐश्वर्य हेतुत्व सिद्ध है। 'पापानां भर्त्सनात् भस्म' इस प्रकार भस्म शब्द की सार्थकता का 'भर्त्सनात् पापौघगिरेः भस्मेत्याहुर्मनीषिणः सत्यमेतत्' सिद्धान्तशिखोपनिषद् का यह मंत्र भी प्रमाणित करता है।

पंचविध भस्म – सिद्धान्तशिखामणि के अनुसार इन पाँचों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

	भस्मभेद	गौ	वर्ण	गौ का जनक	विनियोग
१.	विभूति (भूतिकर)	नन्दा	कपिल	सद्योजात	नित्यकर्म में
२.	भसित (तत्त्वभासन)	भद्रा	कृष्ण	वामदेव	नैमित्तिक कर्म में
३.	भस्म (भर्त्सन)	सुरभि	धवल	अघोर	सर्व प्रायश्चित कर्म में
४.	क्षार (क्षरण)	सुशीला	धूम्र	तत्पुरुष	–
५.	रक्षा (रक्षण)	सुमना	रक्त	ईशान	मोक्षार्थ

(सि.शि.म. ७.४-१२)

इन पञ्चविध भस्मों में तापत्रय क्षरणकारी क्षार का कोई विनियोग निर्दिष्ट न होने से पारमेश्वरागम में उसका उल्लेख ही नहीं है। भस्मनिर्माण की दृष्टि से कल्प, अनुकल्प, उपकल्प, अकल्प चार भेद हैं। इनमें कल्प भस्म उत्कृष्ट है। उसके अभाव में अन्य विकल्प हैं।

विविध स्नान और भस्मस्नान – ऐसे भस्मों से किसी एक से त्रिकाल भस्मस्नान करना चाहिए। धर्मशास्त्र में मांत्र, भौम, आग्नेय, वायव्य, दिव्य, वारुण्य और मानस ये सप्तविध स्नान के भेद प्रतिपादित हैं, जिनमें भस्मस्नान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि उससे अन्तर्बाह्य मल का प्रक्षालन होता है, जो अन्य किसी स्नान विधि से सम्भव नहीं है। भस्मस्नान को ही आग्नेयस्नान कहते हैं। भस्मावगुण्ठन, भस्मोद्धूलन एवं त्रिपुण्ड्रधारण ये तीन विधियाँ है। इनमें त्रिपुण्ड्रधारण श्रेष्ठ है। त्रिपुण्ड्रधारण विधि के अन्तर्गत भस्मधारण स्थल, त्रिपुण्ड रचनाप्रकार, भस्ममहिमा एवं फलश्रुति सविस्तार प्रतिपादित है।

आभ्यन्तर भस्मधारण – इस दृष्टि से चन्द्रज्ञानागम पर दृष्टिपात आवश्यक है। जिस गोमय और गोमूत्र से भस्म बनता है, उसके सम्बन्ध में चन्द्रज्ञानागम के ये दो पद्य द्रष्टव्य हैं —

विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते ।
गुणत्रयाश्रिता विद्या सा विद्या च तदाश्रया ।।

गुणत्रयमिदं धेनुर्विद्याऽभूद् गोमयं शुभम् ।
मूत्रं चोपनिषत् प्रोक्तं कुर्याद् भस्म ततः परम् ।।

(चन्द्रज्ञाना. ६.४-५)

अर्थात् विद्याशक्ति सम्पूर्ण चराचर विश्व के पदार्थों की शक्ति है। वह गुणत्रय का आधार और उसी पर आश्रित है। गौ सत्व, रज और तम तीनों का समवेत प्रत्यक्ष स्वरूप है। त्रिगुणाश्रित विद्या का प्रत्यक्षस्वरूप गोमय और उपनिषद् का प्रत्यक्ष रूप गोमूत्र है। उसी से

भस्म का उद्भव होता है। इस दृष्टि से त्रिगुणाश्रित और उनका आधार पराविद्या और उपनिषद् का अनुसन्धान ही आन्तर विभूतिधारण है। अथवा आणिमादि अष्टसिद्धि का सम्पादन भी आन्तर विभूतिधारण है। क्योंकि ऐश्वर्य एवं विभूति पर्यायवाची हैं, तथा भगवत्ता का अन्य अर्थ ऐश्वर्य सम्पन्नता भी है। बाह्य विभूति धारण या भस्मधारण सर्वविदित ही है। चन्द्रज्ञानागम के अनुसार यह षष्ठ आवरण है। पूजा साधन में यह प्रथम है।

(५) रुद्राक्ष

उत्पत्ति कथा – यह आराध्य का द्वितीय पूजा साधन है। चन्द्रज्ञानागम के अनुसार आवरणों में इसका सातवाँ स्थान है। कल्पकल्पान्तरों में तारकाक्ष आदि दैत्य अवतीर्ण हुये और उन्होंने समय-समय पर तीन नगर (पुर) बनवाए—सुवर्णपुरी, रजतपुरी और लौहपुरी। इनका निर्माण करने के कारण त्रिपुरासुर नाम से संबोधित हुए। इन त्रिपुरों का अत्याचार जब बढ़ गया, तब उनको दग्ध करने के लिए त्रिपुरों को एकत्र आने की राह देखने के लिए निर्निमेष दृष्टि से बैठे भगवान् रुद्र के नेत्रों से जल बिन्दु भूमि पर गिरकर 'रुद्राक्ष' बीज बन गए और वृक्ष भी रुद्राक्ष नाम से संबोधित हुए। इसी कथा की ओर सिद्धान्तशिखोपनिषद् संकेत कर रही है —

उन्मीलिताक्षस्य पुरत्रयाणि
दग्धुं शम्भोर्नयनेभ्योऽथ पेतु-
र्जाता रुद्राक्षा जलबिन्दवोऽस्य ।।

कात्यायनशाखा के वृद्ध जाबालोपनिषद् में भगवान् शंकर कार्तिकेय के प्रति कहते हैं—पुरा त्रिपुरवधाय उन्मीलिताक्षोऽहम्, तेभ्यो जलबिन्दवो भूमावपतन्, त एव रुद्राक्षा जाताः सर्वानुग्रहाय।

रुद्राक्ष भेद – स्कन्दपुराण[१] के अनुसार अड़तीस प्रकार के रुद्राक्ष हुए, जिनमें रुद्र के सूर्य नेत्र से उत्पन्न बारह प्रकार के रुद्राक्ष कपिल वर्ण, चन्द्र नेत्र से उत्पन्न सोलह श्वेत वर्ण और अग्नि नेत्र से उत्पन्न दस कृष्ण वर्ण। रुद्राक्षों में पञ्चमुख रुद्राक्ष श्रेष्ठ है, क्योंकि उनके पाँच मुख परम शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान मुख से अभिन्न हैं।

---

१. बभूवुस्ते तु रुद्राक्षा ह्यष्टत्रिंशत्प्रभेदतः ।
सूर्यनेत्रसमुत्पन्नाः कपिला द्वादश स्मृताः ।।
सोमनेत्रसमुत्पन्नाः श्वेतास्ते षोडश क्रमात् ।
वह्निनेत्रोत्थिताः कृष्णा दश भेदाः प्रकीर्तिताः ।। (स्कन्द. पु.)

धारणीय रुद्राक्ष संख्या – गले में बत्तीस रुद्राक्षों की माला, शिखा में एक, जटाजुट में बयालीस रुद्राक्षों का वलय, दोनों कानों में छः-छः रुद्राक्षों के कुण्डल, तीन सौ रुद्राक्षों का यज्ञोपवीत, दोनों भुजाओं में सोलह-सोलह रुद्राक्ष के बाजुबन्द, दोनों कलाइयों में बारह-बारह रुद्राक्षों के वलय धारण करना चाहिए और मंत्रजपार्थ १०८ रुद्राक्षों की जपमाला का प्रयोग करना चाहिए—

सद्योजातादीनि पंचवक्त्राणि विद्यात्, द्वात्रिंशद्रुद्राक्षाः कण्ठमालाप्रयुक्ताः, शिखायामेको, द्विचत्वारिंशदुक्ताः, शिरोधार्याः, कर्णयोर्द्वादश, अथ शतत्रयं तूपवीतम्, बाह्वोः द्वात्रिंशदुक्ताः, मणिबन्धयोश्चतुर्विंशतिश्च, शतमष्ट जपार्थम् । (सि.शि.उ)

कारणागम के अनुसार शिखा में एक, मस्तक में तीस, गले में छत्तीस, दोनों भुजाओं में १६-१६, मणिबन्धो में १२-१२, कंधे में ५०० और जपमाला में १०८ रुद्राक्ष प्रयुक्त करे। कण्ठ में दो, तीन, पाँच, सात अथवा दस लड़ियों की रुद्राक्षमाला धारण करे। मुकुट, कर्ण कुण्डल, हार, केयूर, कड़ा, बगलबंद, सभी में रुद्राक्षों का प्रयोग करते हुए सोते-जागते, सदा-सर्वदा रुद्राक्ष धारण करे। संख्या की दृष्टि से ३००, ५०० और १००० रुद्राक्षों का धारण क्रमशः अधम-मध्यम और उत्तम है। मकुटागम में धारण मन्त्रों का संकेत है। और अन्य वर्णन में श्लोक भी मिलते जुलते हैं।

चन्द्रज्ञानागम के अनुसार गोदान से बढ़ कर लक्षगुणित रुद्राक्ष के केवल दर्शन से मिलता है। रुद्राक्षमाला द्वारा जप से शतलक्षकोटि-सहस्त्रगुणित फल मिलता है।

चना, बैर और आंवले के आकार के रुद्राक्ष उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के रुद्राक्ष मिलते हैं। सफेद रंग के रुद्राक्ष ब्राह्मण, रक्त वर्ण के क्षत्रिय, पीतवर्ण के वैश्य और कृष्ण वर्ण के शूद्र होते हैं। तदनुसार उन उन वर्णों के वे वे रुद्राक्ष धारणीय हैं। रक्त वर्ण, चिक्कण, मजबूत, बड़े कण्टक युक्त रुद्राक्ष शुभ होते हैं। कृमिदंष्ट छिन्न-भिन्न कण्टक रहित रुद्राक्ष त्याज्य हैं। जिसमें अपने आप छेद हो वह रुद्राक्ष श्रेष्ठ है। कसौटी के पत्थर पर जिस रुद्राक्ष द्वारा सुवर्ण रेखा अंकित होती है, वह रुद्राक्ष श्रेष्ठ है। संख्या की दृष्टि से उन-उन अंगों में रुद्राक्षों का धारण पूर्ववत् ही वर्णित है।

रुद्राक्ष के मुख – मुख भेद के अनुसार एकमुखी रुद्राक्ष पर तत्त्वनिरूपक, द्विमुखी रुद्राक्ष अर्धनारीश्वरस्वरूप, त्रिमुख रुद्राक्ष अग्नित्रय स्वरूप स्त्रीहत्यापापनिवारक, चतुर्मुखी रुद्राक्ष ब्रह्मा का स्वरूप पञ्चमुखी रुद्राक्ष पंच ब्रह्मस्वरूप, छः मुखी रुद्राक्ष कार्तिकेय और विनायक द्वारा अधिष्ठित विघ्ननाश सप्त मुखी रुद्राक्ष सप्त मातृकाओं से अधिष्ठित, अष्ट मुखी रुद्राक्ष आठ द्विक्पालों से अधिष्ठित तथा आठ वसु और गंगा को भी प्रिय नवमुखी नव शक्तियों से अधिष्ठित, दशमुखी यमराज से अधिष्ठित एकादश मुखी एकादश रुद्रों से

अधिष्ठित, द्वादश मुखी महाविष्णु स्वरूप द्वादश आदित्यों से अधिष्ठित, त्रयोदश मुखी कामदेव को प्रिय और चतुर्दश मुखी सर्वव्याधिहर' है।

तन्मुखं रुद्रमित्याहुस्तद्बिन्दुः सर्वदेवताः ।

मोती, मूंगा, स्फटिक, वैदूर्य, सोना, चाँदी के साथ रुद्राक्ष धारण करने वाला रुद्र स्वरूप है। रुद्राक्ष पूजन का फल लिङ्गार्चन के समान है। (चन्द्रज्ञानागम—सप्तम पटल)

'पारमेश्वरागम' (१.४०-४८) के अनुसार भस्म, रुद्राक्ष एवं लिङ्ग को धारण करने वाला शिवयोगी शिव स्वरूप होता है, अतः उसके दर्शन मात्र से पापात्माओं को भी सद्योमुक्ति मिलती है। अतः सम्प्रदायानुसार शिष्य को दीक्षागुरु स्वयं रुद्राक्ष धारण कराए। शुद्धशैव, अवान्तरशैव, महाशैव, वीरशैव आदि सभी शैवों के लिए रुद्राक्षधारण अनिवार्य है। 'सिद्धान्तशिखामणि' के सातवें परिच्छेद में भस्म धारण के पश्चात् रुद्राक्षधारण का निरूपण करते समय रुद्राक्ष की उत्पत्ति से लेकर उनके भेद, धारणस्थान, महापातक नाशकत्व आदि सभी विषय पूर्ववत् प्रतिपादित हैं। मृत्यु के समय रुद्र का चिन्तन करते हुए रुद्राक्ष घिस कर जो उसका जल पीता है, वह रुद्रलोक प्राप्त करता है। सभी वर्णाश्रमानुयायियों के लिए विभूति एवं रुद्राक्ष धारण समान रूप से आवश्यक है।

इस प्रकार बहिरंग दृष्टि से रुद्राक्ष पर विचार किया गया है। काशी ज्ञान सिंहासनपीठ पर समभिषिक्त वर्तमान महास्वामीजी ने अपने शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श में अन्तरंग रुद्राक्ष धारण पर प्रकाश डाला है। 'रुद्रस्य अक्षः रुद्राक्षः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रुद्र दृष्टि ही रुद्राक्ष है। 'सर्वो ह्येष रुद्रः, एको हि रुद्रो न द्वितीयस्य तस्य' अथवा —

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

इत्यादि भगवद्गीता में वर्णित सम्पूर्ण चराचर को रुद्र से अभिन्न समझते हुए समता की दृष्टि रखना ही रुद्रदृष्टि है, जो समाज में शान्ति स्थापना का मूल है। यह रुद्र दृष्टि ही अन्तरङ्ग रुद्राक्ष धारण है।

(६) मन्त्र

परा विद्या – 'चन्द्रज्ञानागम' के अनुसार यह अष्टम आवरण है और आराध्य परमशिव की उपासना का प्रमुख साधन। शौनक की ब्रह्म-जिज्ञासा का समाधान करते हुए 'मुण्डकोपनिषद्' में अंगिरा ऋषि ब्रह्मविद्या के द्विविध स्वरूप के अन्तर्गत वेद वेदाङ्ग को अपरा विद्या कहते हैं। जो कार्य रूपा है—तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति—परा चैवाऽपरा च । तत्राऽपरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति।

अपरा विद्या की कारणस्वरूपा परा विद्या है, जिसके विषय में श्रुति कहती है —

"अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते"

(मुण्डक. उ. १.१.४-५)

वह परा विद्या षडक्षरी मन्त्रस्वरूपा है, जिसके द्वारा अक्षर (क्षरणरहित) परब्रह्म परम शिव का साक्षात्कार होता है। इसको त्रिपुरतापिनी उपनिषद् कहती है—'ॐ नमः शिवायेति याजुषमन्त्रोपासको रुद्रत्वमाप्नोति'।

अपरा एवं पराविद्या के कार्यकारणभाव का 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' के इस मंत्र में स्पष्ट प्रतिपादन है—'योऽयं नकारः सोऽयमकारः स सद्योजातो भू ऋग्वेदः सम्पुट उच्यते। योऽयं मकारः सोऽयमुकाराः स वामेदव आपो यजुर्वेदो वस्त्रमुच्यते। योऽयं शिकारः सोऽयं मकारः सोऽघोरस्तेजः सामवेदो गुण उच्यते। योऽयं वाकारः सोऽयं नादः स तत्पुरुषः स वायुरथर्वण वेदो द्वारमुच्यते। योऽयं यकारस्तदिदं समस्तमोमिति निर्विशेषः प्रणवः सर्वोत्तर ईशान आगमो लिङ्गमुच्यते।।२४।।

इसको संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है —

	प्रणवभाग	पंचाक्षरमंत्रभाग	शिवस्वरूप	भूत	वेदागम	मंत्रावरण
१.	अ	न	सद्योजातः	भूमिः	ऋग्वेदः	सम्पुटः
२.	उ	मः	वामदेवः	जलम्	यजुर्वेदः	वस्त्रम्
३.	म्	शि	अघोरः	तेजः	सामवेदः	गुणः
४.	नाद	वा	तत्पुरुषः	वायुः	अर्थवेदः	द्वारम्
५.	ॐ	य	ईशानः	आकाशः	आगमः	परशिवलिङ्गम्

प्रलयकाल में परम शिव से अभिन्न प्रणवसहित पञ्चाक्षर मंत्र में पंचभूत, वेद आगम विलीन होते हैं एवं सृष्टि काल में परमशिव से विधाता उस मंत्रराज को प्राप्त कर समस्त सृष्टि करता है—

पुरा लीनाः सृष्टिकालाच्छिवस्य पञ्चाक्षरे मन्त्रवर्ये समस्ताः ।
भूतानि पञ्चवेदा आगमाश्च शिवाल्लब्धोऽभूत् मन्त्रवर्यो विधात्रा ।।

(सि.शि. उ. २२)

यह मंत्रराज समस्त पापनाशक है —

देहिनो देहमायाति न यावन्मन्त्रनायकः ।
तावत् पापानि गर्जन्ति सत्यं सत्यं पुनः पुनः ।।

(सि.शि. उ. २३)

मन्त्रदीक्षा – 'कारणागम' में सप्तविधा मन्त्रदीक्षा प्रतिपादित है, जिसमें सद्योमुक्ति-दीक्षा के अनन्तर दीक्षागुरु द्वारा शिष्य के दक्षिण कर्ण में तीन बार षडक्षर मंत्रोपदेश किया जाता है। शिवपूजा हवन के पश्चात् 'कारणागम' उपदेश देता है —

जपेत् षडक्षरीं साङ्गां श्रीरुद्रादीन् विशेषत: ।
सर्वेभ्यो द्रव्ययज्ञेभ्यो जपयज्ञो विशिष्यते ।।

(कारणा. क्रि. ३.६१)

शिवमन्त्र – 'सूक्ष्मागम' के अनुसार सात करोड़ मंत्रों के अन्तर्गत विष्णु, शक्ति और विविध क्षुद्र देवताओं के मंत्र केवल भुक्तिप्रद हैं, किन्तु शिवमंत्र मुक्तिप्रद्र। अत: वे श्रेष्ठतम हैं। शैव मंत्रों में ग्यारह मुख्य हैं, जिनमें अघोर महामंत्र सर्वाभीष्टफलप्रद है। सर्वोत्तम मंत्र पंचाक्षरी महामंत्र है, जिसके प्रभाव से सनातन वैदिक धर्म और उसका उपबृंहण करने वाले इतिहास, पुराण और आगम सर्वलोकों का उपकार करते हैं। उसी के प्रभाव से समस्त दिव्य योनियाँ, ग्रह-नक्षत्र सभी भुवन प्रतिष्ठित हैं। नाद बिन्दु कला स्वरूप प्रणव मंत्र में परमशिव पंचाक्षर से अभिन्नस्वरूप में विद्यमान रहते हैं, जो वटवृक्ष के वटबीज के समान समस्त सृष्टि का हेतु है। त्रिविध मंत्र जप होता है—वाचक, उपांशु और मानस सूक्ष्मागम के तृतीय पटल में पंचाक्षर एवं षडक्षर मंत्रमहिमा, मंत्रोद्धार, पुरश्चरण विधि आदि विस्तारपूर्वक वर्णित है। मकुटागम के अनुसार त्रिविध पूजा के अन्तर्गत लघ्वी अथवा अवसर पूजा में अष्टोत्तर शत और गुर्वी तथा महती पूजा में सहस्र मंत्र जप विहित है। उसके अनुसार —

"अष्टोत्तरशतैर्माला जपयज्ञे प्रकल्पयेत्"

(मकुट. २.१८)

जपयज्ञ में १०८ रुद्राक्षों की जपमाला बनानी चाहिए।

पंचाक्षरी विद्यादेवता – चन्द्रज्ञानागम का अष्टम पटल पंचाक्षर मंत्र महिमा के लिए समर्पित है। पंचाक्षरी विद्या देवता का ध्यान इस प्रकार है—

तप्तचामीकरप्रख्या पीनोन्नतपयोधरा ।
चतुर्भुजा त्रिनयना बालेन्दुकृतशेखरा ।।
पद्मोत्पलधरा सौम्या वरदाऽभयपाणिका ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।
सिद्धपद्मासनासीना नीलकुञ्चितमूर्धजा ।।

(चन्द्रज्ञान. ८.७-९)

पंचाक्षरी विद्या के वामदेव ऋषि, पंक्ति छन्द शिव देवता, प्रणव बीज और उमा शक्ति है। षडक्षरों से उसका न्यास किया जाता है। पंचाक्षरों का नादबिन्दुपूर्वक उच्चारण करते समय इनके यथाक्रम भिन्न-भिन्न वर्ण हैं—पीत, श्वेत, रक्त, हरित और नील। मूल, विद्या,

शिव शैवसूत्र और पंचाक्षर ये पंचाक्षर मंत्र के पाँच नाम हैं और ॐकार उसका हृदय है। नकार से लेकर यकार तक प्रत्येक मंत्राक्षर के १६-१६ विषय हैं। इसके अतिरिक्त मंत्र के सम्बन्ध में पुरश्चरण क्रम, मंत्र जपविधि, त्रिविध जप, जप का फल, जपकाल में निषिद्ध कार्य आदि विषय निरूपित हैं।

पारमेश्वरागम के प्रारम्भ में ही पंचाक्षर मंत्रोद्धार का सूक्ष्म स्वरूप दिया हुआ है। इसके ग्यारहवें पटल में षडक्षर और पंचाक्षर मंत्रमहिमा, प्रणव माहात्म्य, पंचाक्षर मंत्रोद्धार का स्थूल स्वरूप, विद्यादेवता का पूर्व प्रोक्त ध्यान, वर्ण, बीज, ऋषि, छंद, देवता, वर्णाधीश, स्थान, मंत्र पर्याय, षडङ्गन्यास, शिवध्यान आदि निरूपित हैं। थोडा अन्तर करने पर यह शक्तिमंत्र होता है—"ॐ नमः शिवायै"। मंत्रदीक्षा को ग्रहण करने के लिए दीक्षागुरु की आवश्यकता होती है।

पंचाक्षरी जपस्थल – 'सिद्धान्तशिखामणि' के अष्टम परिच्छेद में भक्तस्थल के अवान्तर भेद पंचाक्षरी जपस्थल का निरूपण करते समय इस विद्या का निरूपण है, जो शिवतत्त्वप्रबोधिनी है। इससे बढ़कर दूसरा महामंत्र कोई नहीं है। सात कोटि महामंत्रों में इसका प्रथम स्थान है, जो वेद का सारसर्वस्व है। क्योंकि वह महेश्वर का वाचक मंत्र है। महेश्वर एवं मंत्र में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है। पंचाक्षर मंत्र में 'नमः' जीव का बोधक है। सच्चिदानन्दस्वरूप मलत्रयरहित होने के कारण परमशिव का नाम सार्थक है। शिव ये दो अक्षर परब्रह्म के प्रकाशक हैं। शिव-जीव का ऐक्य स्थापित करने के लिए पंचाक्षर मंत्र के जप का विधान है। पंचभूत, पंचतन्मात्रा, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पञ्च ब्रह्म, पंचकृत्य एवं उनके कारणस्वरूप भव, मृड, हर इत्यादि अथवा सद्योजातादि पंचस्वरूप ये सब अर्थ पंचाक्षर मंत्र से ही अभिहित होते हैं। प्रणवपूर्वक यह षडक्षर मंत्र होता है, मंत्रन्यासादि से मंत्रजप द्वारा महेश्वर को जागृत किया जाता है। निष्कल शिव का साक्षात्कार प्रणवजप से होता है और पंच ब्रह्मतनु शिव का पंचाक्षर मंत्र से। उभयात्मा शिव को षडक्षर मंत्र से प्रबुद्ध किया जाता है। अन्य विषय पूर्ववत् प्रतिपादित हैं। पंचाक्षर मंत्र से शिवपूजन भी करना चाहिए।

निर्वचन –

मननात् त्राणनात् चैव मद्रूपस्याऽवबोधनात् ।
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् ! मदधिष्ठानतोऽपि वा ।।

'योगशिखोपनिषद्' में मंत्र शब्द का यह निर्वचन है। 'नमः शिवाय' इस अनवरत मंत्रजप से दुष्टशक्तियों से साधक की रक्षा होती है। अतः मंत्र यह बहिरंग आवरण है। इसी मंत्रजप से अन्ततः साधक शिवयोग को प्राप्त करता है। मायिदेव ने स्पष्ट कहा है कि इस मंत्र के तीन अवयव हैं —

(१) नमः, जो जीव का वाचक है, (२) शिव, जो परमात्मा का वाचक है और (३) अय जो दोनों में तादात्म्य स्थापित करता है —

नमः पदं तत् खलु जीववाचि
शिवः पदं तत्परमात्मवाचि ।
अयेति तादात्म्यपदं तदेतद्
नमः शिवायेति जगाद मन्त्रः ।।

इस प्रकार अनुभवसूत्र (६.४६) में स्पष्ट प्रतिपादित करते हैं। लिंगाङ्गसामरस्य प्रदान करना ही इस मंत्र के अन्तरङ्ग आवरण को सिद्ध कर रही है, यही महास्वामीजी की दृष्टि है।

इस प्रकार विभूति, रुद्राक्ष एवं मंत्र आराध्य परमशिव की अर्चना एवं प्राप्ति के परम साधन हैं।

पूजा के फल

अवशिष्ट दो आवरण पादोदक और प्रसाद पूजा के फल हैं, जिनका चन्द्रज्ञानागम में क्रमशः चतुर्थ और पञ्चम आवरण के रूप में वर्णन है। 'सिद्धान्तशिखोपनिषद्' अत्यल्प नैवेद्य प्राशन को भी ब्रह्मपद का हेतु कहता है। उस नैवेद्य के अन्तर्गत फल प्रसाद कोटि में एवं 'जल' पादोदक कोटि में समाविष्ट है। 'कामिकागम' के अनुसार षड्विध निर्माल्य में नैवेद्य को तृतीय स्थान प्राप्त है—

मनसा यच्छिवोद्दिष्टद्रव्यं नैवेद्यमुच्यते ।

शिव को मानसिक रूप से समर्पित द्रव्य नैवेद्य कहलाता है। तथा अवशिष्ट द्रव्य पादोदक एवं प्रसाद। वे दोनों ही मुक्तिहेतु हैं; जैसा कि मंत्र है—

अत्यल्पमपि नैवेद्यं फलं वा जलमेव वा ।
तदेव प्राशयित्वाऽथ ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।

(७) पादोदक

भेद – 'चन्द्रज्ञानागम' के अनुसार पादतीर्थ (पादोदक) तीन प्रकार का है, जिसमें— शिव का पादोदक दीक्षापादोदक, गुरु पादोदक शिक्षापादोदक एवं जङ्गम पादोदक ज्ञानपादोदक नाम से प्रसिद्ध हैं—

पादतीर्थं त्रिधा शम्भोर्गुरुजङ्गमयोरपि ।
दीक्षा-शिक्षा-ज्ञानमिति त्रिसंज्ञं तद् भवत्यहो ।।

(चन्द्र. ५.५)

'क्रियासार' के अनुसार गुरु एवं जंगम दोनों के पादोदक को धारण और पान करना चाहिए —

तस्मादागमवाक्येषु बहुशः प्रतिपादनात् ।
सिद्धं गुरुपादोदस्य धारणं पानमेव हि ।
चरपादोदकस्यान्ते.............................. ।।

संसार के बन्धन से मुक्त होने के लिए त्रिविध पादोदक ग्रहण करना चाहिए। गुरु एवं जंगम की अनुपस्थिति में इष्टलिंग के पादोदक में त्रिविध पादोदक की भावना करनी चाहिए। गुरु अथवा जंगम दोनों में से एक की अनुपस्थिति में गुरुपादोदक में जंगम पादोदक की अथवा जंगम पादोदक में गुरु पादोदक की भावना करनी चाहिए (चन्द्रज्ञान. ५.७-९)। अत एव कारणागम में पादोदक ग्रहण के लिए तीन आधारपात्रों की स्थापना तथा —

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

इस श्वेताश्वतर उपनिषद् के मंत्र से त्रिविध तीर्थ प्रसाद ग्रहण का विधान है। पादोदक का सिर से धारण अथवा पान अत्यन्त मंगल, पवित्र तथा अनन्त फलप्रद है।

जंगमयोगी की पादपूजा – 'पारमेश्वरागम' से गृहागत जंगम योगी के पादप्रक्षालन एवं पादोदकग्रहण का विधान वर्णित है —

प्रणम्य स्वागतं ब्रूयात् पादप्रक्षालनं चरेत् ।
प्रथमं पूजयेद् गन्धपुष्पैः संक्षालयेत् ततः ।।

अङ्गुष्ठे भावयेद् रुद्रं तर्जन्यां शङ्करं स्मरेत् ।
मध्यमायां महादेवमनामिक्यां त्रियम्बकम् ।।

कनिष्ठिकायामीशानं पादोपरि कपर्दिनम् ।
पादाधः पञ्चवदनं गुल्फयोरुग्रभर्गकौ ।।

सर्वं लिङ्गमयं ध्यात्वा पादं जङ्गमलिङ्गिनः ।
पिबेत् संक्षालितं तोयं पीत्वा शिरसि धारयेत् ।।

न पातयेदधो बिन्दुं पादप्रक्षालनाम्भसाम् ।
पुनः सम्पूजयेद् गन्धपुष्पधूपादिभिः क्रमात् ।।

(पारमे. ७.४७-५१)

जंगम वीरशैवयोगी का चरणयुगल परमशिव से अभिन्न है, वह लिङ्ग स्वरूप है, जिनका क्रम इस प्रकार है — (१) अंगुष्ठ में रुद्र, (२) तर्जनी में शङ्कर, (३) मध्यमा में महादेव (४) अनामिका में त्र्यम्बक, (५) कनिष्ठिका में ईशान, (६) चरण के ऊपर

कपर्दी (७) चरण के नीचे पंचमुख शिव और (८) दोनों गुल्फों में उग्र और भर्ग। अतः जंगम का पादप्रक्षालन कर उसके पादोदक का पान करे तथा उसे शिरोधार्य करे। उसका एक भी जलबिन्दु जमीन पर गिरने न दे और पुनः गन्ध, पुष्प, धूप आदि द्वारा उसकी अर्चना करे।

त्रिविध पादोदक – 'सिद्धान्तशिखामणि' के नवम परिच्छेद में 'चतुर्विध सारायस्थल' में त्रिविध पादोदक को भक्तिपूर्वक ग्रहण करने के लिए उपदेश है। इष्टलिंग के पादोदक को शिरोधार्य करना मंगलमय और अत्यन्त पवित्र है। शिवनिर्माल्य के विषय में भगवत्पाद रेणुकाचार्य लिखते हैं —

भुञ्जीयाद् रुद्रभुक्तान्नं रुद्रपीतं जलं पिबेत् ।
रुद्राघ्रातं सदा जिघ्रेदिति जाबालिकी श्रुतिः ।।
(सि.शि.म. ९.७०)

इसके उन्नीसवे परिच्छेद में षट्स्थलों के अन्तर्गत शरणस्थल के बारह भेदों में प्रथम तीन क्रमशः दीक्षापादोदक, शिक्षापादोदक और ज्ञानपादोदक वर्णित हैं।

सिद्धान्तशिखोपनिषद् के अनुसार जिसका मांसपिण्ड मन्त्रदेह के रूप में शुद्ध होता है, लिंगधारण किए हुए उस जीवात्मा को पादोदक एवं प्रसाद के ग्रहण के समय अथवा मूत्रादि-उत्सर्जन के समय उच्छिष्टसूतक नहीं लगता —

भुञ्जन् मूत्राद्युत्सृजन् वा कदाचित् ।
न तत्रोच्छिष्टं भजते शुद्धदेही ।।

अक्षरार्थ – महास्वामीजी ने अपने अष्टावरण विज्ञान में पादोदक का अक्षरार्थ इस पद्य से उदघृत किया है —

पाकारं परमज्ञानं दोकारं दोषनाशनम् ।
दकारं दह्यते जन्म ककारं कर्मनाशनम् ।।

आन्तर पादोदक – इस प्रकार पादोदक में परम ज्ञानप्रदायकता, दोषनाशकता, जन्मदाहकता और कर्मनाशकता समवेत रूप में विद्यमान है। 'पद्यते गम्यते अनेनेति पदम्। पदमेव पादः'। यह 'पाद' शब्द की व्युत्पत्ति है। 'पादोदक' में दो शब्द है 'पाद' और 'उदक'। समस्त पद दोनों की एकता का बोधक है। वह एकता गुरु द्वारा ही सम्भव है। गुरु के क्रमशः तीन सोपान हैं—(१) दीक्षा प्रदान से वह दीक्षागुरु पद पर अधिष्ठित होता है। तदनन्तर वह शिक्षा प्रदान से 'शिक्षागुरु' बन जाता है। 'ज्ञानप्रदान उसका अन्तिम सोपान है, जिससे वह 'ज्ञानगुरु' पद पर आसीन होता है। इसी दृष्टि से पादोदक के भी तीन भेद हैं — (१) दीक्षापादोदक, (२) शिक्षापादोदक और (३) ज्ञानपादोदक।

दीक्षापादोदक – इनमें प्रथम दीक्षापादोदक है। श्रुति कहती है—'आचार्यः पूर्वरूपम् अन्तेवासी उत्तररूपम्, विद्या सन्धिः। पादोदक में पाद शब्द गुरु का वाचक और उदक शब्द शिष्य का परा विद्या दोनों का सन्धि स्थल है। ज्ञानदान एवं मलक्षयकारिणी चित क्रिया दीक्षा द्वारा दोनों में एकता स्थापित होती है। इसी का अर्थ दीक्षा पादोदक है—

अथवा पादशब्देन गुरुरेव निगद्यते ।
शिष्यश्चोदकशब्देन तयोरैक्यं तु दीक्षया ।।

(सि.शि.म. १९.७)

इसकी दूसरी परिभाषा यह है कि 'पाद' शब्द का अर्थ निर्मल परब्रह्म परमानन्द है, और 'उदक' शब्द का अर्थ ज्ञान है। दोनों की एकता पादोदक है, जो दीक्षा द्वारा सम्भव है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' यह श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है —

परमानन्द एवोक्तः पादशब्देन निर्मलः ।
ज्ञानं चोदकशब्देन तयोरैक्यं तु दीक्षया ।।

(सि.शि.म. १९.८)

वस्तुतः चित्क्रिया दीक्षा द्वारा गुरु एवं शिष्य में आनन्दानुभूति स्थापित करने वाला अद्वयज्ञान ही दीक्षापादोदक है, क्योंकि दीक्षा देते समय गुरु शिवकोटि में और शिष्य जीवकोटि में होता है —

दीक्षयाऽपगतद्वैतं यज्ज्ञानं गुरुशिष्ययोः ।
आनन्दस्यैक्यमेतेन दीक्षापादोदकं स्मृतम् ।।

(सि.शि.म १९.६)

शिक्षापादोदक – गुरु प्रदत्त दीक्षाद्वारा शिवस्वरूप गुरु से 'जीव' कोटि में प्रविष्ट शिष्य समरसता का अनुभव करता है और यह गुरु एवं शिष्य की सामरस्यानुभूति जब शिवयोगी को शिक्षा द्वारा होती है, तब वही परस्पर सामरस्यज्ञान शिक्षापादोदक कहलाता है। यही पादोदक का द्वितीय सोपान है —

गुरुशिष्यमयं ज्ञानं शिक्षा योगिनमीर्यते ।
तयोः समरसत्वं हि शिक्षापादोदकं स्मृतम् ।।

(सि.शि.म. १९.१२)

ज्ञान पादोदक – 'पादोदक' का तृतीय सोपान है 'ज्ञानपादोदक'। श्रुति कहती है— 'आनन्दो ब्रह्मेति विजानीयात्', 'विज्ञानमानन्दमयं ब्रह्म', 'चिदानन्दरूपः शिवः केवलोऽहम्'। इस प्रकार का प्रत्यक्षानुमान शब्द प्रमाणातीत ब्रह्मानन्दज्ञान ही ज्ञानगुरु है। शिष्य के आनन्द एवं ज्ञान की समरसता ही ज्ञानपादोदक नाम से प्रसिद्ध है —

तदैक्यसम्पदानन्दज्ञानं ज्ञानगुरुर्मतः ।
तत्सामरस्यं शिष्यस्य ज्ञानपादोदकं विदुः ।।

(सि.शि.म. १९.१९)

निष्कर्ष यह है कि यह त्रिविध पादोदक हमें गुरुकृपा से प्राप्त होता है। गुरु के त्रिविध स्वरूप हैं — (१) दीक्षागुरु, (२) शिक्षागुरु, एवं (३) ज्ञानगुरु। इनसे प्राप्त ज्ञान यथाक्रम तीन हैं — (१) दीक्षापादोदक, (२) शिक्षापादोदक और (३) ज्ञानपादोदक। यह त्रिविध ज्ञान ही अन्तरङ्ग पादोदक है।

बाह्यपादोदक – बहिरङ्ग पादोदक 'चन्द्रज्ञानागम' के अनुसार इन्हीं नामों से सम्बोधित हैं—(१) शिव पादोदक 'दीक्षापादोदक' (२) गुरुपादोदक 'शिक्षापादोदक' और (३) जङ्गमपादोदक 'ज्ञानपादोदक' नाम से विख्यात है।

'त्रिविध सम्पत्तिस्थल' में भक्त के लिए गुरु, जङ्गम एवं इष्टलिङ्ग तीनों की समान रूप से अर्चना का विधान है; क्योंकि परम शिव वस्तुतः एक ही है, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए गुरु, जंगम और लिङ्ग तीन रूपों में प्रकट होता है —

एक एव शिवः साक्षात् सर्वानुग्रहकारकः ।
गुरुजङ्गमलिङ्गात्मा वर्तते भुक्तिमुक्तिदः ।।

(सि.शि.म. ९.५९)

अत एव गुरु एवं जंगम की अनुपस्थिति में इष्टलिंग की अर्चना करते हुए उसमे सद्रूप भावलिङ्ग के रूप में गुरु का ध्यान, चिद्रूप प्राणलिङ्ग के रूप में जङ्गम का ध्यान और बिन्दु नादात्मक प्रणव रूप में आनन्दमय इष्टस्वरूप का ध्यान किया जाता है और उसके पादोदक तथा प्रसाद ग्रहण किया जाता है। यही बहिरंग पादोदक ग्रहण का रहस्य है[१]।

(८) प्रसाद

श्रेष्ठ धन – 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' शिव की कृपा से प्राप्त प्रसाद चरम आनन्द है, जो पूजा की फलश्रुति है। 'चन्द्रज्ञानागम' के अनुसार यह पञ्चम आवरण है। ईशावास्योपनिषद्' में श्रुति की आज्ञा है —

---

१. गुरोश्चरस्य चाऽलाभे इष्टलिङ्गपदोदकम् ।
लब्ध्वा गुर्वादिपादोदं भावयेन्मनसैव तत् ।।
चरवर्जं गुरोर्लाभे लब्ध्वा गुरुपदोदकम् ।
गुरुजङ्गमपादोदं लब्धवानिति भावयेत् ।।
गुरुवर्जं चरप्राप्तौ लब्ध्वा चरपदोदकम् ।
तदेव गुरुपादोदमिति मत्वा पिबेत् तदा ।।

'चन्द्रज्ञानागम' (क्रि. ५.७-९) की यही भावना 'सम्बन्धाचार' है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ।

हे जीव ! परम शिव द्वारा ग्रहण के उपरान्त अवशिष्ट द्रव्य को प्रसाद समझ कर स्वीकार करो। वही श्रेष्ठ धन है। उसके अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रसाद को मत ग्रहण करो।

त्रैविध्य – ब्रह्मश्री शंकरशास्त्री इसका सूत्र अनुभवसूत्र में ढूंढ़ते हैं, जो इस प्रकार है—

इष्टलिङ्गार्पितं शुद्धं प्राणलिङ्गमुखार्पितम् ।
सिद्धं ततः प्रसिद्धं हि भावलिङ्गार्पितं विदुः ।।

तत्तदर्पणतो लब्धं प्रसादं तत्तदादरात् ।
भुङ्क्ते यत्नात् स्वयं विश्वतैजसप्राज्ञरूपतः ।।

अंतरंग विधि – परमेश्वर के तीन स्वरूप है—(१) इष्टलिङ्ग (२) प्राणलिङ्ग और (३) भावलिङ्ग। जीव के भी तीन स्वरूप हैं—(१) विश्वरूप, (२) तैजसरूप और (३) प्राज्ञरूप। त्रिविध शिव के लिए समर्पणीय त्रिविध पदार्थ हैं—स्थूल रूप पदार्थ, प्रविविक्त रुचि पदार्थ और (३) आनन्द रूप तृप्ति पदार्थ। विश्वरूप जीव स्थूल शरीर में रहकर स्थूल रूप पदार्थ इष्टलिंग को समर्पित करता है, तब अवशिष्ट वह 'शुद्ध' प्रसाद हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर में विद्यमान तैजस जीव द्वारा प्राणलिंग को समर्पित प्रविविक्त रुचिपदार्थ सिद्ध प्रसाद और कारण शरीर में विद्यमान प्राज्ञ जीव द्वारा भावलिङ्ग को समर्पित आनन्द स्वरूप तृप्ति पदार्थ प्रसिद्ध प्रसाद बन जाता है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये यथाक्रम नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और श्रोत्रेन्द्रिय के विषय हैं। परिणाम को मिलाकर छः सार्वकालिक पदार्थ हैं। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन इनके अधिष्ठाता तत् तत् करणलिंग है, जिनके विभिन्न नाम हैं। गन्धादि पदार्थों को क्रमशः इन कारणलिङ्गों को समर्पित कर अनन्तर प्रसाद के रूप में उन्हें जीवद्वारा ग्रहण करना चाहिए[1]। यही आज्ञा 'मुण्डकोपनिषद्' भी देती है —

---

१. यथा ज्ञानेन्द्रियार्थेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।
तथा कर्मेन्द्रियार्थेषु क्रमाल्लिङ्गं प्रतिष्ठितम् ।। (अनु.६.८)

अथ गन्धो रसो रूपं स्पर्शं शब्दस्ततः परम् ।
परिणामः पदार्था हि षडेते सार्वकालिकाः ।।

एवंभूतेषु सर्वेषु पदार्थेषु निरन्तरम् ।
लिङ्गार्पणधिया ह्यात्मा प्रसादसुखमश्नुते ।। (अनु.सू. ७.३१, ३२-३५)

आवि: सन्निहितं गुहाचरं नाम, महत् पदमत्रैव समर्पितम् ।
एजत् प्राणन् निमिषच्च यदेतज्जानथ ।
सदसद् वरेण्यं परं विज्ञानाद् यद् वरिष्ठं प्रजानाम् ।। (२.२१)

सभी प्राणियों की हृदयगुहा में अक्षर महालिंग विद्यमान है, वही गुरु जङ्गम तथा इष्टलिंग के रूप में बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त स्थूल, प्रविविक्त और आनन्द पदार्थ मलरूप हैं, जो अन्तरंग हैं। उनकी बहिरङ्ग संज्ञाएँ रूप, रुचि एवं तृप्ति हैं। उनको शुद्ध करने के लिए पूर्वोक्त त्रिविध शिव को त्रिविध जीव द्वारा ये पदार्थ समर्पित करना चाहिए। एजत्—वे पदार्थ पृथ्वी से लेकर पुरुष तत्त्व तक स्थूल रूप में बाह्येन्द्रियों के द्वारा जाग्रदवस्था में ग्राह्य है। प्राणन्—मनोमात्र विषय स्वप्नावस्था में प्रविविक्त रूप में ग्राह्य हैं। निमिषच्च—बाह्येन्द्रिय और मन के निमेष रूप सुषुप्ति अवस्था में आनन्द रूप में ग्राह्य है।

कारणागम के अनुसार पदार्थ-समर्पण विधि इस प्रकार है —

	स्थल	शक्ति	इन्द्रिय	लिङ्गनाम	भक्ति	हस्त	प्रसाद
१.	भक्त	क्रिया	नासिका	आचार	सद्भक्ति	चित्त	गन्ध
२.	माहेश्वर	ज्ञान	जिह्वा	गुरु	निष्ठा	बुद्धि	रुचि(रस)
३.	प्रसादि	इच्छा	नेत्र	शिव	अवधान	अहंकार	रूप
४.	प्राणलिङ्गि	आदिशक्ति	त्वचा	चर	अनुभव	मन	स्पर्श
५.	शरण	परा	कर्ण	प्रसाद	आनन्द	सुज्ञान	शब्द
६.	ऐक्य	चित्	मानस	महालिंग	समरसता	सद्भाव	संकल्प

यही अन्तरंग समर्पण विधि है, जो सार्वकालिक है। शरणस्थल के षट्स्थल में यह समर्पण—विधि वर्णित है। ऐक्यस्थल में पूजा के प्रति रुचि भावना से जाग्रत करनी पड़ती है।

बहिरंग पूजा – इष्टलिङ्ग की पूजाविधि बहिरंग पूजापद्धति है, जो कारणागम में सविस्तार वर्णित है, जो वैदिक और तांत्रिक भेद से द्विविध है।

'सूक्ष्मागम' के अनुसार प्रसादलिङ्ग के भक्तों में पूजक भक्त वह होता है, जो पूजा के पूर्व आहार-ग्रहण नहीं करता (सूक्ष्मा. ८.६४)। गुरु भक्त को अपने गुरु से प्राप्त प्रसाद शुद्ध कहलाता है, इष्टलिंग के पूजनोपरान्त अवशिष्ट प्रसाद सिद्ध होता है और जंगम शिवयोगी को समर्पित उससे प्राप्त प्रसाद प्रसिद्ध होता है (सूक्ष्म. ८.२२-२५)।

'मकुटागम' के अनुसार महती, गुर्वी एवं लघ्वी इस प्रकार पूजा के तीन भेद हैं। इसी प्रकार निराहार रहकर षट्काल अथवा त्रिकाल पूजा अवसरपूजा है (३.३-४)। अरुणोदय, सूर्योदय, संगव, मध्याह्न, सायाह्न और अर्धरात्रि ये अहोरात्र के छः काल है। अवसर पूजा में संक्षिप्त नैवेद्य लगाना चाहिए, जिसे अवसर कहते हैं। पूर्वोक्त त्रिविध पूजा में महानैवेद्य लगाना चाहिए (३.१५-१६)। 'मुकुटागम' में पञ्चवक्त्र शिव की पूजाविधि, उनमें आचारादि लिङ्गों की स्थिति वर्णित है, जो सूक्ष्मागम के अनुसार संक्षिप्त है। तदनन्तर प्रसादग्रहण का आदेश दिया गया है (५.१०-१५)। भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य ये चतुर्विध प्रसाद चतुर्विध पुरुषार्थप्रद है (५.१६)। इष्टलिंग को समर्पित नैवेद्य यज्ञीय चरु के समान अत्यन्त पवित्र है। (५.२२)

'चन्द्रज्ञानागम' (५-२०-२२) के अनुसार 'गुरुजङ्गम-लिङ्गानां भुक्तशेषः प्रसादकः' यह प्रसाद का संक्षिप्त लक्षण है, जिनके यथाक्रम शुद्ध, सिद्ध एवं प्रसिद्ध तीन भेद हैं। 'पादोदक' की प्रक्रिया के समान कोई एक प्रसाद प्राप्त होने पर उसी में अन्य दो की भावना द्वारा प्रसाद-ग्रहण करना चाहिए। यह 'सम्बन्धाचार' है। स्वाभाविक रूप से किसी का भी प्रसाद ग्रहण 'सहजाचार' है। 'चन्द्रज्ञानागम' का आदेश है —

शिवेन भुक्तं भुञ्जीयात् तत्पीतं हि जलं पिबेत् ।
शिवाघ्रातं सदा जिघ्रेदेष धर्मः सनातनः ।। (५.२२)

यह प्रसाद ग्रहण अन्तरङ्ग विषयक है। अन्तरङ्ग प्रसाद के सम्बन्ध में यह वचन है —

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-तन्मात्रपञ्चकम् ।
असमर्प्य न भुञ्जीत भगवन्तमुमापतिम् ।। (५.२५)

महेश्वर के प्रसाद का हेतु होने के कारण समर्पित त्रिविध पदार्थ प्रसन्नता का जनक एवं परमानन्ददायक है। अत एव उसका प्रसाद नाम सार्थक है —

समर्पितः प्रसादैककारणत्वान्महेशितुः ।
प्रसादत्वेन विख्यातः परमानन्ददायकः ।। (५.३३)

'पारमेश्वरागम' के अनुसार लिङ्गधारी वीरशैव भक्तद्वारा भोजन के बाद बचा हुअ अन्न उच्छिष्ट नहीं है, अपितु वह शिवस्वरूप जंगम का प्रसाद है। यदि पात्र का अभाव हो, तो एक पात्र में सभी लिंगधारी वीरशैव भोजन कर सकते हैं, वह पात्र उच्छिष्ट नहीं होता। (पारमे. ७.५६-५७)। अनायास भोजन न मिलने पर लिंगधारी भिक्षाटन करे। वह अपक्व अन्न शिवलिंग के घर से ही ग्रहण करे, अन्य के घर से नहीं। अपक्व अन्न वह किसी भी जाति से ग्रहण कर सकता है। लिंगधारी से भिन्न व्यक्ति का जल भी न पीये। चाण्डाल जाति

के भी लिंगधारी वीरशैव के घर अन्न-जलग्रहण करना योग्य है। दही, घी, दूध मठ्ठा ये सब पक्व होने पर भी गोरस होने के कारण सदा शुद्ध हैं, उसके विषय में जाति और पाक भेदक कल्पना नहीं करनी चाहिए।

'सिद्धान्तशिखामणि' के 'चतुर्विधसारायस्थल' में प्रसाद का निरूपण है। जाबालश्रुति कहती है—''रुद्रेणान्नमश्नन्ति, रुद्रेण पीतं पिबन्ति, रुद्रेणाघ्रातं जिघ्रन्ति''। इसी का अनुवाद 'भुञ्जीयाद् रुद्रभुक्तान्नम्' (९.७७) इत्यादि द्वारा 'सिद्धान्तशिखामणि' और 'शिवेन भुक्तं भुञ्जीयात्' (५.२२) इत्यादि द्वारा 'चन्द्रज्ञानागम' कहते है। भगवान् रेणुकपादाचार्य स्पष्ट कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल, जल अन्नादि सर्वभोज्य सामग्री परमेश्वर को समर्पित करके ही प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण करना चाहिए। 'भगवद्गीता' भी 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति' के द्वारा यही प्रतिपादित करती है। परम शिव जगद्गुरु हैं, उन्हें निवेदित नैवेद्य ही शिवभक्तों द्वारा स्वीकार करना चाहिए। शिव भक्त से भिन्न अन्य शिवप्रसाद का अधिकारी नहीं है। उसके एक एक अन्नकण के भक्षण से एक एक अश्वमेध यज्ञ का पुण्य मिलता है। जो फल शिव लिंग प्रसाद का है, वही गुरु एवं जंगम के प्रसाद का भी। अतः पूर्वोक्त विधि से प्रतिदिन गुरुजंगम लिंगात्म परम-शिव के प्रसाद ग्रहण का विधान सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में है। अन्तरङ्ग प्रसाद ग्रहण के विषय में पूर्ववर्णित चन्द्रज्ञानागम का अन्तरङ्ग विषयक परिचय मननीय है। 'सिद्धान्तशिखामणि' के एकादश पटल में 'प्रसादमहत्त्वस्थल' का निरूपण है। परम शिव के प्रति अनन्य भाव से भक्ति के मूल में भी शिव प्रसाद ही है —

प्रसादमूला सर्वेषां भक्तिरव्यभिचारिणी ।

शङ्कर का प्रसाद प्राप्त होने पर कोई भी मुक्त हो सकता है, चाहे उसका जन्म हुआ हो अथवा न हुआ हो अथवा होने वाला हो अथवा वह चाहे किसी वर्ण का हो, उसकी मुक्ति शिव कृपा से निश्चित है। 'काश्यां मरणात् मुक्तिः' का भी यही सन्दर्भ है, क्योंकि काशिवासियों पर शिव की कृपा सदा बनी रहती है। शिव प्रसाद प्राप्त होने पर समस्त विश्व शिवमय ही दृष्टिगोचर होता है।

प्रसादे शाम्भवे सिद्धे परमानन्दकारणे ।
सर्वं शिवमयं विश्वं दृश्यते नात्र संशयः ।।

(सि.शि.म.११.७४)

शिव के साथ सामरस्य का अनुभव करनेवाला ऐसा शिवयोगी 'प्राणिलिङ्गी' कहलाता है, यही प्रसाद का अन्तरङ्ग परिचय है —

शिवप्रसादे सति योगभाजि सर्वं शिवैकात्मतया विभाति ।
स्वकर्ममुक्तः शिवभावितात्मा स प्राणिलिङ्गीति निगद्यतेऽसौ ।।
(सि.शि.म. ११.७७)

निगमन – पारमेश्वरागम में भगवान् शिव स्वयं कहते हैं —

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च पादतीर्थं प्रसादकम् ।
देहे विभूतिरुद्राक्षौ मम पञ्चाक्षरी तनुः ।।

अष्टावरणसंयुक्ता वीरमाहेश्वरा नराः ।
मम रूपधरा देवि ! विचरन्ति महीतले ।।
(पार. ७.५५)

हे पार्वति ! (१) गुरु, (२) लिङ्ग, (३) जङ्गम, (४) पादोदक, (५) प्रसाद, (६) विभूति, (७) रुद्राक्ष, और (८) पञ्चाक्षर मन्त्र, ये आठ आवरण हैं, उनसे सम्बद्ध वीरमाहेश्वर जंगम शिवयोगी मेरे ही अभिन्न स्वरूप हैं और भूतल पर यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं।

संक्षेप में (१) गुरु, (२) लिङ्ग एवं (३) जंगम ये परम शिव स्वरूप महालिंग के प्रत्यक्ष विग्रह हैं। सद्रूप भावलिङ्ग, चिद्रूप प्राणलिङ्ग और आनन्दात्मक इष्टस्वरूप ये यथाक्रम गुरु, जङ्गम एवं लिङ्गस्वरूप अन्तरंग परमशिव के त्रिविध आराध्य स्वरूप हैं। अतः साधक गुरु, जंगम तथा लिङ्ग की बाह्योपासना और हृदयाकाश में अनुसंधान करते हैं। यही इनकी बहिरंग एवं अन्तरंग उपासना है।

यतः परमशिव के बहिरंग एवं अन्तरंग स्वरूप भी त्रिविध है, अतः पादोदक एवं प्रसाद भी बहिरंग तथा अन्तरंग दृष्टि से त्रिविध हैं। 'चन्द्रज्ञानागम' के अनुसार इष्टलिंगस्वरूप शिवपादोदक 'दीक्षापादोदक', 'गुरुपादोदक' 'शिक्षापादोदक' तथा 'जङ्गमपादोदक ज्ञानपादोदक है। स्वाभाविक रूप से इनका ग्रहण सहजाचार कहलाता है। एक का पादोदक मिलने पर उनमें अन्य की भावना कर उसका ग्रहण सम्बन्धाचार कहलाता है। गुरु एवं जंगम का चरण युगल शिवमय है, अतः उसका एक भी जलबिन्दु भूमि पर नहीं गिरना चाहिए, उसका पान तथा उसे सिर से धारण करना चाहिए। अन्तर दृष्टि से गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान पादोदक है, जो परमानन्ददायक, जन्मदाहक, दोष एवं कर्मनाशक है। दीक्षागुरु, शिक्षागुरु एवं ज्ञान गुरु के भेद से अन्तरंग पादोदक भी पूर्वोक्त नामों से त्रिविध है। दीक्षा द्वारा गुरु से प्राप्त ज्ञान 'दीक्षापादोदक' कहलाता है। शिवयोगी की गुरु एवं शिष्य के सामरस्य की अनुभूति शिक्षाद्वारा होती है, जो 'शिक्षापादोदक' है, 'चिदानन्दरूपः शिवः केवलोऽहम्' यह ज्ञान गुरु स्वरूप है, जो 'ज्ञानपादोदक' है। यही त्रिविध पादोदक अन्तरंग आवरण है।

प्रसाद प्रसन्नता का पर्याय है। चन्द्रज्ञानागम के अनुसार गुरु, जंगम और इष्टलिंग को समर्पित नैवेद्य साधक की प्रसन्नता का हेतु होने के कारण 'प्रसाद' कहलाता है। गुरु, जंगम एवं लिंग को यथाक्रम समर्पित भुक्त शेष पदार्थ क्रमशः शुद्ध, सिद्ध और प्रसिद्ध प्रसाद हो जाते हैं। भक्त साधक तीनों का स्वाभाविक रूप से जब ग्रहण करता है, तो वह सहजाचार कहलाता है। एक ही को समर्पित पदार्थ में अवशिष्ट दोनों की भावना करके समर्पित भुक्त शेष तीनों प्रसाद का ग्रहण सम्बन्धाचार कहलाता है। इसे पादोदक क्रिया से ग्रहण करना चाहिए।

अन्तरंग विचार करने पर जीव द्वारा सद्रूप भावलिङ्ग का अनुसन्धान गुरु की उपासना है, चिद्रूप प्राणलिङ्ग का मानसिक चिन्तन जङ्गम की उपासना है, एक आनन्दरूप महालिङ्ग से सामरस्य इष्टलिंग की उपासना। जीव द्वारा इष्टलिङ्गस्वरूप आनन्दात्मक महालिङ्ग को समर्पित स्थूल पदार्थ, जंगम स्वरूप चिद्रूप प्राणलिङ्ग को समर्पित प्रविविक्त पदार्थ और गुरु स्थानीय सद्रूप भावलिङ्ग को समर्पित आनन्द पदार्थ यथाक्रम शुद्ध, सिद्ध एवं प्रसिद्ध प्रसाद हो जाते हैं, उनका स्वीकार ही आन्तरिक दृष्टि है। इस प्रकार उपासना क्रम की दृष्टि से पादोदक एवं प्रसाद क्रमशः चतुर्थ एवं पञ्चम आवरण हैं।

गुरु, जंगम एवं लिंग स्वरूप आराध्य शिव के तीन पूजा साधन (६) विभूति (७) रुद्राक्ष एवं (८) मंत्र अवशिष्ट तीन आवरण हैं, साधक को स्वयं विभूति एवं रुद्राक्ष धारण करना चाहिए तथा गुरु, जंगम एवं लिंग की पूजा करते समय उन्हें भस्मोद्धूलन, भस्मस्नान त्रिपुण्ड्रधारण तथा रुद्राक्षों से सुशोभित करना चाहिए। अन्तरंग विचार करने पर विद्या शक्ति चराचर विश्व की शक्ति है, जो गुणत्रय पर आश्रित है और उसका आधार भी है। गौ सत्व, रज और तम का प्रत्यक्ष विग्रह है और त्रिगुणाश्रित विद्या का प्रत्यक्ष स्वरूप है—गोमय एवं गोमूत्र। उसी से विभूति का उद्भव होता है। इस दृष्टि से परा विद्या और उपनिषद् का सतत चिन्तन ही अन्तरङ्ग विभूतिधारण है। भगवान् रुद्र की करुणामयी समता दृष्टि अर्थात् समस्त जगत् को प्रत्यक्ष शिव के रूप में देखना अन्तरंग रुद्राक्ष धारण है। जब जङ्गम शिवयोगी इसी क्रम से अपने इष्ट शिव एवं गुरु तथा अपने से भिन्न जंगम योगी की अर्चना करते हैं तो अष्टावरण सम्पन्न तथा शिवस्वरूप ही होते हैं। यही पारमेश्वरागमोक्त रहस्य है और इसी क्रम से चन्द्रज्ञानागम में भी वर्णित है, यही निगमागम सम्मत वीरशैव सिद्धान्त के अष्टावरण विज्ञान का बहिरंग एवं अन्तरंग दर्शन है, जो विश्वकल्याणकारी है।

।।ॐ तत्सत् श्रीसाम्बसदाशिवार्पणमस्तु ।।



आधार ग्रन्थ

१. वीरशैव अष्टावरणविज्ञान - महास्वामी चन्द्रशेखरशिवाचार्य
२. शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श - ” ”
३. सिद्धान्तशिखामणि - (मराठी भावानुवाद) शिवयोगीशिवाचार्य
४. सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा - महास्वामी चन्द्रशेखरशिवाचार्य
५. ईशावास्योपनिषद् - वीरशैवभाष्य उमचिगिशंकर शास्त्री
६. केनोपनिषद् - ” ” ” (जंगमवाडी प्रकाशन)
७. मुण्डकोपनिषद् - ” ” ” (मैसूर)
८. सिद्धान्तशिखोपनिषद् - ” ” ” (मैसूर)
९. कैवल्योपनिषद् - ” सदाशिव वीरशैवभाष्य-सदाशिवशिवाचार्य (बंगलोर)
१०. श्वेताश्वतरोपनिषद् - ” टि.जि. सिद्धप्पाराध्य, (चित्रदुर्ग)
११. महानारायणोपनिषद् - ” श्री वृषभेन्द्रपण्डित शिवाचार्य (हितचिंतक प्रेस, वाराणसी)
१२. कारणागम - प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय जंगमवाडीमठ, वाराणसी
१३. सूक्ष्मागम - प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी ” ”
१४. मकुटागम - ” ” ”
१५. चन्द्रज्ञानागम - ” ” ”
१६. पारमेश्वरागम - ” ” ”
१७. अमरकोष -
१८. शब्दस्तोत्रमहानिधि -
१९. शब्दकल्पद्रुप -
२०. श्रीमद्भगवद्गीता -
२१. श्रीगणेशाथर्वशीर्ष (भाष्य)



THE INFLUENCE OF SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI ON THE VACANA LITERATURE

(With Special reference to Basaveśvara)

Dr. Mallikarjun Paraddi

That the Śivāgamas were known to Śivaśaraṇas may not be agreable to those who fanatically deny the existence of pre-Basava Vīraśaivism. A large number of Āgamic statements quoted here and there in the Vacana literature clearly shows that Basaveśvara and others were not only aware of Āgama literature but also they had mastery over Sanskrit language and literature. In taking Vīraśaivism to the doors of common people, they popularised not only Vīraśaivism but also the vast Āgama literature unknown to the scholarly world because of Brahmanical literature. Significant is the following statement:

"The influence of Brahmanical literature was so great that the Āgama literature was lost to the world. The great Basava preached and spread the doctrines of the Āgamas. Then there was their revival in Karnataka."[1]

But at the same time, it is also an extremity to think that Śivaśaraṇas composed their Vacanas, merely following the foot-steps of the Śaivāgamas.[2] In brief, we can conclude that Virasaivism existing from time immemorable reached its climax and took the final shape in Vacana literature. Even though Basaveśvara and other prominent Vacana writers quote profusely from the Śivāgamas to establish their tenets, it is surprising to note that they scarcely quote from the *Siddhānta Śikhāmaṇi (S.S)*, the authentic text book on Vīraśaiva philosophy. The following verse quoted in the Vacana literature from the *Siddhānta Śikhāmaṇi* is also found in the *Anubhavasūtra* of Māyideva :—

प्रसादादेव सा भक्तिः प्रसादो भक्तिसंभवः ।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजेनेव यथाङ्कुरः ।।

This makes the problem all the more complicated. But since Śrīpati Paṇḍita quotes many slokas from the *S. S.* in his *Śrīkarabhāṣya*, and the date of Śrīpati Paṇḍita is fixed as 1070 A.D., it may be safely assumed that the date of the composition of *S. S.* is much prior to that of Vacana literature.

My interest in the study of Vacana literature in comparison with the *S. S.* became keen, when I came across the English translation and criticism of a Vacana of Basaveśvara. My (metrical) Sanskrit translation of this Vacana runs as follows :

पूर्णे यदा नु नयने विषयो न दृष्टः
कर्णौ यदा तु भरितौ न श्रुतं तदन्यत् ।
पूर्णे करे यदि भवेन्न पृथक् सपर्या
श्रीसंगमेश न तव स्मरणं विभक्तम् ।।[4]

But the following comment on the Vacana by Prof. S. Ananthanarayana is unwarranted :

"Here Basavaṇṇa speaks of failure in devotion due to human weakness,"[5] the fact being that Basavaṇṇa speaks of climax in devotion due for human perfection. While going through the *S. S.* I come across the following verse, occuring on इन्द्रियानुग्रहस्थल of प्रसादिस्थल which certainly has inspired the composition of this Vacana of Basavaṇṇa :

सर्वेन्द्रियनिरूढोऽपि सर्वेन्द्रियविहीनवत् ।
शिवाहितमना योगी शिवं पश्यति नापरम् ।।[6]

Now let us examine a few instances, wherein we can see the influence of *S.S.* on Vacana literature, with special reference to Basaveśvara.

The final goal of Advaita Vedānta, Vīraśaivam being its climax is to attain not only liberation but also to have oneness with the Parabrahman, known as Śiva in Vīraśaivism. Nature of Mokṣa is narrated very charmingly in the *S. S.* as follows :

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते ।।[7]

Poetic expression to this stage is given by Akkamahādevi in one of her Vacanas, whose Sanskrit translation is as follows :

लिङ्गं कुत्र नु लिङ्गसंगजनितं सौख्यं कुतो वर्तते
का वा भिन्नतया तवेति मम सा प्रज्ञा विरोधिन्यतः ।
का बुद्धिः प्रभुमल्लिकार्जुन सुखं नास्त्यस्ति वा संगमाद्
निःसङ्गं नहि सङ्गमेव हि पुनर्जानामि संयुक्तयोः ।।[8]

The stage of a जीवन्मुक्त is referred to in the above Vacana of Basavaṇṇa beginning with पूर्णे यदा तु नयने --- Śivabhakti is considered to be the centre

of Vīraśaiva philosophy. Its importance is established by Māyideva as follows:

पञ्चमः पुरुषार्थो हि शैवी भक्तिः सनातनी ।।[9]

for devotion is primarily responsible for final liberation. Due to the grace of Śiva, Sivabhakti is born in a human being. Meaningful is the following statement of *S. S.* —

शुद्धान्तःकरणे जीवे शुद्धकर्मविपाकतः ।
जायते शिवकारुण्यात् प्रस्फुटा भक्तिरैश्वरी ।।[10]

If the single mind of a devotee is fixed in the meditation on Śiva, he/she cannot have rebirth responsible for various sufferings. In this connection Akkamahādevi states as follows :

लोकानां विविधक्रियासु भगवान् सूर्यो यथा प्रेरकोऽ-
ङ्गानां विविधक्रियासु सततं चित्तं तथा कारणम् ।
चित्तं तादृशमस्तु मामकमिदं ह्येकं पुनस्तद्यतो
लीनं चेत् प्रभुमल्लिकार्जुन भवत्पादे कुतो मे भवः ।।[11]

The Gītā admits the fickleness of mind and its control very difficult :—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।[12]

But Basaveśvara gives an unfailing device of the concentration of mind namely its meditation on the Lord as follows :

शाखासु लङ्घनपरो भवति प्लवङ्गः
तद्वन्मनो भवति तच्चपलं मदीयम् ।
कुत्रापि तत्स्थिरतरं भविता न किञ्चित्
श्रीसङ्गमेश कुरु ते चरणाब्जभृङ्गम् ।।[13]

Haṭhapradīpikā suggests that नादानुसन्धान् is the best and easiest way of mental concentration :—

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षति ।।[14]

Vīraśaivism being monistic philosophy advocates for the worship of Śiva and Śiva alone. Basaveśvara's statement in this regard is very significant :—

एकेश्वरं हि बहुधा विबुधा वदन्ति
साध्वीमणे हृदयवल्लभ एक एव ।
त्वामन्तरेण शरणं यदि यामि चान्यं
श्रीसंगमेश सरुचिः परवान्नभोगे ।।[15]

The idea has a beautiful correspondence to the following verse of *S.S* : —

शिवात्मकमिदं सर्वं शिवादन्यन्न विद्यते ।
शिवोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव ज्ञानमुत्तमम् ।।[16]

This idea is again in accordance with the Ṛgvedic statement एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति one of the special features of Vīraśaivism is that it is above caste, creed, sex, age, etc. In brief it is अतिवर्णाश्रम धर्म, for the moment once undergoes he has nothing to do with the customs, habits etc. of his previous āśrama. In a way पूर्वाश्रमत्व निरसन is inevitable for him. In this regard, *S. S.* states as follows :—

शिवसंस्कारयोगेन विशुद्धानां महात्मनाम् ।
किं पूर्वकालिकैर्धर्मैः प्राकृतानां हि ते मताः ।।[17]

This idea is explained figuratively by Basaveśvara as follows :

यस्य राज्येऽभिषेकः कृतः संभ्रमाद्
लक्षणं दैहिकं तस्य किं वीक्ष्यते ।
लिङ्गदीक्षा त्रिधा यस्य शुद्धा कृता
पूर्ववर्णाश्रमैस्तस्य किं तैस्तथा ।।

It is noteworthy that Basava and his followers discouraged the worship of God through the agency of Purohits. Basavaṇṇa for instance states as follows:

भार्याश्रितं रतिसुखं परमान्नभोगं
किं वात्मसेवकजनेन हि कारयन्ति ।
लिङ्गोपचारविषयं यदि साधयन्ति
श्रीसंगमेश विदितः किमु तैरनार्यैः ।।[18]

Similar idea is explained already in *S. S.* as follows :

लिङ्गधारी सदा शुद्धो निजलिङ्गं मनोरमम् ।
अर्चयेद् गन्धपुष्पाद्यैः करपीठे समाहितः ।।

For practical purpose, Śiva being invisible takes the three fold form, namely Guru, Liṅga and Jaṅgama. So that the devotee can worship Him easily. *S. S.* states as follows :

एक एव शिवः साक्षात् सर्ववस्तुप्रकाशकः ।
गुरुजङ्गमलिङ्गात्मा वर्तते भक्तिमुक्तिदः ।।[19]

Vibhūti is the first essential thing for the worship of Lord Śiva in the form of Liṅga. Basaveśvara glorifies its importance as follows :—

पद्मं जलाशयविभूषणमस्ति यद्वद्
वीचीचयोऽम्बुधिविभूषणमेव तद्वत् ।
चन्द्रो यथा गगनभूषणमस्ति कान्तः
श्रीभस्मभूषितमुखः शरणः प्रशान्तः ।।

This is in accordance with the following verse of *S. S* :—

सर्वाङ्गोद्धूलनं चापि न समानं त्रिपुण्ड्रकैः ।
तस्मात् त्रिपुण्ड्रमेवैकं लिखेदुद्धूलनं विना ।।[20]

But the most important one is पंचाक्षरीमन्त्र, which is glorified in the *S.S.* as follows :—

सप्तकोटिषु मन्त्रेषु मन्त्रः पञ्चाक्षरो महान् ।
ब्रह्मविष्ण्वादिदेवेषु यथा शम्भुर्महत्तरः ।।[21]

So it is natural on the part of Akkamahādevi to glorify this mantra as follows :—

सप्तकोटीनि मन्त्राणि शास्त्रोदितं
चित्त ! मा भूरतस्त्वं नु चिन्ताकुलम् ।।

The following Vacana of Akkamahādevi clearly states the reason for detachment to physical enjoyments :—

मूत्रामेध्यघटोऽस्थिपञ्जरमिदं पूयादिपूर्णं वपुः
नानारोगमयं विनाशिनममुं कायं च धिङ्मामकम् ।
काये कामुकलालिते न भवतो मोदो वृथा सुन्दरो
मायान्धः प्रभुमल्लिकार्जुन यतस्त्वत्स्नेहनष्टो नरः ।।

Very surprising is the fact that this Vacana is influenced by the following verse of *S. S.* :—

मलकोशे शरीरेऽस्मिन् महादुःखविवर्धने ।
तडिदङ्कुशसंकाशे को वा मोदेत पण्डितः ।।[22]

Very pertinent is the exclamation of जीमूत वाहनः

सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ।।[23]

In a way this is an introduction to संसार हेयस्थल with the examples of crows, etc. enjoying together whatever little they get, Basavaṇṇa stresses the need for Śivabhaktas Sahabhojana. The Vacana runs as follows :—

काकोऽशनाल्पशकलं समवेक्ष्य बन्धून्
आमन्त्रयत्यनुपदं कृकवाकुरेवम् ।
भूत्वा त्वदीयशरणा यदि वात्मनिष्ठाः
श्रीसंगमेश भुवनेऽत्यकरास्तु तेभ्यः ।।[24]

This has its correspondence in the following verse of *S.S.* :—

यदा दीक्षाप्रवेशः स्याल्लिङ्गधारणपूर्वकम् ।
तदाप्रभृति भक्तोऽसौ पूजयेत् स्वागमस्थितान् ।।[25]

Whatever one enjoys must be dedicated to Śiva who alone is the master. So Śiva is the object of प्रत्यक्षादि प्रमाण: Basaveśvara gives a poetic expression to the ideas as follows :—

नामामृतं वचसि मे सततं त्वदीयं
मन्नेत्रयोर्भवतु तेऽद्भुतविश्वमूर्तिः ।
कर्णे ममास्तु सततं यशसः सुगीतं
चित्ते सदा भवतु मे स्मरणं त्वदीयम् ।।
त्वत्पादपङ्कजयुगे भ्रमरोऽहमस्मिन्
श्रीसंगमेश मधुरक्तमना हि लोके ।।[26]

This reminds us of the follwing verse of *S. S.*

पीतं यथा स्तनं स्त्रीणां सेवान्यस्य तु गर्हिता ।
शिवं विना तथान्येषां सेवानिन्दाकृतात्मनाम् ।।[27]

It is devotion alone which can protect one from worldly perils, the cycle of births and deaths. Hence Basavaṇṇa states as follows :

विन्ध्याख्यशैलशिखरे शुकशावकं मां
शर्वानुरागविमला भवपञ्जरेऽस्मिन् ।
संस्थाप्य रक्ष सदयं भवतापहारिन्
श्रीसंगमेश शिवकीर्तनभाग्यवन्तम् ।।[28]

Similar idea is explained long back in the *S.S.* as follows :

बहुजन्मकृतैः पुण्यैः प्रक्षीणे पापपञ्जरे ।
शुद्धान्तःकरणो देही पिण्डशब्देन गीयते ।।[29]

It is also due to devotion to God based on true knowledge of Vedānta that a man is convinced of the omnipresence (along with omnipotence) of God. Significant is the following statement of the Gītā.

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।[30]

Any religion is honoured because of its ethical values, which are enumerated charmingly as follows :

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दया क्षमा ।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ।।[31]

The most famous Vacana of Basavaṇṇa enumerating the elements of ethical code runs as follows :—

चौर्यं न कार्यमथवा न वधोऽपि कार्यो
मिथ्या न वाच्यमथवा कुपितो न भूयात् ।
निन्दापरो न निजकीर्तनमत्यकार्यं
श्रीसंगमेश तव तुष्टिरनेन भूयात् ।।[32]

The most significant contribution of Vīraśaivism to the philosophy of World region is that it brings God to the devotee and the devotee need not waste his time, energy money etc. in search of temples etc. For it advocates the physical body of a human being itself is a temple. This idea is very poetically described by Basavaṇṇa as follows :

वित्तान्विता विरचयन्ति शिवालयं ते
कुर्यामहं किमिह निर्धनिको यतोऽहम् ।
स्तम्भो मदीयचरणस्तनुरेव हर्म्यं
शीर्षं सुवर्णरचितः कलशो मदीयम् ।।

यत् स्थावरं भवति तत्क्षणिकं चरं यत्
श्रीसंगमेश भवति ध्रुवमक्षयं तत् ।।[33]

Its essence is suggested in the following verse of *S. S.*

समस्तजगदात्मापि शङ्करः परमेश्वरः ।
भक्तानां हृदयाम्भोजे विशेषेण विराजते ।।[34]

Āgama Vacana expresses it very clearly as follows :

देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयन् ।।

True knowledge of God is ultimately responsible for final liberation. Basavaṇṇa states as follows :

लोहोऽन्नभाण्डरचनाविधिसंप्रयुक्तः
संस्कारतो व्रजति दर्पणतां स एव ।
ज्ञानाद् भवेद् भुवि नरः शरणः स एव
श्रीसंगमेश शरणस्मरणं सदा स्यात् ।।[35]

Similar idea is explained in the *S. S.* as follows :

भेदबुद्धिसमुत्पन्नं महासंसारसागरम् ।
अद्वैतज्ञानपोतेन समुत्तरति देशिकः ।।[36]

This is the echo of the Gītā statement long back.

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यति।।[37]

Thus we can see many similarities between the *S. S.* & the Vacana literature.



REFERENCES

1. S. D. Pawate, *Vīraśaiva Philosophy of the Śaivāgamas*, Hubli, 1927, p.6
2. Chandrashekhara Shastry Mangapurmath, *Śivāgamagaḷe Vīraśaivara Mūla Granthagaḷu*. 1933, p. iii.
3. *S. S.* IX II and *A. S.* VIII 31.
4. *Basaveśvaraśatakam*, 78
5. S. Ananthanarayana, *Thus Sang Vīraśaiva Mystics*, Basava, p. 50
6. *S. S.* XVIII 14
7. *S. S.* XX 68
8. *Akkamahādevī Śatakam* 101
9. *Anubhavasūtra* VIII 78
10. *S. S.* II 50
11. *Akkamahādevī Śatakam* 12
12. *Gītā*
13. *Basaveśvaraśatakam* 4
14. *Haṭhapradīpika* IV 90
15. *Basaveśvarasatakam* 62
16. *S. S.* XVI 31
17. *S. S.* X 32
18. *Basaveśvaraśatakam* 26
19. *S. S.* IX 59
20. *S. S.* VII 29
21. *S. S.* VIII 4
22. *S. S.* V 68
23. *Śrī Harsa Nāgānanda* IV 7
24. *B. S.* 56
25. *S. S.* IX 28
26. *B. S.* 57
27. *S. S.* XIII 35

28. *B. S.* 5
29. *S. S.* VI 32
30. *Gītā*
31. *S. S.* XV 59
32. *B. S.* 36
33. *B. S.* 86
34. *S. S.*
35. *B. S.* 89
36. *S. S.*
37. *Gītā.*



THE CONCEPT OF GAṆĀCĀRA IN SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI

Dr. P. M. Dinesh

Any religion consists of three components, namely (1) personal (physical), (2) social (ethical) and (3) spiritual. In Vīraśaivism they are represented respectively by (1) Aṣṭāvaraṇa (eight-fold coverings), (2) Pañcācāra (five-fold ethical value), (3) Ṣaṭsthala (six-fold philophicospiritual progress). Even though the *Siddhānta Śikhāmaṇi* deals with Ṣaṭsthala Siddhānta, further sub-divided into 101 Sthalas beginning with Piṇḍasthala and ending with Jñāna Śūnyasthala, it also explains the nature of Aṣṭāvaraṇa and Pañcācāra.

Religion without ethics is practically an impossibility, though various religions are differing from one another with regard to local customs etc. Removing that cover of local customs etc., if we peep into its ethical aspect, we are at once convinced of this truth. No religion for example teaches to hate one another or to hurt one another.

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना ।

is a famous line of a Urdu poet. This ethical aspect of any faith is enumerated by Patanjali in his lists of Yamas and Niyamas. They are as follows :

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।[1]
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।[2]

The *Siddhānta Śikhāmaṇi* enumerates the ten-fold ethical value in the following verse :

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दया क्षमा ।
दानं पूजा जपो ध्यानमिति धर्मस्य संग्रहः ।।[3]

Basaveśvara summarises the essence of Dharma in one of his Vacanas :

The moment a person undergoes three fold लिङ्ग दीक्षा he/she at once becomes a newly born (re-born) person. Hence he is called गुरुकरसंजाता.

Significantly, as a result of which he has nothing to do with the habits, customs etc., of his previous Āsŕama. In a way पूर्वाश्रम निरसन is very essential in the case of a Vīraśaiva. All his activities are connected with the worship of Śiva, visible in his three-fold form namely Guru, Linga and Jaṅgama. Though he has to deal with people of other faiths, being a social man, he should protect himself from the pollution of that social contact. This he can do with the help of Pañcācāra namely, लिङ्गचार, सदाचार, शिवाचार, भृत्याचार and गणाचार since स्वधर्मनिष्ठा is always associated with परधर्मसहिष्णुता a Vīraśaiva can remain unpolluted without disturbing others.

Since he has to live in the midst of so many people, following different faiths in a society, he not only has to follow his faith, he has to protect it from the onslaught other faiths. This defence of one's faith is at the root of Gaṇācāra.

It is noteworthy that people of the same habits etc. love to live together. Following Subhāṣita is very significant in this context :

मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति
गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः ।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।।

This fact is very practical, Vīraśaiva religion being no exception. Hence *Siddhānta Sikhāmaṇi* states as follows :

यदा दीक्षाप्रवेशः स्याल्लिङ्गधारणपूर्वकम् ।
तदाप्रभृति भक्तोऽसौ पूजयेत् स्वागमस्थितान् ।।[4]

Since the goal of every religion is to make man perfect, so that he may get final liberation (Mokṣa), every individual is free to practice his own religion and others have no business to disturb him, as long as he is not disturbing others.

Being a Vīraśaiva, one has to worship Śiva and Śiva alone in the form of Iṣṭaliṅga. In other words, he should not worship God in any other form, which is in accordance with the Ṛgvedamantra: "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" So, the *Siddhānta Śikhāmaṇi* prohibits Vīraśaivas from worshipping God in any other form :

नार्चयेदन्यदेवांस्तु न स्मरेन्न च कीर्तयेत् ।
न तन्नैवेद्यमश्नीयात् शिवभक्तो दृढव्रतः ।।

सदा शिवैकनिष्ठानां वीरशैवानुवर्तिनाम् ।
नहि स्थावरलिङ्गानां निर्माल्याद्युपभुज्यते ।।[5]

If there is any danger to any of the aṣṭāvaraṇas in addition to Sthāvaraliṅga, he should try to avoid it even at the cost of his life :

यत्र स्थावरलिङ्गानामपायः परिवर्तते ।
अथवा शिवभक्तानां शिवलाञ्छनधारिणाम् ।।

तत्र प्राणान् विहायापि परिहारं समाचरेत् ।
शिवार्थं मुक्तजीवश्चेत् शिवसायुज्यमाप्नुयात्[6] ।।[6]

The spirit of Gaṇācāra is to avoid seeing any such brutal action or listening to any scornful utterance with reference to worshippable things like Guru, if he is not capable either of convincing or punishing him, so affending. The *S. S.* states as follows :

यत्र आचारनिन्दास्ति कदाचित्तत्र न व्रजेत् ।
यद् गृहे शिवनिन्दास्ति तद् गृहं तु परित्यजेत् ।।[7]

The nature of Gaṇācāra is described in a nutshell as follows :

शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवा शपेत् ।
स्थानं वा तत् परित्यज्य गच्छेद् यद्यक्षमो भवेत् ।।[8]

In this context we can quote the instance of Pārvatī, who observes Gaṇācāra with reference to a Vaṭu (Śiva in that guise) insulting Śiva with so many objectionable words. First she asks her friend to send him away. But when she is convinced of the fact that it is not possible, ultimately she decides to go away from him, so that she should not listen to such words, for she is of the firm belief that listening to Śivanindā is equally sinful. This is what she declares :

न केवलं यो महतोऽपभाषते ।
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ।।[9]

इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी ।[10]

If we analyse the *S. S.* verse No. IX 38, we can see three-fold remedy for avoiding listening to शिवादिनिन्दा namely, (1) killing a man, so abusing, (2) cursing him and (3) avoiding the place and going away, if he is not able to do the first two. But if we think practically keeping in view

the present situation, we can not kill a person, however criminal he may be, as law today prohibits it. As we lack शापानुग्रहशक्ति we cannot curse him even. Hence the only alternative left to us is that we may leave the place and go away, so that we should not commit the sin of listening to शिवादिनिन्दा. The nature of Gaṇācāra is explained very beautifully in the following subhāṣita :

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानद् मुखभङ्गो वा दूरतो वा विसर्जनम् ।।



REFERENCES

1. Patanjali, *Yogasūtra*, II, 30.
2. *Ibid.* II. 32.
3. *Siddhanta Śikhāmaṇi*, XVI. 59
4. *Ibid.* IX. 28
5. *Ibid.* IX. 31, 32
6. *Ibid.* IX. 34, 35
7. *Ibid.*, IX. 36
8. *Ibid.* IX. 38
9. Kalidāsa, *Kumārasambhava*. V. 83
10. *Ibid.* V. 841



श्रीसिद्धान्तशिखामणि-प्रतिपादित लिङ्गधारण की निगमागममूलकता

– डॉ० चन्द्रशेखर कपाले –

आकाशं लिङ्गमित्याहु: पृथिवी तस्य पीठिका ।
आलय: सर्वभूतानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते ।।

(चन्द्रज्ञा. क्रिया. ३ पटल)

लिङ्गमध्ये जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
लिङ्गं बाह्यं परं नास्ति तस्माल्लिङ्गं प्रपूजयेत् ।।

(वीरागम)

पत्रशाखादिरूपेण यथा तिष्ठति पादप: ।
तथा भूम्यादिरूपेण शिव एको विराजते ।।

(शि. सि., परि. १०.७०)

उपर्युक्त आगमों तथा श्रीसिद्धान्तशिखामणि के श्लोकों से शिव और शिवलिङ्ग की विश्वव्यापकता स्पष्ट होती है। संसार में शिवलिङ्गोपासना अति प्राचीन है, इस बात को सभी विद्वान् संशोधक मानते हैं। मोहेंजोदरो तथा हड़प्पा के उत्कीर्ण भग्न अवशेषों से इस बात की सुदृढता से पुष्टि भी हो चुकी है।

शिवोपासक सभी सम्प्रदाय शिव की अथवा उनके प्रतीक शिवलिङ्ग की उपासना करते हैं। शैव, वीरशैव, पाशुपत, कालामुख, नाथ आदि कई मार्गों के उपास्य शिव ही हैं। किन्तु इन सभी सम्प्रदायों में से आज विद्यमान वीरशैव सम्प्रदाय एक मात्र ऐसा है, जिसके अनुयायी अपने शरीर पर लिङ्ग धारण कर उसकी अर्चना अपने करपीठ पर करते हैं। यद्यपि वीरशैव सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती नाम वीरमाहेश्वर, पाशुपत, जंगम, लिङ्गी ब्राह्मण आदि मिलते हैं, फिर भी वर्तमान में वीरशैव, लिङ्गायत या लिङ्गवत इन नामों से यह सम्प्रदाय विशेषकर दक्षिण भारत में सुप्रसिद्ध तथा सुप्रतिष्ठित है।

वीरशैवों का ब्राह्य लक्षण अन्य शैवों की तरह भस्म, रुद्राक्ष आदि को शरीर पर धारण करना चाहते हैं ही, परन्तु इसके साथ विशेष लक्षण यह है कि वे अपने शरीर पर लिङ्ग धारण करते हैं तथा अपने करतल पर अपने गुरुदत्त लिङ्ग को रखकर उसकी पूजा अर्चन

करते हैं। यही शिवभक्त वीरशैव कहलाते हैं। स्कन्द पुराणान्तर्गत शंकरसंहिता में 'वीरशैव' का वर्णन इसी विशेषता को प्रकट करता है —

यो हस्तपीठे निजमिष्टलिङ्गं विन्यस्य तल्लीनमनःप्रचारः ।
बाह्यक्रियासङ्कुलनिस्पृहात्मा सम्पूजयत्यङ्ग स वीरशैवः ।।

(अष्टावरण विज्ञान)

इससे हमें इस बात का तो पता चल ही जाता है कि वीरशैव तथा उनकी लिङ्गपूजा पद्धति कितनी प्राचीन है। कुछ विद्वान् इष्टलिङ्गपूजा पद्धति एवं वीरशैव धर्म की स्थापना बहुत उत्तरकालीन-बारहवीं शताब्दी में किये जाने का दुराग्रही प्रतिपादन श्रीबसवेश्वर जी करते हैं। वे अपने इस विधान के समर्थन में कुछ चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसृत करते है। संक्षेप में उनका कहना यह है कि श्रीबसवेश्वरजी को उनके उपास्य कप्पडी संगमनाथ के मन्दिर में उपासना ध्यानादि करते समय ज्योतिर्लिङ्ग का साक्षात्कार हुआ, जिससे उनके मन में इष्टलिङ्ग की कल्पना स्फुरित हुयी और उन्होंने इष्टलिङ्ग को शरीर पर धारण करने की प्रथा शुरु की। यह कथन कदापि सही नहीं हो सकता, क्योंकि 'बसवपुराण' जो कि श्री बसवेश्वर के समय से बहुत समीप काल में लिखा गया है, उसमें स्पष्ट रूप से यह बात वर्णित है कि श्री बसवेश्वर जी ने अपनी बाल्यावस्था में ही बाह्य कर्मकाण्ड तथा हिंसात्मक यज्ञ के प्रतीक यज्ञोपवीत को धारण न करने का निश्चय कर कूडलसंगम के श्री जातवेदमुनि नामक आचार्य से दीक्षा लिया तथा इष्टलिङ्ग धारण किया था, जो कि नितान्त दृढ वीरव्रती शिवभक्ति का प्रतीक माना जाता है। पूर्वोक्त असत्य कथन के साथ इधर 'जगज्योति बसवेश्वर' नामक एक कन्नड़ चलचित्र में श्री बसवेश्वर जी को अपने करपीठ पर एकाएक इष्टलिङ्ग प्राप्ति का दृश्य दिखाया गया है, जो कि सत्य का अपलाप तथा श्रद्धालु भक्तों में अन्धविश्वास को जगाना सिद्ध हो सकता है। वास्तविकता यह है कि वीरशैवों के इष्टलिङ्ग पूजा का मूलस्रोत निगमागमों में पाया जाता है। देवताओं के लिङ्गधारण का वर्णन वीरशैवों का एक प्रमाण ग्रन्थ श्रीसिद्धान्तशिखामणि में इस प्रकार वर्णित है —

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो गौतमादयः ।
धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः ।।

लक्ष्म्यादिशक्तयः सर्वाः शिवभक्तिविभाविताः ।
धारयन्त्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्गमहर्निशम् ।।

(सि.शि.म., परि. ६.५६-५७)

इसी प्रकार का वर्णन आगमों तथा पुराणों में भी मिलता है।

इसी के साथ यह भी बताया गया है —

वेदशास्त्रपुराणेषु कामिकाद्यागमेषु च ।
लिङ्गधारणमाख्यातं वीरशैवस्य निश्चयात् ।।

(तत्रैव)

इससे स्पष्ट होता है कि वीरशैवों का लिङ्गधारण निगमागम, अर्थात् वेद-शास्त्र, आगम-पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय है। अन्य सामान्य शैव शिवलिङ्ग की अर्चना बाह्य पीठ पर करते हैं, परन्तु वीरशैवों के लिए करपीठ पर इष्टलिङ्ग की अर्चना श्रेष्ठ बतायी गयी है।

बाह्यपीठार्चनादेतत् करपीठार्चनं वरम् ।
सर्वेषां वीरशैवानां मुमुक्षूणां निरन्तरम् ।।

(सि.शि., परि. ६.५५)

सभी मुमुक्षु वीरशैवों के लिए बाह्यपीठ पर लिङ्ग रखकर पूजा करने की अपेक्षा करपीठ पर इष्टलिङ्ग की अर्चना करना श्रेष्ठ होता है।

वीरशैव सिद्धान्त और आचार का वर्णन मुख्यत: शिवागमों में पाया जाता है। इसलिए —

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।

(सि.शि., परि. ५.१४)

कामिकादि वातुलान्त शिवागमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत का वर्णन आया है। फिर भी वीरशैव मत तथा इष्टलिङ्ग पूजा का उल्लेख वेदों में भी पाया जाता है। जैसे कि —

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत:।
अतप्ततनुर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहस्तत्समाशते ।।

(ऋग. ९.८३-१)

इस मन्त्र का उल्लेख करते हुए श्रीसिद्धान्तसिखामणि में कहा है —

ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम् ।।

ब्रह्मेति लिङ्गमाख्यातं ब्रह्मण: पतिरीश्वर: ।
पवित्रं तद्धि विख्यातं तत्सम्पर्कात् तनु: शुचि: ।।

(सि.शि., परि. ६.५९-६०)

हे ब्राह्मणस्पते (ब्रह्म के स्वामी अर्थात् शिव) तुम्हारा जो लिङ्ग रूप है, वह अत्यन्त पवित्र है। इसलिए उसे शरीर पर धारण किया जाए, ऐसा ऋग्वेद का आदेश है। क्योंकि यह लिङ्ग ब्रह्मा के पति शिव का है और वह अत्यन्त पवित्र होने के कारण उसके निरन्तर धारण से शरीर शुद्ध होता है। इस मन्त्र के पवित्रम्, ब्रह्मणस्पते, अतप्ततनुः, आम— इत्यादि पदों को लेकर लिङ्ग का स्पष्टतया निरूपण किए जाने से इस मन्त्र का 'पवित्रम्' यह पूर्वार्ध इष्टलिङ्ग धारण का और 'अतप्ततनुः' यह उत्तरार्ध लिङ्गधारण रूप शिवदीक्षा संस्कार का बोध करा रहा है, ऐसा समझ लेना चाहिए। ऋग्वेद का ही दूसरा मन्त्र —

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ।।

(ऋक्. १०।६।१२)

लिङ्गधारणचन्द्रिका के हिन्दी अनुवाद में इसका विवरण इस प्रकार दिया है—लिङ्गरूप यह सदाशिव मेरे हाथ पर विराजमान हैं। यही शिवलिङ्ग मुझे सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य देने वाला है। मेरे हाथ पर विराजमान यह शिवलिङ्ग मेरे सम्पूर्ण भवरोगों का नाश करने वाला महावैद्य है।

अयं माता अयं पिता अयं जीवातुरागमात् ।
इदं तव प्रसर्पणं सुबन्धवे हि निरीहिता ।।

(ऋक्.१०।६०।७)

मेरे हाथ में रहने वाला यह लिङ्ग माँ की तरह स्नेहवाला है। पिता की तरह रक्षा करने वाला है। यह शिवलिङ्ग सञ्जीवनी की तरह प्राणरक्षक है। शास्त्र के प्रमाण से हे निर्व्याज बन्धु यहीं पधारो। मेरे हाथ में रहने वाला यह शिवलिङ्ग आपके लिए विहारस्थल है। इधर उधर न जाकर इस इष्टलिङ्ग पर निरन्तर निवास करो।

इस तरह के अन्य मन्त्र भी यहाँ उद्धृत हैं। श्वेताश्वतर, अथर्वशिरस, शतरुद्रिय आदि अनन्त श्रुतियाँ 'भगवान्' पद को केवल 'शिव' में विनियुक्त करती हैं, अतः 'अयं में हस्तो भगवान्' इस मन्त्र के भगवान् पद का शिवलिङ्ग रूप अर्थ निर्विवाद हो जाता है।

'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी' — (श्रीरुद्रश्रुति, श्वे.उ.३.५यजु.)
'लिङ्गं तु शिवयोर्देहः'— (आगम)

इन वेदागमवचनों पर आधारित वर्णन 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' में हैं —

अघोराऽपापकाशीति या ते रुद्र शिवा तनूः ।
यजुषा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोऽघवर्जितः ।।

(सि.शि., परि. ६.६२)

लिङ्ग शिव का शरीर है और वह पाप का नाश करने वाला है। उस लिङ्ग का मनुष्य के शरीर से निरन्तर स्पर्श होने से, अर्थात् उसको सदा शरीर पर धारण करने से वीरशैव निरन्तर शुद्ध होता है।

अथ प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुः ।
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नमयत्यपानं पर्यवस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ।।

(अथर्वशिरः, कठवल्ली)

इसी के समान श्रीसिद्धान्तशिखामणि में प्राणलिङ्गार्चन बताया गया है —

पद्मपीठे समासीनं चिल्लिङ्गं शिवविग्रहम् ।
भावयित्वा सदा कालं पूजयेद् भाववस्तुभिः ।।

(सि.शि., परि. १२.१५)

पं. काशीनाथ शास्त्रीजी जब काशी के जङ्गमवाड़ी मठ में रहा करते थे, तब उन्हें शिवतत्त्व प्रतिपादक उपनिषदों के कई नाम विदित हुए। उन्हीं दिनों किसी कारणवश वे मैसूर चले गये थे। वहाँ पर जगद्विख्यात ओरियंटल लाइब्रेरी में शिवतत्त्व प्रतिपादक कई उपनिषदों का भंडार सा मिला। उनमें वेदान्तसारोपनिषद्, भक्तियोगोपनिषद्, निर्लेपोपनिषद्, पिप्पलोपनिषद, प्रसादजाबालोपनिषद, चिदम्बरोपनिषद्, प्रणवशरीरोपनिषद् श्रुतिरहस्योपनिषद्, सिद्धान्तशिखोपनिषद् आदि कई उपनिषद् केवल शिवतत्त्व पर ही हैं। मद्रास गवर्नमेंट ओरियन्टल लाइब्रेरी में लिङ्गधारणोपनिषद् तथा यजुर्वेद शाखा का वीरलैङ्ग्योपनिषद् यह सर्वोत्तम उपनिषद् भी है। इन सभी उपनिषदों में लिङ्गधारण के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा गया है। इसका विशेष विवरण पं. काशीनाथ शास्त्री जी के 'वीरशैवरत्न' ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

इष्टलिङ्ग की अर्चना किस प्रकार करना चाहिए इसका वर्णन शिवागमों में कई स्थानों पर प्राप्त होता है। शरीर पर धारण किया हुआ दीक्षा संस्कार युक्त, गुरुदत्त लिङ्ग मुख्यरूप से तीन प्रकार का माना जाता है —

१. इष्टलिङ्ग, २. प्राणलिङ्ग और ३. भावलिङ्ग। इसका वर्णन मकुटागम में इस प्रकार है —

इष्टलिङ्गं तु बाह्याङ्गे प्राणलिङ्गं तथान्तरे ।
भावलिङ्गं तथैवास्मिन्नात्माङ्गे सुप्रतिष्ठितम् ।।

(मकुट-चर्या. २.२६)

पूजा किस प्रकार से हो —

भस्मशय्याश्रिते वामकरपीठेऽभिमन्त्रिते ।
इष्टलिङ्गं सुविन्यस्य उत्तरास्याभिसम्मुखः ।
पूजयेद् अवधानेन भावनापूर्णसाधनः ।।
(मकुट-क्रिया. ४२)

शरीर पर इष्टलिङ्ग, प्राण में प्राणलिङ्ग तथा आत्मा में भावलिङ्ग के पूजनीय लिङ्ग का वर्णन चन्द्रज्ञानागम में इस प्रकार वर्णित है —

महालिङ्गं त्रिधा जातं सुजनाभिजिघृक्षया ।
प्रथमं भावलिङ्गं तु द्वितीयं प्राणलिङ्गकम् ।
तृतीयमिष्टलिङ्गं स्यादित्येवं त्रिविधं मतम् ।।
(चन्द्र.क्रिया. ३.२३)

यहाँ पर भावलिङ्ग को प्रथम, प्राणलिङ्ग को द्वितीय तथा इष्टलिङ्ग को तृतीय बताया गया है वह पूजा के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए समझना चाहिए। इष्टलिङ्ग की पूजा बाह्यपूजा है, उससे प्राणलिंङ्ग की पूजा श्रेष्ठ तथा भावलिङ्ग की पूजा सर्वश्रेष्ठ होती है। आरम्भ तो इष्टलिङ्ग पूजा से ही करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है —

इष्टलिङ्गे ततो नित्यं पूजनीयः परः शिवः ।
ध्येयश्च सततं विद्वन् लिङ्गरूपीऽम्बिकापतिः ।।

पूजयन्निष्टलिङ्गं तु निध्यायन् प्राणलिङ्गकम् ।
भावयन् भावलिङ्गं वै मृत्युपाशांच्छिनत्ति सः ।।
(चन्द्र. क्रिया. ३.३२,४८)

इष्टलिङ्ग की पूजा करते समय हृदयस्थ शिव को इष्टलिङ्ग के रूप में किस प्रकार करपीठ पर रखा जाए। इसकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है —

हृदयाद्रिगुहावास करुणावास शाश्वत ।
पूजापरिग्रहायाद्य करपीठे निषीद मे ।
इति मन्त्रेणेष्टलिङ्गं विन्यसेत् करपङ्कजे ।।

(कारण.उत्तर. ८.१६)

लिङ्गधारण का महत्त्व बताते हुए स्वयं शिव ही पार्वती से कहते हैं —

एवं हि महिमा देवि मम लिङ्गस्य किं पुनः ।
धृते तु तस्मिन् स्वतनौ सर्वा लिङ्गमयी तनुः ।।

न पुष्पाणि त्यजेत्पूजां न भुक्त्वा नाशुचिस्त्वपि ।
यदैव पूजयेल्लिङ्गं तदानुग्राहको ह्ययम् ।।

(पारमे. पटल. १.९२,१००)

उपलब्ध शिवागमों में एक सूक्ष्मागम ही ऐसा है कि जिसमें श्रीसिद्धान्तशिखामणि में वर्णित अष्टावरण तथा शिवलिङ्ग का स्वरूप वर्णन बड़े विस्तार-से आया है। विस्तार भय के कारण यहाँ पर केवल इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग तथा भावलिङ्ग का वर्णन उद्धृत किया जाता है —

शिवलिङ्गस्वरूपं ते वक्ष्यामि शृणु पार्वति ।
इष्टलिङ्गं प्राणलिङ्गं भावलिङ्गमिति त्रिधा ।।

दीक्षाविधानाद् गुरुणा यल्लिङ्गं दत्तमादरात् ।
मन्त्रोपदेशसहितं इष्टलिङ्गमुदाहृतम् ।।

त्यक्तदेहेन्द्रियगुणः शिवार्पितनिजान्तरः ।
शिव एव मनो लीनं प्राणलिङ्गं तदुच्यते ।।

जाग्रदादिष्ववस्थासु ज्योतिर्लिङ्गैक्यमानसम् ।
अज्ञानविनिवृत्तं च भावलिङ्गं तदुच्यते ।।

(सूक्ष्मागम-क्रिया.पटल १४-१७)

इष्टलिङ्गसंस्कार

एवं मन्त्रमुपादिश्य शिष्याङ्गमपि देशिकः ।
शिवलिङ्गमिति सञ्चिन्त्य लिङ्गसंस्कारमाचरेत् ।।

लिङ्गं हस्ते गृहीत्वा तु भावदृष्ट्या च देशिकः ।
संस्थाप्य लिङ्गे शिष्यस्य मस्तकस्थां कलां पराम् ।।

लिङ्गे प्राणं विनिक्षिप्य प्राणे लिङ्गं च शाम्भवम् ।
तल्लिङ्गं स्थापयेच्छिष्ये सम्यग् ध्यात्वैकभावतः ।।

ध्याने शिष्याय तल्लिङ्गं धारयित्वा निरूपयेत् ।
वीरमाहेश्वराचारनिष्ठां परमदुर्लभाम् ।।

(सूक्ष्मागम-उत्तरभाग, क्रियापाद पटल-५.४२-४५)

शिवलिङ्ग का स्वरूप वर्णन तथा इष्टलिङ्ग संस्कार के विषय में उपर्युक्त वर्णन श्री सिद्धान्तशिखामणि के समान प्रतीत होता है। अन्य भी कुछ साम्यस्थल यहाँ पर प्रस्तुत है।

वीरमाहेश्वराचार

दत्तं लिङ्गमिदं वत्स न कदाचिद् वियोजय ।
प्राणवद् रक्षणीयं हि प्राणलिङ्गमिदं तव ।।

(देखिये— प्राणवद्धारणीयं तत्प्राणलिङ्गमिदं तव ।
कदाचित्कुत्रचिद्वापि न वियोजय देहतः ।।

(सि.शि., परि. ६.२६)

उत्तमाङ्गे गले कक्षे तथा वक्षःस्थलेऽपि वा ।
करस्थलेऽपि वा नित्यं सावधानेन धारय ।।

(देखिये— मूर्ध्नि वा कण्ठदेशे वा कक्षे वक्षःस्थलेऽपि वा ।
कुक्षौ हस्तस्थले वापि धारयेल्लिङ्गमैश्वरम् ।।

(सि.शि., परि. ६.५२)

प्रमादात् पतिते लिङ्गे भिन्ने चोरादिभिर्हृते ।
पीठादुत्क्रमिते वापि तूर्णं प्राणं परित्यज ।।

(देखिये— यदि प्रमादात् पतिते लिङ्गे देहान्महीतले ।
प्राणान् विमुञ्च सहसा प्राप्तये मोक्षसम्पदः ।।

(सि.शि., परि. ६.२७)

न लङ्घयेद् गुरोराज्ञां तत्पादार्पितमानसः ।
शरीरमर्थं प्राणं च देवि तस्मै निवेदयेत् ।।

(देखिये— गुरोराज्ञां न लङ्घेत सिद्धिकामी महामतिः ।
तदाज्ञालङ्घनेनापि शिवाज्ञाच्छेदको भवेत् ।।

(सि.शि., परि. ९.५७)

इष्टलिङ्गपूजा दिन में कितने बार करना चाहिए? इस विषय में कहा गया है

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि शाङ्करि ।
पूजयेन्नियतं लिङ्गं प्राणलिङ्गपरायणः ।।

(सूक्ष्मा. उत्त. क्रिया. पटल ६.५१)

कन्नड़ के वचन साहित्य में अङ्ग तथा लिङ्ग का बहुचर्चित सतीपति भाव का मूलस्रोत भी यहाँ पर दिखाई देता है।

लिङ्गं पतिः सती चाहं भावोऽयं वीरशैविनाम् ।
तस्माल्लिङ्गात्यये देवि सद्यः प्राणान् परित्यजेत् ।।

(सूक्ष्मा. उत्त. क्रिया. पटल ७.५२)

अङ्ग तथा लिङ्ग का सामरस्य, अर्थात् जीव तथा शिव का ऐक्य—यह वीरशैवों के शिवयोग का साध्य है। अष्टावरण, षट्स्थल तथा सदाचार सम्पन्न शिवयोग साधना से जीव को शिवसायुज्य की प्राप्ति होती है। इसका वर्णन वातुलादि आगमों में मिलता है। 'कैवल्यसार' नामक श्रीमरितोंटदार्य कृत ग्रन्थ में इसका वर्णन निम्न प्रकार है —

शिव एव स्वयं लिङ्गमात्मैवाङ्गं भवेत् खलु ।
तयोः शिवात्मनोः सम्यग्योगः संयोग एव हि ।।

सम्यग्योगो हि संयोगो भवेल्लिङ्गाङ्गयोः सदा ।
संयोग एव सायुज्यरूपा मुक्तिर्न संशयः ।।

इस प्रकार हमने अब तक श्रीसिद्धान्तशिखामणि प्रतिपादित इष्टलिङ्ग धारण का निगमागम मूलकता देखी। लिङ्गधारण तथा लिङ्गधारी पाशुपत वीरशैवों की यह परम्परा आगे पुराणादि ग्रन्थों में बहुत विपुल मात्रा में वर्णित है। इष्टलिङ्ग दीक्षा का वर्णन आगम, पुराण तथा श्रीसिद्धान्तशिखामणि में किस प्रकार समान रूप में आता है, यह हम पहले देखेंगे —

दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम् ।
दीयते क्षीयते यस्मात् तस्माद् दीक्षेति कथ्यते ।।

सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवज्ञानविशारदैः ।
वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस ।।

(पारमेश्वरागम)

(पं. सदाशिवशास्त्री जी के 'वीरशैवेन्दुशेखरः' से उद्धृत)

लिङ्गपुराण में—

दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम् ।
दीयते क्षीयते यस्मात् सा दीक्षेति निगद्यते ।।

सा दीक्षा परमा शैवी त्रिधा भवति निर्मला ।
एका वेधात्मिका साक्षादन्या मन्त्रात्मिका मता ।
क्रियात्मिका परा काचिदेवमेव त्रिधा भवेत् ।।

(लिङ्ग पुराण-पुन्नाडव्यंकटराव, कांचीपट्टण, अध्याय१.८१-८२, इ.स.१८७९)

इन दोनों का श्रीसिद्धान्तशिखामणि में वर्णित दीक्षावर्णन से साम्य देखिये —

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः ।।

सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवागमविशारदैः ।
वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस ।।

इन साम्य स्थलों से पता चलता है कि श्रीसिद्धान्तशिखामणि के बहुत सारे श्लोकों का आधार आगम तथा पुराण ग्रन्थ भी रहे हैं।

अब कुछ लिङ्गधारी जनों का वर्णन देखें। लिङ्गपुराण में —

इत्युक्त्वा देवता: सर्वा: शिवलिङ्गादिधारणम् ।
कृत्वा पाशुपता: सर्वे तस्मात् पशुपति: शिव: ।।

(श्रीकरभाष्यानुसार)

ऐसा लिङ्गधारी पाशुपत तथा शिव के पशुपति नाम का सम्बन्ध वर्णित है। इसी प्रकार लिङ्ग, स्कन्द, कूर्मादि पुराणों में भी वर्णन आता है —

परब्रह्ममिदं लिङ्गं पशुपाशविमोचकम् ।
यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते ।।

(श्रीकरभाष्यानुसार)

श्री रामदासगौड अपने 'हिन्दुत्व' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—'वे लोग (पाशुपत) करण्ड में शिवलिङ्ग धारण किये रहते थे। कहीं कहीं ऐसे शैवों की चर्चा पुराणों में आती है। भविष्य कथन के रूप में महाभारत में भी लिङ्गियों की चर्चा है —

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा ।
आश्रमाणां विकल्पाश्च वृत्तेऽस्मिन् वै कृते युगे ।।

(शान्ति।।६४।२५)

इससे पता चलता है कि उस समय भी लिङ्गायतों की अच्छी संख्या रही होगी और वह समय कौन था? कृतयुग, अर्थात् सतयुग में भी लिङ्गधारण करने वाले बहुत थे। इससे वीरशैवों की प्राचीनता सिद्ध होती है ('हिन्दुत्व' — रामदास गौड़, पृ. ६८८)।

महाभारत के अनुशासन पर्व में उपलब्ध युधिष्ठिर तथा भीष्म का संवाद भी बडा महत्त्व रखता है। युधिष्ठिर पूछते हैं—

किमाहुर्भरतश्रेष्ठ पात्रं विप्रा: सनातना: ।
ब्राह्मणं लिङ्गिनं चैव ब्राह्मणं वाप्यलिङ्गिनम् ।।

अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ भीष्म, लिङ्गधारी ब्राह्मण और अन्य अलिङ्गी ब्राह्मण इन दोनों में दान देने योग्य कौन है? इस पर भीष्म का उत्तर है —

स्ववृत्तिमभिपन्नाय लिङ्गिने चेतराय च।
देयमाहुर्महाराज उभावेतौ तपस्विनौ ।।

(अनु.पर्व.अ. २२.२)

तपस्वी तथा स्वधर्माचरण करने वाले ब्राह्मण लिङ्गधारी हो या अन्य दोनों भी दान देने के लिये पात्र हैं। इस प्रसङ्ग से महाभारत काल में लिङ्गी ब्राह्मण, अर्थात् वीरमाहेश्वर, जंगमों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

'काशीखण्ड' में दुर्वासा का काशी में आकर पाशुपतों को देखना इस रूप में वर्णित है —

करण्डदण्डपानीयपात्रमात्रपरिग्रहान् ।
क्वचित् त्रिदण्डिनो दृष्ट्वा निःसङ्गान्निष्परिग्रहान् ।।

(काशीखण्ड, अध्याय ८५.९)

टीकाकार ने करण्ड को देवाधार पात्र, अर्थात् लिङ्ग के रखने का पात्र लिखा है।

ऐसे प्रगाढ़ शिवभक्तों का सम्प्रदाय 'वीरमाहेश्वर' या 'वीरशैव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने अङ्ग पर निरन्तर लिङ्ग धारण करने से ये पीछे से प्राकृत में 'लिङ्गायत' कहलाये। इनके सिवा शेष सभी लिङ्गार्चन करने वाले 'शैव' कहलाये। इस शैव (वीरशैव) मत का आरम्भ सृष्टि के आरंभ से बताया जाता है। अतः यह मत पाशुपत से अभिन्न है और कालानुसार ही उनके नामों में भेद पड़ता गया है। इसमें सभी प्रकार के वेदान्तीय विचारों का समावेश है। शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, भेदाभेद, विशेषाद्वैत ये कई प्रकार के विचार समविष्ट हैं।

पुराणों को वेदागमोपनिषदों का सबृंहण रूप माना जाता है। पौराणिक साहित्य से यह पता लगता है कि अगस्त्य, दधीचि, विश्वामित्र, शतानन्द, दुर्वासा, गौतम, ऋष्यशृङ्ग, उपमन्यु, व्यास आदि महर्षि शैव थे। व्यासजी के लिए कहा जाता है कि उन्होंने केदार में घण्टाकर्ण जी से पाशुपत दीक्षा ली, जिनके साथ पीछे से वे काशी में रहने लगे। व्यास काशी में 'घण्टाकर्ण' तालाब मौजूद है। वहीं घण्टाकर्ण की मूर्ति भी हाथ में लिङ्गधारण किये मौजूद है। भारत में अनेक प्राचीन मूर्तियाँ ऐसी भी मौजूद हैं, जो हाथ में उसी तरह लिङ्गधारण किए हुए हैं, जैसे वीरशैव उपासक हाथ में पूजा करने के लिए लेता है। काशी के विशालाक्षी देवी पंढरपुर में विठोबा, कोल्हापुर में अम्बाबाई, तुलजापुर में भवानी और बारशी में भगवन्त के मस्तक पर लिङ्ग मौजूद है (हिन्दूत्व—रामदास गौड, पृ. ६९५)।

इधर इतिहास काल में श्री शंकराचार्य जी को श्रीरेवणसिद्ध महायोगी से चन्द्रमौलीश्वर नामक लिङ्ग प्रदान का प्रसङ्ग 'गुरुवंशकाव्य' में वर्णित है। यह ग्रन्थ शृङ्गेरीपीठ के अधिकारी श्री सच्चिदानन्द भारती स्वामीजी ने उनके समय शृङ्गेरी संस्थान के आस्थान विद्वान् रहे, श्रीकाशी लक्ष्मण शास्त्री कवि जी से मूलाधार प्रमाणों से आद्य शंकराचार्य जी का चरित्र काव्य रूप में संगृहीत कराया था। उसमें —

श्रीचन्द्रमौलीश्वरलिङ्गमस्मै सद्रत्नगर्भं गणनायकं च ।
स विश्वरूपाय सुसिद्धदत्तं दत्वा न्यगादीच्चिरमर्चयेति ।।

श्रीशंकराचार्य जी ने अपने प्रथम शिष्य श्रीसुरेश्वराचार्य सरस्वती को चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग तथा रत्नगर्भ गणपति, जो कि उनको श्री रेवणसिद्ध महायोगी से मिला था, नित्य पूजा के लिए प्रदान करने का प्रसङ्ग वर्णित है। श्री रेवणसिद्ध महायोगी वीरशैवों के श्रीरंभापुरी (बालेहोन्नूर) पीठ के आचार्य थे। इससे वीरशैव तथा श्रीशंकराचार्यजी का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, 'श्रीसिद्धान्तशिखामणि' यह वीरशैवों का महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है और उसमें वीरशैवों का मुख्य बाह्य लक्षण शरीर पर लिङ्ग धारण (इष्टलिङ्ग दीक्षा) बताया है। इस निबन्ध में अब तक लिङ्ग धारण का इतिहास तथा प्राचीनता का विवरण वेदागमशास्त्र पुराण इतिहास आदि ग्रन्थों के आधार से किया गया। यह विषय इतना विशाल है कि मर्यादित पृष्ठसंख्या में उसका किञ्चिन्मात्र दर्शन कराना सम्भव था। इसका प्रयास इस निबन्ध के रूप में आपके सम्मुख रखा गया है। अभ्यास करने वाले को इससे इस विषय में अधिक अभ्यास की प्रेरणा मिली, तो वह हमारा परम सौभाग्य होगा।



सहायक-ग्रन्थ

१. पारमेश्वरागम—वे.मल्लिकार्जुन शास्त्री, वारद प्रकाशन, सोलापुर, ई.स० १९०४।

२. चन्द्रज्ञानागम, सूक्ष्मागम, मकुटागम-सं.–पं.व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी।

३. कारणागम—सं.–प्रो. रामचन्द्र पाण्डेय, शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, वाराणसी।

४. लिङ्गधारणचन्द्रिका—सं.–पं.व्रजवल्लभ द्विवेदी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, वाराणसी।

५. वीरशैवेन्दुशेखर—पं.सदाशिव शास्त्री, जंगमवाडी मठ वाराणसी, श.१८५४।

६. अष्टावरण विज्ञान—डॉ.चन्द्रशेखर शिवाचार्य, श्रीगुरु अमरेश्वरमठ, गुळेद्गुड्ड।

७. वीरशैवरत्न—पं.काशीनाथ शास्त्री, शिवधर्म ग्रन्थमाला, जंगमवाडी मठ, वाराणसी, १९५२।

८. शैवमत—डा.यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, इ.स.१९५५।

९. हिन्दुत्व—रामदास गौड, शिवप्रसाद गुप्त, काशी, वि.सं१९९५ प्रथम संस्क.।

१०. सिद्धान्तशिखामणि (मराठीभावानुवाद सह) सं.–डॉ.चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाडी मठ, वाराणसी,१९९३।

११. श्रीबसवेश्वर—एम.चिदानन्द मूर्ति, मराठी अनुवाद-रवीन्द्र किबहुणे, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया १९९१।



श्रौतशैवमतं शिवाद्वैतसिद्धान्तश्च

– श्रीनिर्मलशंकरशास्त्री, आराध्यः –

"शैवं च वैष्णवं शाक्तम्" इत्यादौ शैवमतस्यादौ परिगणितत्वाच्छैवं सर्वप्रथमं सन्-निगमागमपुराणादिषु सुष्ठु प्रतिपादितमित्यवदातदनादिकालात् प्रवर्तितं भवतीति मन्तु शक्यते। शैवमतस्य प्रधानाङ्गं शिवलिङ्गधारणमिति "व्रतमेतच्छाम्भवं तत्समाचरेन्मुमुक्षुरपुनर्भवाय" इत्यादिश्रुतिषु प्रोक्तमित्यतः शैवं श्रौतं भवति।

शैवे शिवसाक्षात्कारेण शिवसायुज्यप्राप्त्या जन्मराहित्यं स्यात् "तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्यादिकठवल्लीश्रुतौ ब्रह्माण्डसीमाया विरजानद्यास्तीरे विराजमाने वैकुण्ठे विराजमानस्य विष्णोः (विष्णुस्वरूपात्) परममुत्कृष्टं शिवस्वरूपं सूरयः शिवोपासकाः साक्षात्कृत्य, प्राप्नुवन्ति, इत्युक्तत्वान्मुमुक्षुप्राप्यं शिवस्वरूपमेवेति विज्ञायते। "यदा चर्मवदाकाशम्" इत्यादिश्रुतौ शिवविज्ञानात्मकशिवसाक्षात्कारं विना मुक्तिर्न सम्भवतीत्युक्त्या शिव एव मोक्षप्रदाता, नान्य इति निर्धार्यते।

जीवात्मा अस्वतन्त्रस्तिरोहितनिजरूपः शिवेच्छावशात् संसारं प्राप्य जन्मपरम्परा-मधिगच्छतीति—"पराभिध्यानात्तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ" इति ब्रह्मसूत्रमभिधत्ते। परस्य शिवस्य, अभिध्यानात् सङ्कल्पाज्जीवस्य निजरूपं तिरोहितमाच्छादितम्, ततस्तस्य परशिवस्य सङ्कल्पादस्य जीवस्य बन्धः ततस्तदनुग्रहान्मोक्षश्च सम्भवतीति श्रीनीलकण्ठाचार्यवर्य-सम्मतः सूत्रार्थः।

शिवाद्वैतसिद्धान्तस्तु श्रीनीलकण्ठाचार्यादिसम्मततया मद्विरचितश्लोकपञ्चके पठनीयः ग्राह्यश्च। यथा —

श्रीमच्छैवमते शिवः परतमो जीवप्रपञ्चौ स्थिरौ
चैतन्यादिगुणैः शिवेन समतामाप्नोति जीवः किल ।
बद्धः शम्भुसमिद्धयाऽद्य पशुतां प्राप्तः पुमान् संसर-
त्यार्तः सन् तदनुग्रहाच्छिवसमो भक्त्या च मुक्तो भवेत् ।।१।।

आर्तः संसारक्लेशानुभवपरवशतया शरीरवाङ्मनःपीडनेन विषयसुखे विरक्तः सन् विवेकेन शिवैकान्तभक्त्या उपासनात्मिकया शिवानुग्रहान्मुक्तो भवेदित्याशयः।

"परात् परवरो ब्रह्मा, तत्परात् परतो हरिः, तत्परात् परतोऽधीशः" इति शिवसङ्कल्पोपनिषदनुसारमत्र शिवः परतमः इत्युच्यते। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" इत्यादिश्रुत्या शिवांशो जीवः स्थिर इत्युच्यते। चिच्छक्तेर्विलास इति जगत् सत्यमित्युच्यते। स्टष्टं जगत् प्रलये शिवे लीनमपि सूक्ष्मांशेन वर्तत इति कृत्वा सृष्टौ स्थूलरूपेण आविर्भवति। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेर्जगन्मिथ्यात्वे जगति जीवमनुसृत्य शिवस्य प्रवेश न सङ्गच्छत इति विज्ञायते। सुखदुःखानुभवस्य मिथ्यात्वे कर्माचरणमेव न सिद्ध्येत। श्रीभगवतो गीतायां च कर्मसमुच्चितज्ञानप्रतिपादनस्य वैयर्थ्यमापद्येत।

शिवैकान्तभक्तिस्तु भस्मरुद्राक्षशिवलिङ्गधारणपूर्वकशिवपूजनशिवपञ्चाक्षरीमहामन्त्रोपांशुजप-शिवध्यानैर्भवति, "एतत्ततो भवति स्वात्मारामं मनआनन्दं शान्तिसमृद्धममृतम्" इत्यादि श्रुतेः। बन्धविमोचनकाले मूर्धन्यनाड्या शरीरान्निष्क्रम्य अर्चिरादिगत्या शिवपदप्राप्तेरनन्तर-मिति तत इत्यस्यार्थः। एतद् बद्धदशायां परिदृश्यमानं जगत् अमृतं जरामरणादिरहिततया अनादिकालमुक्तं शिवस्वरूपं मुक्तदशायां भवति। शिवस्वरूपं कीदृशमित्युक्ते स्वस्मिन् स्वकीयचिदंशे आरामं क्रीडमानम्, मनस्यप्राकृते आनन्द मनुभवत्, शान्त्या सर्वकामावाप्तिरूपया समृद्धं च। अपि च शाम्भवदीक्षास्वीकारपुरस्सरमेकाग्रभक्त्या कृतशिवपूजनजपध्यानानां श्रौतशैवानामेतच्छरीरनिर्गमनसमनन्तरमेव शिवसायुज्यं सम्भवतीति श्रुतिरेवं वदति।

"तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये। अथ सम्पत्स्ये अस्यार्थः—सिद्धशिवोपासनस्य तावदेव चिरमवधिः, यावत्पर्यन्तं न विमोक्ष्ये एतत्प्रारब्धशरीरविमोचनं न भवति, (तावदेव चिरमिति पूर्ववाक्येनानुषङ्गः) अथ शरीरविमोचनानन्तरमेव, सम्पत्स्ये शिवं प्राप्नोति। न स पुनरावर्तते।

शिवदीक्षितानां तनाविष्टलिङ्गरूपेण शिवः चकास्तीति—"या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी" इत्यादि रुद्राध्यायगतवाक्यं ज्ञापयति। अस्या श्रुतिः—हे रुद्र! तव शाम्भवेश्वराभिधं रूपं सौम्यं वेधा-मनु-क्रियात्मकत्रिविधदीक्षया पुण्यपापरहिता ये, तेषु काशिनी प्रकाशते" इत्येव स्वरसोऽर्थः, अन्यार्थानामसङ्गतत्वात्। एतदर्थमेव सिद्धान्तशिखामणौ दशमपरिच्छेदे सप्ततितमः श्लोको विवृणुते —

नित्यं भाति त्वदीयेषु या ते रुद्र शिवा तनूः ।
अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ।।

अपि च, सिद्धान्तशिखामणौ दशमपरिच्छेदे —

विश्वस्मादधिको रुद्रो विश्वानुग्रहकारकः ।
इति यस्य स्थिरा बुद्धिः स वै माहेश्वरः स्मृतः ।।

इत्यादिश्लोकेषु—''यदा चर्मवदाकाशम्'' इत्यादिश्रुतिप्रदर्शितं शिवपारम्यविश्वास-पूर्वकशिवज्ञानमेव मुक्तिप्रदमिति स्पष्टीकृतम्। शिवस्य अष्टमूर्तित्वं नाम पृथिव्यादयोऽष्टौ शिवाधिष्ठिता एव न साक्षाच्छिवरूपा इति।

शम्भुः सर्वगोऽपि स्वेष्टलिङ्गे विशेषतः वर्तत इति स्वेष्टलिङ्गे शिवं यजेदिति च। स्वेष्टलिङ्गे शिवं पूजयन्नपि शिवः सर्वव्यापीति भावयेदिति, शिवलिङ्गधारिणां शिवपूजासमये जाताशौचमृताशौच-मालिन्यं न स्यात्, इतरसमयेषु जाताशौचादिमालिन्यं सम्भवेदिति च; शिवार्पितमेव शुद्धमन्नादिकं भुक्तं चेदारोग्यमन्तःकरणशुद्धिः, तापत्रयनिवृत्तिः, शिवज्ञानम् कृत्रिमदोषनिवारणवैराग्यप्राप्तिश्च सम्भवेयुरिति च; शिवशक्तिसमायोग एव लिङ्गं भवेदिति च। शिव एव लिङ्गमिति स्त्रीपुरुषसंयोगे बाह्यज्ञानं यथा न स्यात्तथा शिवेन सङ्गतो जीवः प्राकृतं जगन्न वेद इति च, गुरोः सेव्यत्वम्, शीलं शिवस्यैवाराधनमिति च शिवसाम्यापत्त्या जगत्तुच्छीकरणमिति च मूलाधारे मनसि भ्रूमध्ये वा भावलिङ्गं दीपाकारं भावयेदिति च श्री रेणुकाचार्यैर्लङ्कायां विभीषणस्य हस्तेन कोटित्रयलिङ्गस्थापनादिविषयाणां च निरूपणं परिच्छेदेषु तत्र तत्र दरीदृश्यते।

कथञ्चिदेष ग्रन्थः शैवागमनिगमपुराणस्मृत्यादिसङ्ग्राहकतया श्रौतशैवानामप्यादरणीयः, तदुक्तसमाचरणावश्यकता ज्ञापकः शैवग्रन्थेषु मकुटायमानो वर्तत इत्यत्र न शङ्कावकाशः।

मद्विरचितशैवपञ्चकेऽवशिष्टश्लोकचतुष्टयं विलिख्य विस्तरभिया विरमामि। वीरशैवपीठाधिपतिः, विद्वांसश्च मम कौतुकवशाल्लिखितमिदमवधार्य सन्तृप्ता भवेयुरित्याशासे।

विश्वातीतममेयमाद्यममलं विश्वात्मकं कारण
कार्यं चोभयमेकमेव शिवशक्त्योः सामरस्यं जगत् ।
मुक्तिः शाश्वतनैजलाभविषया सृष्ट्यादिव्यापारतः
शून्याऽऽनन्दमयी च शम्भुपदवी विश्वोत्तरा वर्तते ।।२।।

आनन्दप्रचुरः परात्परतनुश्चिच्छक्तियुक्तो विभुः
सूर्याकाशवदेष दोषरहितः कैलासवासी प्रभुः ।
भक्तोद्धारपरो विचित्रगतिकः कारुण्यसिन्धुः शिवः
सृष्ट्यादीन् कृतिपञ्चकं वितनुते लीलार्थमेवाभयम् ।।३।।

श्रीकण्ठोक्तशिवागमादिविधिना पञ्चाक्षरीदीक्षितो
लिङ्गाङ्गी निजवर्णधर्मसहितः षट्कालपूजापरः ।
भस्माद्यावरणाष्टकादिनिरतः श्रीकण्ठसिद्धान्तभाग्
वैराग्यादिचतुष्टयान्वितमनाः शम्भुं भजेच्छाश्वतम् ।।४।।

विद्या कर्मसमाश्रिता शिवपदं प्राप्यं मुमुक्षोः परं
ब्रह्मानन्तगुणान्वितं हरिपरं तृष्णादिहीनं महत् ।
वेदाद्यागमकर्तृसाम्यमभवस्यैवोदितं शङ्करात्
कर्तुः कर्म फलत्यहो, बुधजनाः! शैवं समाकर्ण्यताम् ।।५।।

।। इति शिवस्मृतिः ।।



आगम प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त

– स्व. षडक्षरय्या पल्लापुर मठ, गुलबर्गा –

वीरशैव सिद्धान्त मूलतः कामिकादि वातुलान्त शैवागमों में ही प्रतिपादित है। अतः २८ शैवागमों को वीरशैव सिद्धान्त का मूल स्रोत मानते हैं। इसी अभिप्राय को श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने अपने श्री सिद्धान्तशिखामणि में प्रतिपादित किया है—

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।

इनके अनुसार सिद्धान्त नामक २८ शैवागमों के उत्तर भाग में वीरशैव सिद्धान्त प्रतिपादित है। कर्नाटक के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री निजगुण शिवयोगी ने भी—"आवमतदवररिवरु आगमवनुडिदू परिभाविसलू जगदादि लिंगवनू" इस तरह लिंगतत्त्व को जानने के लिए आगमों के ही शरण में जाना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करके वीरशैव सिद्धान्त को आगम मूल कर्ता को ही समझाया है। इसी तरह तोंटद सिद्धलिंग यतीश्वर ने भी—

"यले शिवने नी साक्षी आगी लिंगांग सम्बन्धिगळिगे परम वीरशैवागमगळे प्रमाणू। पूरातन महावाक्यवे प्रमाणू उळिदूव्यल्ला हुसीकाणा महालिंग गुरुशिवसिद्धेश्वर प्रभुवे"। अपने इस स्वानुभव वचन में वीरशैव सिद्धान्त की शैवागम मूलकता का ही प्रतिपादन किया है। इस तरह प्राचीन आचार्य और सन्तों के वचनों के आधार पर २८ शैवागम ही वीरशैव सिद्धान्त के मूल प्रमाण सिद्ध होते हैं। जैसे आगमों में वीरशैव सिद्धान्त उपलब्ध होता है उसी तरह वेद और उपनिषदों में भी यत्र-तत्र वीरशैव सिद्धान्त के मूल विषय प्रतिपादित हुए हैं। अतः शैवागम और इनके अनुकूल वेद और उपनिषदों को भी इस सिद्धान्त में मान्यता मिली है।

वेदकाल से आधुनिक काल पर्यन्त वीरशैव दार्शनिकों की चिन्तन-परम्परा अविच्छिन्न गति से आ रही है। अतः यह सिद्धान्त एक भाषा में ही सीमित न रह कर संस्कृत के साथ कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में भी इस विषय के बहुत सारे ग्रन्थ समय-समय पर लिखे गये हैं और उनका समुचित प्रचार प्रसार भी होता आया है।

भारत के विभिन्न दर्शनों में वीरशैव दर्शन का भी एक विशिष्ठ स्थान है। इस दर्शन को शक्ति-विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त, शिवाद्वैत सिद्धान्त और षट्स्थल सिद्धान्त के नाम से जाना

जाता है। इस सिद्धान्त में द्वैत और अद्वैत प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय किया गया है। इस लिए इसको द्वैताद्वैतसिद्धान्त भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार श्रीपतिपण्डिताराध्य जी ने अपनी इस उक्ति में इसका समर्थन किया है—

द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञके ।
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः ।।

अन्य भारतीय दर्शनों की भाँति वीरशैव दर्शन भी शिव, जीव, जगत्, बंध और मोक्ष के बारे में अपनी विचारधारा का प्रतिपादन करके भारतीय तत्त्वशास्त्र के लिए अपना भी योगदान दिया है।

वीरशैव दर्शन में इस प्रपंच के सृष्टि, स्थिति और प्रलय के लिए शक्तिविशिष्ट पर शिव ब्रह्म "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार अपने लीलाविनोद के लिए इस सृष्टि की रचना करता है। यह सृष्टि शिव और शक्ति का लीला-विलास ही है। यह पर शिव ब्रह्म "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इस उपनिषद् उक्ति के अनुसार स्वयं ही उपादान और निमित्त कारण है। यह सारी सृष्टि अभिव्यक्त होने से पहले उसी पर शिव ब्रह्म में लीन रहती है। अतः श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने श्री सिद्धान्त शिखामणि में—"तत्र लीनमभूतपूर्वं चेतनाचेतनं जगत् (=) इस तरह उसका समर्थन किया है। इस सिद्धान्त में शिव और शक्ति का अभिनाभाव सम्बन्ध माना जाता है। चन्द्रमा में चन्द्रिका के जैसे यह शक्ति शिव में प्रकाशित होती हुयी इस विश्व को भी प्रकाशित करती है। इसी विषय का श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने इस तरह समर्थन किया है—

विमर्शाख्या पराशक्तिः विश्ववैचित्र्यकारिणी ।
यस्मिन् प्रतिष्ठितं ब्रह्म तदिदं विश्वभाजनम् ।।

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा ।।

शिव और शक्ति का यह अविनाभाव सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है। इस शक्ति के सहकार के बिना शिव कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे शिव शक्ति विशिष्ट है, उसी प्रकार जीवात्मा भी शक्ति विशिष्ट ही है। शिव में रहने वाली उस शक्ति को सूक्ष्म चित्-अचित् शक्ति कहते हैं। इसी के कारण ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता कहा जाता है। जीवात्मा में रहने वाली शक्ति को स्थूल चित्-अचित् शक्ति कहते हैं। इसी के कारण जीवात्मा अल्पज्ञ और अल्पकर्ता हो जाता है। शिव में रहने वाली वह शक्ति सृष्टि के समय त्रिगुणात्मिका हो जाती है। इसी के गुणों के कारण भगवान् शिव प्रेरक भोक्ता और भोज्य के रूप में प्रकट होते हैं। इसमें सत्त्वगुणोपाधि के कारण वह प्रेरक कहलाता है। सत्व और रजोगुण मिश्रित गुणों के कारण

भोक्ता अर्थात् जीव कहलाता है। इसी तरह तमोगुण उपाधि के कारण भोज्य अर्थात् प्रपंच कहलाता है। इस तरह एक ही शिव त्रिगुणात्मक शक्ति की उपाधि से ईश्वर, जीव और जगत् के रूप में प्रतिभासित होने लगता है। इसी विषय को श्री शिवयोगी शिवाचार्य ने अपने इस वचन में स्पष्ट किया है—

गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ।
तद्वैषम्यात्समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तुत्रयाभिधा ।।

भोक्ता भोज्यं प्रेरयिता वस्तुत्रयमिदं स्मृतम् ।
अखण्डे ब्रह्मचैतन्ये कल्पितं गुणभेदतः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इसका समर्थन प्राप्त होता है—

भोक्ता भोज्यं प्रेरितारं च मत्वा ।
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।। (१-१२)

शिव एक होने पर भी शक्ति से युक्त होकर जीव और जगत् के रूप में परिणत हो जाता है। शिव के इस परिणाम को अविकृत-परिणाम कहते हैं। जैसे कनक कुण्डल बन जाता है। उसी प्रकार पट ही कुटी बन जाता है। यहाँ कुण्डल रूप में परिणत कनक में तथा कुटी रूप में परिणत पट में किसी प्रकार का विकार नहीं पाया जाता, उसी तरह एक ही शिव जीव-जगत् के रूप में परिणत होने पर भी उसके मूल स्वरूप में किसी प्रकार का विकार न आने के कारण इसे अविकृत-परिणाम कहते हैं।

इस प्रकार शिव के ही जीव-जगत् के रूप में परिणत होने के कारण "सर्वं खल्विदं ब्रह्मं" इस श्रुति के अनुसार यहाँ की सभी वस्तुएँ शिवमय ही हैं। मिट्टी से उत्पन्न घट आदि वस्तुएँ जैसे मिट्टी से भिन्न नहीं होती, सागर से उत्पन्न तरंगादि सागर से भिन्न नहीं होते, वैसे ही पर शिव से उत्पन्न चराचरात्मक प्रपंच शिव से भिन्न नही हो सकता। इसी अभिप्राय को श्री बसवेश्वर ने अपने—"यत्तयत्त नोडिदडत्त नीने देवा। सकल विस्तारद रूहू नीने देवा......" इस वचन में स्पष्ट किया है।

इस प्रकार पर शिव के ही सभी वस्तुओं के रूप में परिणत हो जाने के कारण वही सर्व पद वाच्य होता है। इसी को कैवल्योपनिषद् में "सर्वो वै रुद्रः। स ब्रह्मा स रुद्राः" कहा गया है। अपने विनोद के लिए इस विश्व की रचना करने वाला शिव इस विश्व से भिन्न न हो कर विश्वमय ही है। वही शिव अपनी लीला के समय भोक्ता, भोज्य और प्रेरयिता के रूप में व्यक्त होता है। वह जब अपनी लीला को समाप्त करता है, उस समय स्वंयभू के रूप में रह जाता है। अतएव कन्नड़ के वचनकारों ने "लीलेयादरे उमापति लीले मुगिदरे स्वयंभू" इस प्रकार कहा है।

इस सिद्धान्त में शिव और प्रपंच इन दोनों के बीच में अवस्था-भेद से भेद और भेदाभेद दोनों मान्य हैं। "ब्रह्मैवेदं सर्वम्", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में समस्त जगत को शिवमय कहा गया है। अतः यहाँ पर अभेद माना जाता है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे" इत्यादि वाक्यों में शिव और प्रपंच के बीच भेद का प्रतिपादन हुआ है। "उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत्" इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार सर्प में कुण्डलाकार तथा दीर्घाकार दोनों सहज रूप से रहते हैं। यहाँ पर कुण्डलत्व और दीर्घत्व में भेद होने पर भी अहित्व में कोई भेद जैसे नहीं रहता, वैसे ही शिव में प्रपंचाकार और केवलाकार दोनों ही सहज रूप से रहते हैं।

भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष के उपाय के बारे में अलग-अलग मत प्रदर्शित किये हैं। मीमांसक कर्म को ही प्रधान साधन मानते हैं, किन्तु अद्वैत वेदान्ती ज्ञान को प्रधान साधन मानते हुए कर्म को उसका सहायक मानते हैं, अतएव उनके सिद्धान्त को ज्ञानसमुच्चयवाद कहा जाता है। लेकिन वीरशैव आचार्यों ने मोक्ष के लिए कर्म और ज्ञान दोनों को साधन मानकर समसमुच्चयवाद को स्वीकार किया है। इसी बात को श्रीशिवयोगी शिवाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः ।
तस्मादाचारवान् ज्ञानी भवेदादेहपातनम् ।।

शिवागम प्रतिपादित साधना मार्ग

शिवागमों में साधक के साधना में प्रवृत्त होने के लिए अष्टावरण और पञ्चाचारों का साधन के रूप में प्रतिपादन किया गया है। उनमें गुरु, लिंग, जंगम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र पादोदक और प्रसाद—इन आठों को अष्टावरण कहा जाता है। साधक के रक्षा कवच होने के कारण इनको आवरण शब्द से सम्बोधित किया गया है। चन्द्रज्ञानागम में उस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्म-रुद्राक्ष-मन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।।
(क्रि.पा. २-१)

जो साधक इन आठों आवरणों से आवृत रहता है, वह अरिषड्वर्गों से सुरक्षित रहकर अपनी साधना में सफल हो जाता है। अतएव वीरशैव सिद्धान्त में इनका बहुत महत्त्व है।

ऊपर के आठ आवरणों से युक्त साधक को पाँच आचारों का भी परिपालन करना पड़ता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—लिंगाचार, सदाचार, शिवाचार, गणाचार तथा भृत्याचार। इन पाँचों आचारों का परिपालन करने से मन और बुद्धि परिशुद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार आचारों से परिशुद्ध हुआ व्यक्ति क्रमशः भक्त माहेश्वर प्रसादी प्राणलिंगी शरण और ऐक्य-इन षटस्थल सिद्धान्त को समझता हुआ अन्त में लिंगांग सामरस्य स्थिति को प्राप्त करता हुआ परम कैवल्य पद को प्राप्त करता है। यही वीरशैव सिद्धान्त का आगम-सम्मत दार्शनिक सिद्धान्त है।

अनुवादक - श्री शिवयोगी शर्मा हिरेमठ एवं श्री सिद्धरामदेव हिरेमठ, हिप्परगी



– ग्रन्थ ऋण –

१. श्री सिद्धान्तशिखामणि	:	८. शिवानुभव सूत्र
२. श्रीकर भाष्य	:	९. वचन संपुट
३. ब्रह्मसूत्र	:	१०. श्रीमद्भगवद्गीता
४. बृहदारण्यकोपनिषद्	:	११. श्वेताश्वतरोपनिषद्
५. छान्दोग्योपनिषद्	:	१२. चन्द्रज्ञानागम
६. कैवल्योपनिषद्	:	१३. सूक्ष्मागम
७. क्रियासार	:	



शैवागमों और शैव पुराणों का श्री सिद्धान्त-शिखामणि पर प्रभाव

– पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी –

सिद्धान्तशिखामणि (५.४) में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेद नाम से प्रसिद्ध कृतान्तपंचक का प्रामाण्य स्वीकृत है। पुराणों और धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में ये शास्त्र इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। कृतान्त पद यहाँ सिद्धान्त का पर्यायवाची है। इसका अभिप्राय यह है कि ये पाँच शास्त्र सिद्धान्त रूप में सभी को मान्य हैं। इन पाँच शास्त्रों का प्राचीनतम उल्लेख हमें महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान (३४९.६४, गीता प्रेस संस्करण) में मिलता है। वहाँ (३४९, ६५-६८) बताया गया है कि सांख्यशास्त्र के कपिल, योगशास्त्र के हिरण्यगर्भ, वेदों के अपान्तरतपा, पाशुपत मत के श्रीकण्ठ और पांचरात्र मत के प्रथम वक्ता स्वयं भगवान् हैं। हम मान सकते हैं कि सिद्धान्तशिखामणि में इसी उदार दृष्टि का अनुसरण किया गया है।

कृतान्तपंचक के उल्लेख के साथ सिद्धान्तशिखामणि (५.९) में शैव, पाशुपत, सोम और लाकुल आगमों की भी चर्चा की गई है। वामनपुराण (६.८६-९१) में भी सिद्धान्त, पाशुपत, कालामुख और कापालिक नामक चतुर्विध शैवागमों का और इन मतों के प्रवर्तक कुछ आचार्यों का उल्लेख है। यहाँ का सिद्धान्त पद शैव मत का, कालामुख लाकुल मत का और सोम शब्द कापालिक मत का बोधक माना जा सकता है। आगे सिद्धान्तशिखामणिकार शैवों के वाम, दक्षिण, मिश्र और सिद्धान्त नामक भेदों का परिचय देते हुए कहते हैं कि वाम तन्त्रों में शक्ति की, दक्षिण तन्त्रों में भैरव की, मिश्र तन्त्रों में ब्राह्मी आदि सप्त मातृकाओं की उपासना होती है। सिद्धान्तशास्त्र को यहाँ वेदों के समकक्ष मान्यता दी गई है और कहा गया है कि सिद्धान्तशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध कामिक आदि २८ शैव आगमों के उत्तर भाग में वीरशैव मत उपदिष्ट हुआ है (५.१०-१४)।

काशी के जंगमवाड़ी मठ में वर्तमान महाशिवाचार्य जी के द्वारा स्थापित शैवभारती शोध प्रतिष्ठान ने वीरशैव मत में प्रतिष्ठा प्राप्त पाँच शिवागमों का अभी प्रकाशन किया है। उनमें अनादि शैव, आदि शैव, पूर्व शैव, मिश्र शैव, शुद्ध शैव, मार्ग शैव, सामान्य शैव और वीर शैव नामक आठ शैव मतों का परिचय मिलता है। वीरशैवों के भी सामान्य, विशेष और निराभारी नामक तीन भेद वहाँ वर्णित हैं (चन्द्रज्ञाना.क्रि.१०.४-४९ और सूक्ष्मा.७.४-४७)।

आदि शैवों के प्रसंग में कौशिक आदि ऋषियों की इस मत के प्रवर्तक आचार्यों के रूप में चर्चा मिलती है। इसी शोध प्रतिष्ठान से प्रकाशित हो रहे ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि की टीका (क्रि.श्लो.८९-९०) से पता चलता है कि यह आदि शैव मत सिद्धान्त शैव से अभिन्न है। यहाँ द्वैतवादी शैव सम्प्रदाय के आमर्दक मठ का भी उल्लेख है, जिसकी चर्चा अभिनव गुप्त ने अपने महान् ग्रन्थ तन्त्रालोक (३६.१२) में भी की है। इस दृष्टि से आगमों में प्रदर्शित आठ मतों में सिद्धान्तशिखामणि में चर्चित उक्त आठ मतों का यथायथ अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन सब विषयों की चर्चा करने का हमारा अभिप्राय यह है कि यह सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ पूरी तरह से उपर्युक्त सभी मतों, आगमों और पुराणों की पृष्ठभूमि में वीरशैव मत का प्रतिष्ठापक एक महान् ग्रन्थ है। आगे हम पुष्ट प्रमाणों के आधार पर स्थूणा-निखननन्याय से इस मत को परिपुष्ट करना चाहते हैं।

चन्द्रज्ञानागम

इस आगम के क्रियापाद के ३.३३; ५.२२; ८.१७; ९.१६-१७; १२.६ श्लोक सिद्धान्तशिखामणि में क्रमशः ६.४०; ९.७०; ८.२३; १६.१३-१४; १६.११ स्थलों पर आनुपूर्वी से अथवा पाठभेद के साथ उद्धृत हैं। शांभव व्रत की व्याख्या करते समय चन्द्रज्ञानागम (१.४७-४८) में बताया गया है कि इसके लिए व्यक्ति का वेधा, मनु (मन्त्र) और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा से सम्पन्न होना आवश्यक है। षडध्वशुद्धि भी इसके लिए अपेक्षित है। भस्म, रुद्राक्ष और इष्टलिंग का धारण एवं पंचाक्षर मन्त्र का जप इसका आवश्यक अंग है। इन सभी विषयों का प्रतिपादन हमें सिद्धान्तशिखामणि के ६-८ परिच्छेदों में विस्तार से मिलता है।

गुरु, लिंग, जंगम, तीर्थ, प्रसाद, भस्म, रुद्राक्ष और मन्त्र नामक अष्टविध आवरणों का इस आगम के क्रियापाद के २-८ पटलों में बहुत विस्तार मिलता है। हम कह सकते हैं कि वीरशैव धर्म-दर्शन के प्रायः सभी ग्रन्थों में अष्टावरणों का प्रतिपादन इसी आगम की पद्धति से प्रधान रूप से किया गया है। डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी के "अष्टावरण विज्ञान" नामक हिन्दी ग्रन्थ से इनका विशेष परिचय प्राप्त किया जा सकता है। भस्म धारण की उद्धूलन, अवगुण्ठन और त्रिपुण्ड्र नामक तीन विधियाँ यहाँ (६.४०) प्रदर्शित हैं। ये विधियाँ प्रायः सभी शैवागमों और पुराणों में भी वर्णित हैं। त्रिपुण्ड्र-धारण के बत्तीस, सोलह, आठ अथवा पाँच स्थानों का उल्लेख यहाँ (६.४३-५६) किया गया है। भस्मधारण की यही प्रक्रिया शिवमहापुराण की प्रथम विद्येश्वरसंहिता में भी आनुपूर्वी मिलती है। सिद्धान्तशिखामणि (७.१-४४) में भी इसी विधि का अनुसरण किया गया है। यही बात रुद्राक्ष धारण के विषय में भी कही जा सकती है। यह विषय यहाँ क्रियापाद के सातवें पटल में, शिवमहापुराण की विद्येश्वरसंहिता में तथा सिद्धान्तशिखामणि (७.४५-६७) में भी संक्षेप अथवा विस्तार से उपलब्ध है। षडक्षर अथवा पंचाक्षर महामन्त्र का स्वरूप, जपविधि आदि का भी विधान

सिद्धान्तशिखामणि (८.१-४९) में इसी आगम के क्रियापाद के आठवें पटल का अनुसरण करता है।

उक्त आगमों में पंचयज्ञ की दो प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं। पहली मनुस्मृति (३.७०-७२) का अनुसरण करती है। इसके अनुसार ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्ध), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि-वैश्वदेव) और नृयज्ञ (अतिथि सत्कार) का पंचयज्ञ में समावेश है। कारणागम (३.६८-७०) में इसी का अनुसरण किया गया है। दूसरे प्रकार की पंचयज्ञ विधि शिवपुराण की वायवीय संहिता (२.१०.४८-५४) का अनुसरण करती है। वहाँ तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान का पंचयज्ञ में समावेश है। इनको वहाँ पाशुपत व्रत कहा गया है। सूक्ष्मागम (६.२६-३५) और पारमेश्वरागम (१३.१३-१९; १७.८०-८२) में भी इन्हीं का समावेश है। वायवीय संहिता और पारमेश्वरागम के पंचयज्ञ प्रतिपादक कुछ वचन आनुपूर्वी से सिद्धान्तशिखामणि (९.२१-२४) में मिलते हैं। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि बाह्य पूजा की अपेक्षा यहाँ अन्तर्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है। देवीकालोत्तर नामक शैवागम में प्रधानत: अन्तर्याग का ही स्वरूप वर्णित है। आगम-तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है कि अन्तर्याग द्वारा अन्त:करण की शुद्धि हो जाने पर ही बाह्य याग (पूजा) करना चाहिए। प्राणलिंग और भावलिंग की उपासना तो इसी पद्धति से की जाती है। शक्तिसंगम तन्त्र (४.११.७४-७९) में भी अन्त:पूजा पर विशेष जोर दिया गया है। इसीलिए "देवो भूत्वा देवं यजेत्" का सिद्धान्त यहाँ मान्य है और इसके लिए भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा का विधान किया गया है। चन्द्रज्ञानागम (१.११.२७-३१) में विद्यामय देह के प्रसंग में यही पद्धति निरूपित है।

चन्द्रज्ञानागम के चर्यापाद (४.२२-२६) के षोडशविध आराधन के प्रसंग में पंचाशद् रुद्राराधन का भी क्रम वर्णित है। इन पचास रुद्रों की नामावली मकुटागम के चर्यापाद (६.१४-२०) में भी मिलती है। वहीं आचार आदि षड्विध लिंग, भक्त आदि षड्विध स्थल और मूलाधार आदि षट् चक्रों में इन पचास रुद्रों की आराधना की पद्धति बताई गई है (६.१२-१३)। पचास रुद्रों की नामावली प्रपंचसार (३.३९-४४) के पचास रुद्रों (वर्ण देवताओं) की नामावली से बहुत-कुछ मिलती है। हमें यहाँ स्मरण रखना है कि आगम-तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों के वर्णों के उद्धार के लिए प्रपंचसार की यह नामावली प्रधानतया पचास वर्णों का प्रतिनिधित्व करती है।

इन आगमों में अत्याश्रम अथवा अत्याश्रमी शब्द का प्रयोग प्राय: मिलता है। "अतिक्रान्त आश्रमान् तद्विहितधर्मान्" शब्दकल्पद्रुम में दी गई इस व्युत्पत्ति से चार आश्रमों से भिन्न पाँचवें आश्रम का आभास होने लगता है, किन्तु कूर्मपुराण (१.२.८३) में संन्यासी के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। कामिकागम में लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक के भेद से शास्त्रों के पाँच विभाग बताये गये हैं। कुछ विद्वान्

पाशुपतों की आतिमार्गिक विभाग में गणना करते हैं, किन्तु हमें स्मरण रखना है कि शिवपुराण की वायवीय संहिता (१.३२.११) में श्रौत एवं स्वतन्त्र के भेद से द्विविध शिवागम चर्चित हैं। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.३०-३१) में निराभारी वीरशैव के श्रौत और स्वतन्त्र नामक दो भेद बताये गये हैं। इनके लक्षणों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि आतिमार्गिक विभाग में स्वतन्त्र पाशुपतागमों की ही गणना की जा सकती है, श्रौत पाशुपतों की नहीं। अत्याश्रम और अतिमार्ग शब्द प्राय: एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। अत: स्वतन्त्र पाशुपत मत के अनुयायी योगियों के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.४२-४४) में वर्णित स्वतन्त्र निराभारी वीरशैव को भी हम अत्याश्रमी कह सकते हैं। कारणागम के—"अत्याश्रमं पाशुपतं शाम्भवं तच्छिरोव्रतम्" (क्रि.१.९) इस वचन का भी यही अभिप्राय है।

ज्ञानकर्म समुच्चयवाद भारत का प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त है। इसके साथ ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपंच, भास्कर जैसे महान् दार्शनिकों का नाम जुड़ा हुआ है। चन्द्रज्ञानागम के क्रियापाद के अन्तिम १२ वें पटल में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। (पारमेश्वरागम (२०.९२) से भी इसकी पुष्टि होती है। सिद्धान्तशिखामणिकार ने इसको इसी रूप में मान्यता दी है। टीकाकार ने इसके समर्थन में दो श्लोक दिये हैं (पृ.७१)। सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा (पृ.३०५-३१०) और "कूर्मपुराण : धर्म और दर्शन" (पृ. २८३-२८७) में इस सिद्धान्त का विस्तार से परिचय दिया गया है।

सूक्ष्मागम

सूक्ष्मागम (१०.४) में भगवान् शिव के तत्त्वमय एवं तत्त्वातीत स्वरूप का उल्लेख है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के ८वें सूत्र की व्याख्या करते समय क्षेमराज कहते हैं— "विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वमिति तान्त्रिका:, विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टा:, विश्वोतीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादिदर्शनविद:"। अभिनवगुप्त, क्षेमराज आदि ने तान्त्रिक शब्द का प्रयोग सिद्धान्त, वाम, दक्ष, भूत और गारुड़ नामक पंचप्रवाह शास्त्र के अनुयायियों के लिए किया है। प्रधानत: द्वैतवादी सिद्धान्त शैव पंच कृत्यकारी, पंचमन्त्रतनु भगवान् शिव को विश्वोत्तीर्ण, विश्व के ऊपर मानते हैं। कुल, कौल और मत दर्शन के अनुयायी स्वात्मदेवतावाद के पोषक हैं। अत: इनकी दृष्टि में परतत्त्व विश्वमय है। त्रिक, क्रम और वीरशैव मत के अनुसार तत्त्वातीत परम शिव अथवा भगवती संवित् विश्वोत्तीर्ण हैं। ये ही जब विश्व के रूप में भासित होते हैं, तब विश्वमय बन जाते हैं। प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त तत्त्वातीत और तत्त्वमय शब्द भगवान् शिव की इसी विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय स्थिति के सूचक हैं।

सूक्ष्मागम (१०.२२) में शिवलीलाओं के प्रसंग में हंसरूपी ब्रह्मा और वराह रूपधारी विष्णु की लिंगतत्त्व के आदि और अन्त की जानकारी के लिए की गई यात्रा का भी उल्लेख

है। इस कथा की चर्चा शिवपुराण की प्रथम विद्येश्वर संहिता (७.१६-१७) में मिलती है। शैव पुराणों में, विशेष कर लिंगपुराण में यह कथा विस्तार से वर्णित है।

यहाँ देह को देवालय और जीव को सदाशिव स्वरूप बताया गया है—"देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो देवः सदाशिवः" (८.२७)। आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में और सिद्धों एवं नाथों के साहित्य में देह को देवालय माना गया है। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त का कहना है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन लकुलीश पाशुपत मत के आद्य प्रवक्ता महात्मा लकुलीश ने किया था—"सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा. १५.६०४)। "शिवो भूत्वा यजेत् शिवम्" अथवा "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" इस सिद्धान्त की प्रवृत्ति के मूल में भी यही भावना काम करती है। शिवभाव अथवा देवभाव की यह प्रक्रिया कैसे सम्पादित की जाती है, इसका विशेष विवरण हमने "देवो भूत्वा यजेद् देवान्" शीर्षक संस्कृत निबन्ध में दिया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी न्यूयार्क से सन् १९९२ में प्रकाशित "रिचुअल एण्ड स्पेक्युलेशन इन अर्ली तान्त्रिज्म" (पृ. १२१-१३८) नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुका है।

चन्द्रज्ञानागम के समान सूक्ष्मागम में भी तृतीय एवं चतुर्थ पटल में मन्त्रों का स्वरूप बताते हुए षडक्षर मन्त्र के प्रत्येक वर्ण के ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, वर्ण, मुख आदि का विस्तार से निरूपण किया गया है। विविध न्यासों एवं मुद्राओं के साथ साकल्य आदि पाँच प्रणवों का भी स्वरूप यहाँ वर्णित है। नेत्रतन्त्र (६.३-५) में प्रणव की पाँच अवस्थाएँ बताई गई हैं। गणेशसहस्रनाम के १३८ वें श्लोक के भाष्य में भास्करराय ने भी पाँच प्रणवों का स्वरूप प्रकारान्तर से बताया है। त्रिविध जप, पुरश्चरण, षडक्षर मन्त्र की षट्तत्त्वरूपता, षट्स्थल रूपता, षड्लिंग रूपता आदि अनेक विषय सूक्ष्मागम में प्रतिपादित हैं। सिद्धान्तशिखामणि के अध्येता के लिए इन स्थलों का अध्ययन अत्यन्त अपेक्षित है।

यहाँ पंचम पटल में गुरुतत्त्व की एवं पति-पशु-पाश नामक तीन तत्त्वों की संक्षिप्त समीक्षा कर भस्म और रुद्राक्ष के धारण करने की पद्धति का भी निरूपण किया गया है। छठे पटल में लिंगतत्त्व का निरूपण मिलता है। कूर्मपुराण के उत्तर विभाग में स्थित ईश्वरगीता के १० वें अध्याय में प्रदर्शित लिंगतत्त्व के स्वरूप से इनकी अतीव समानता दिखाई पड़ती है। कूर्म पुराण के पूर्व विभाग के ३५ वें अध्याय का नाम ही लिंगाध्याय है। जैसा कि चन्द्रज्ञानागम के सम्बन्ध में बताया गया, सूक्ष्मागम की पद्धति से भी सिद्धान्तशिखामणि में अनेक विषय आनुपूर्वी अथवा उनके भावों को ग्रहण कर वर्णित है। इस प्रसङ्ग में सिद्धान्तशिखामणि के ६.२६-२७; ९.३६, ५७; आदि स्थलों को विशेष रूप से देखा जा सकता है।

मकुटागम

शिवदीक्षा ग्रहण, भस्म-रुद्राक्ष धारण, षडक्षर अथवा पंचाक्षर मन्त्र जप, इष्टलिंग पूजन आदि समस्त कार्य-कलाप का शांभव व्रत में समावेश माना जाता है। चन्द्रज्ञानागम

(क्रि. १.४७-४९) में इसकी स्पष्ट परिभाषा दी गई है। मकुटागम (क्रि. १.१४) में इसको महागुह्य शिरोव्रत कहा गया है। गुरु की कृपा से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरगत कार्म, मायीय और आणव मल का क्षय कर देने वाली वेधा, मनु और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा से सम्पन्न व्यक्ति कर्मसाम्य की स्थिति में पहुँच कर पुनः जन्म ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार यहाँ मोक्ष और शांभव व्रत का साध्यसाधनभाव सम्बन्ध बताया गया है। यहाँ समालोच्य सभी आगम इससे सहमत हैं। स्पष्ट है कि भगवद्गीता के समान यहाँ भी निष्काम कर्मयोग की मोक्षसाधनता मान्य है। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि कर्मसाम्य को ही शक्तिपात का, ईश्वर के अनुग्रह का मूल कारण माना गया है।

मकुटागम के प्रथम पटल में शांभव व्रत की महिमा को बता कर द्वितीय पटल में शिवभक्तों के द्वारा अनुष्ठेय दिनचर्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६.२०) में बताया गया है कि शिव को बिना जाने कोई भी दुःख से पार नहीं पहुँच सकता। उसी पद्धति से मकुटागम (क्रि. १.१५) में भी कहा गया है—शांभव व्रत का पालन किये बिना दुःख का अन्त नहीं होगा। चन्द्रज्ञानागम क्रियापाद के ११वें पटल में कारणागम के तृतीय पटल में तथा शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता में इसका विस्तार देखा जा सकता है। इसी तरह से इनमें वर्णित भस्म-त्रिपुण्ड्र-रुद्राक्ष धारण की विधियाँ भी सिद्धान्तशिखामणि (७.५४-५८) में देखी जा सकती हैं। शिवपुराण की विद्येश्वर संहिता के २५ वें अध्याय में यह विषय अधिक विस्तार से वर्णित है।

यहाँ (क्रि. २.८) आत्म, विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों की चर्चा आई है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थ सौभाग्यसुधोदय में इनका लक्षण बताया गया है—"मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्। शक्तिशिवौ शिवतत्त्वम्" (१.४९)। भाषानुवाद के साथ शीघ्र प्रकाश्य ग्रन्थ सिद्धान्तसारावलि में तथा नेत्रतन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) में भी ये तीन तत्त्व इसी रूप में वर्णित हैं।

यहाँ क्रियापाद के पंचम पटल में आवाहन, संस्थापन, संनिधान, संनिरोधन, अवगुष्ठन, सकलीकरण और अमृतीकरण की प्रक्रिया को समझाया गया है। सिद्धान्तसारावलि में यह विषय अधिक विस्तार से देखा जा सकता है। इनमें से सकलीकरण की प्रक्रिया का विशद स्वरूप सोमशम्भुपद्धति (कर्मकाण्डक्रमावलि) के पाण्डिचेरी, संस्करण के प्रथम भाग के प्रथम परिशिष्ट में दिया गया है। विभिन्न मन्त्रों के द्वारा साधक को अपने देह को विद्यामय बना लेना ही सकलीकरण विधि का मुख्य उद्देश्य है।

हृदयादिकरान्तेषु कनिष्ठाद्यङ्गुलीषु च।
हृदादिमन्त्रविन्यासः सकलीकरणं मतम्॥ (श्लो. १४५)

यहीं (क्रि. ५.९) स्थण्डिल शब्द का प्रयोग मिलता है। अमरकोश (२.७.१८) में यज्ञ के निमित्त परिष्कृत की गई भूमि के लिए स्थण्डिल और चत्वर शब्द प्रयुक्त है। चत्वर चबूतरे

को कहते हैं। "सती माई का चौरा" यह चौरा शब्द चत्वर के अर्थ में ही प्रयुक्त है। इस तरह से यज्ञ-याग आदि के लिए परिष्कृत की गई भूमि ही स्थण्डिल है। अभिनवगुप्त ने बाह्य पूजा के प्रसंग में मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त, प्रतिमा और मूर्ति-इन ११ स्थानों का विधान बताया है (तन्त्रा. ६.२-४)। यहाँ टीकाकार जयरथ ने स्थण्डिल का अर्थ याग के लिए परिष्कृत भूप्रदेश, तूर का अर्थ पात्र आदि में उत्कीर्ण आधार विशेष, पुस्त का अर्थ लेप आदि से बनाई गई आकृति और मूर्ति का अर्थ गुरु आदि की आकृति किया है। स्पष्ट है कि प्रतिमा शब्द से यहाँ देवमूर्ति और मूर्ति शब्द से गुरु की प्रतिकृति का ग्रहण किया गया है। इन स्थानों में अपने इष्टदेव का अर्चन ही याग है। यज्ञ शब्द होम (हवन) का वाचक है। यहाँ प्रधानतया अग्नि में आहुति दी जाती है।

भगवान् शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है। मृगेन्द्रागम विद्यापाद (३.८-१३) और मतंग पारमेश्वर विद्यापाद (४.१४-१५) में पंचवक्त्र शिव के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यह उनका मन्त्रमय शरीर है। मकुटागम (क्रि. ५.१३-१४) के अनुसार यह शिव का लिंगमय स्वरूप है। सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान को यहाँ क्रमशः आचार, गुरु, शिव, चर और प्रसाद लिंगों का प्रतिनिधि माना गया है। कालचक्र नामक प्रसिद्ध बौद्ध तन्त्र के टीकाकार आचार्य पुण्डरीक इनको क्रमशः वैरोचन, अमिताभ, रत्नसंभव,अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य स्वरूप मानते हैं। उनकी उक्ति इस प्रकार है—"पञ्चवक्त्राणि पञ्चब्रह्मलक्षणानि। अत्र सद्यो वैरोचनः वामदेवोऽमिताभः, अघोरो रत्नसंभवः, तत्पुरुषोऽमोघसिद्धिः, ईशानोऽक्षोभ्यः" (४.७०, पृ.१८६)। स्पष्ट है कि भगवान् शिव के पाँच मन्त्र पंचब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

वीरशैव सम्प्रदाय में गुरु, लिंग और जंगम का प्रसाद ग्राह्य माना गया है, किन्तु वहाँ भी चण्डेश के भाग को अग्राह्य कहा गया है। मकुटागम (क्रि.५.२१) में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। चण्डेश का स्वरूप और उसकी पूजा का विधान सोमशम्भुपद्धति (पृ. ३२-३४) में वर्णित है। वहाँ बताया गया है कि चण्डेश के निर्माल्य को हटा कर उस स्थान को गोबर से लीप देना चाहिए। सिद्धान्तसारावलि में चण्डेश के लिए पृथक् मण्डल का विधान है।

मकुटागम (च.१.२) में भगवान् शिव को पंचपंचमुख कहा गया है। शैवशास्त्रों में भारतीय वाङ्मय को लौकिक,वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक नामक पाँच विभागों में विभक्त कर पुनः प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद किये गये हैं। इस तरह इनकी संख्या पच्चीस हो जाती है। यहाँ प्रदर्शित शिव के पच्चीस मुखों से ये शास्त्र निःसृत हुए, ऐसी कल्पना की जा सकती है। इस तरह का ध्यान शास्त्रों में अन्वेषणीय है। इसी प्रतिष्ठान से प्रकाशित सिद्धान्तप्रकाशिका नामक ग्रन्थ में और उसकी प्रस्तावना में इन शास्त्रों का विशद परिचय दिया गया है।

यहीं (च.७.११) अड़तीस कलाओं का उल्लेख मिलता है। शिव के पाँच मुखों (मन्त्रों) से समुद्भूत ३८ कलाओं का निरूपण प्रायः सभी शैव तन्त्रों में मिलता है। लिंगधारणचन्द्रिका (पृ. २७१-२७७), वीरशैवदीक्षाविधि (पृ. ८३-८४), नेत्रतन्त्र (२२.२६-३४), स्वच्छन्दतन्त्र (१.५३-५९) आदि ग्रन्थों को देखिए। साधक के शरीर के विभिन्न अंगों में इनके न्यास का प्रकार सिद्धान्तसारावलि में प्रदर्शित है।

उत्क्रान्ति (मृत्यु) सूचक निमित्तों की चर्चा भी यहाँ (च. २.५) मिलती है। मृत्युसूचक स्वप्नों तथा अन्य निमित्तों का वर्णन शिवपुराण की पाँचवीं उमा संहिता के २५-२८ अध्यायों में है। यहाँ इस प्रसंग में कालवंचन, छायापुरुष लक्षण जैसे विषय चर्चित हैं। दीक्षा आदि के प्रकरणों में भी यह प्रसंग आया है, क्योंकि शिष्य के स्वप्न के अनुसार ही वहाँ दीक्षा का विधान किया गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं, पुराणों और योगशास्त्र के ग्रन्थों में भी यह विषय देखा जा सकता है। स्कन्दपुराण की सूतसंहिता (४.१.४६अ.) और "धर्मशास्त्र का इतिहास" (हिन्दी संस्करण, तृतीय भाग) भी देखिए।

कारणागम

इस आगम का सिद्धान्तशिखामणि पर कुछ अधिक ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इस संस्करण की टिप्पणियों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। "तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः। दीक्षात्रयेण सन्दह्य लिङ्गत्रयमुपादिशेत्।।" (१.१०) कारणागम के इस वचन में तथा—"जीवितं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम्। निरस्यते गुरोर्बोधाज्ज्ञानशक्तिः प्रकाशते।।" (१८.१७) इस सिद्धान्तशिखामणि के वचन में वीरशैव धर्म-दर्शन का सार संगृहीत है। हम कह सकते हैं कि सिद्धान्तशिखामणि का मूल ढाँचा इन्हीं वचनों पर आधारित है। वेधा, मान्त्री और क्रिया दीक्षा के सात-सात भेदों का, अर्थात् दीक्षा के २१ भेदों का निरूपण कारणागम के प्रथम पटल में अति विस्तार से हुआ है। "कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा" (६.१५) सिद्धान्तशिखामणि के इस वचन में कुण्ड और मण्डल की चर्चा है। अब तक प्रकाशित वीरशैव आगमों में से केवल इसी आगम में पद्म, भद्र और तत्त्व नामक मण्डलों का स्वरूप निरूपित है (४.१७-२६)। कुण्डों और मण्डलों की चर्चा सिद्धान्तसारावलि में अधिक विस्तार से मिलती है। पंचयज्ञों का विधान यहाँ (३.६८-७०) मनुस्मृति (३.७०-७२) की पद्धति से किया गया है, यह पहले बताया जा चुका है। लिंगपूजा में नारी का भी अधिकार है, इस विषय को यहाँ (२.४४-७७) बहुत विस्तार से बताया गया है। सिद्धान्त-शिखामणि (९.४४-४५) के वचन इसी का अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार भस्म-रुद्राक्ष धारण आदि के विधान तथा षड्विध स्थल और षड्विध लिंग आदि विषयों के प्रसंग में भी कहा जा सकता है। अवसरा पूजा के क्रम में यहाँ लघ्वी और महती पूजा का विधान ६-७ पटलों में जो मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

पारमेश्वरागम

इस आगम के प्रथम पटल में विभिन्न मतवादों का और शैवों के भेदोपभेदों का अति विस्तार से वर्णन है। चन्द्रज्ञानागम (१.१०.४-३४) और सूक्ष्मागम (७.४-२८) के वर्णन से इनकी तुलना की जा सकती है। सप्तविध गाणपत्य मत, षड्विधदर्शन, षण्मत का परिचय भी यहाँ प्रस्तावना की पृ. ७ की टिप्पणियों में दे दिया गया है। इस आगम के अनेक श्लोक भगवद्गीता से मिलते-जुलते हैं। शिवागम सौरभ (कन्नड़ ग्रन्थ) के अनुबन्ध (पृ.५७-६७) में तथा लिंगधारणचन्द्रिका के अति विस्तृत अंग्रेजी उपोद्घात (पृ. २४६-२५५) में इन वचनों की तुलनात्मक समीक्षा की गई है। इसी तरह यहाँ (८.४६) वर्णित लिंग, आत्मा और गुरु की एकता की भावना विधि की योगिनीहृदय में निगर्भार्थ (२.४२) और कौलिकार्थ (२.५१-५२) के निरूपण के प्रसंग में विशद प्रक्रिया देखी जा सकती है। "अद्वेष्टारोऽधिके स्वस्मात् स्वसमेष्वनसूयवः। अतिरस्कारिणो न्यूने वीरास्ते शिवयोगिनः।।" (८.१९) इस श्लोक की तुलना हम मातृचेट के इस श्लोक से कर सकते हैं—'अकृत्वेर्ष्यां विशिष्टेषु हीनाननवमत्य च। अगत्वा सदृशैः स्पर्धां त्वं लोके श्रेष्ठतां गतः।।" स्मरणं कीर्तनम्" (८.१५.१६) इत्यादि यहाँ के श्लोक दक्षस्मृति (७.३१-३२) में इसी रूप में मिलते हैं। यहाँ के "अजागरूकश्चास्वप्नो वीरशैवः स उच्यते" (८.८०) इस श्लोक की तुलना विज्ञानभैरव की टीका (श्लो.७४) में उद्धृत "निद्रादौ जागरस्यान्ते" इत्यादि श्लोक से की जा सकती है।

शिवभक्तेषु वात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम् ।
स्वयमभ्यर्चनं चैव तदर्थं चाङ्गचेष्टनम् ।।

तत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया ।
शिवानुस्मरणं नित्यं सर्वथा तदकैतवम् ।।

एतदष्टगुणं चिह्नं यस्मिन् म्लेच्छेऽपि दृश्यते ।
स शिवेन्द्रो यतिः श्रीमान् स शुचिः स च पण्डितः ।।

ये श्लोक यहाँ दो स्थानों पर (१२.२६-२८ एवं १७.८३-८५) मिलते हैं। यहाँ म्लेच्छ को भी शिवयोगी और यति के तुल्य माना है।

स्त्रियस्तु लिङ्गधारिण्यः पुरुषा विष्णुसेवकाः ।।
पुरुषा लिङ्गिनः केचिद् वैष्णव्यस्तु स्त्रियस्तथा ।
तयोरहं गतिश्चैव यत्प्रीतिरुभयोः समा ।। (१७.२०-२१)

इस तरह के उदार विचार भी यहाँ पढने को मिलते हैं, जो कि आगम-तन्त्रशास्त्र की अपनी विशेषता है। "त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानं गुरुतः शास्त्रशः स्वतः" किरणागम और

योगवासिष्ठ में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध यह वचन यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ. २६२, ३३९, ३४१, ३४४, ३५६, ३८७) मिलता है।

इस आगम की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ (१९.२;२१.१७) श्रीमद्भागवत (११.१९.१४;२१.१) की पद्धति से २८ तत्त्वों को मान्यता दी गई है। इन तत्त्वों का विशेष विवरण हमारे "तन्त्रयात्रा" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित "कति तत्त्वानि" (पृ. ३-१३) शीर्षक निबन्ध में देखा जा सकता है। इसी ग्रन्थ के पृ. ३७७ पर प्रकाशित एक प्राचीन टिप्पणी में अष्टाङ्ग और पंचाङ्ग प्रणाम का लक्षण दिया है। निगमागम शास्त्र के महान् विद्वान् श्रीमान् अप्पय दीक्षित ने शिवार्चनचन्द्रिका के प्रणाम विधि प्रकरण (पृ. १००-१०१) में चतुर्विध (अष्टाङ्ग, पंचाङ्ग, त्र्यङ्ग और एकाङ्ग) प्रणाम का निरूपण किया है।

"त्रिपदार्थं चतुष्पादम्" (२.१०.३०-३२) इत्यादि शिवपुराण की वायवीय संहिता के श्लोकों में प्रतिपादित विषय यहाँ (१२.४६-५०) आनुपूर्वी देखे जा सकते हैं। इसी तरह यहाँ "ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च" (१२.६०) इत्यादि वचनों में प्रतिपादित विषय भी चन्द्रज्ञानागम (१.१.१०-१३), कूर्मपुराण उत्तर विभाग (१-११अ.) में स्थित ईश्वरगीता के ६-७ अध्यायों में विस्तार से देखा जा सकता है। ब्रह्मभावना (१२.९६) आदि का प्रकार भी कूर्म (१.१.८०), गरुड़ (१.४९.१८-१९), विष्णु (६.७.४८-५१) आदि पुराणों में त्रिविध भावना के प्रसंग में देखा जा सकता है। शिव भावना को ही यहाँ ब्रह्म भावना कहा गया है। इसी तरह से " यत्र यत्र मनो याति" (१६.२९) इस वचन में वर्णित सर्वत्र शिवभावना का प्रकार विज्ञानभैरव (श्लो. ७३, ११३) और स्वच्छन्द तन्त्र (४.३१३) में भी मिलता है।

अष्टादश विद्यास्थानों की गणना वेदान्तसूत्र के श्रीभाष्य (१.१.३) में भी की गई है। यहाँ (११.२२) इन सबका षडक्षर मन्त्र रूपी सूत्र के भाष्य के रूप में वर्णन किया गया है। "अकारो वै सर्वा वाक्" जैसे वेद वचनों का भी यही अभिप्राय है। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थ वसन्ततिलक (९.४-८) और उसकी टीका में भी इस सिद्धान्त को पूरी मान्यता दी गई है। इसी तरह से यहाँ अनेक स्थलों पर (पृ. १०१, ३४८, ३५७) षडूर्मियों अथवा अरिषड्वर्गों की चर्चा है। प्रपंचसार आदि ग्रन्थों में भी इनका उल्लेख मिलता है। न्यायदर्शन (४.१.३-६) में दोषों के अन्तर्गत इनकी चर्चा है। इनमें से मोह को यहाँ पापीयान् बताया गया है। पारमेश्वरागम (पृ. ३५७) में उद्धृत टिप्पणी में इनका प्राण, मन और शरीर के दोषों के रूप में परिचय दिया गया है।

पंचसूत्र लिंग, प्रासाद पंचाक्षरी, पंचानुवाक, रुद्राध्याय, रुद्रैकादशिनी, अष्टबन्ध, तुटि, ध्यान जैसे यहाँ प्रयुक्त विशेष पदों का अर्थ इस आगम के नूतन संस्करण में प्रदत्त टिप्पणियों में स्पष्ट कर दिया गया है। त्रिविध स्थण्डिल, पंचविध कुण्ड, इध्म, परिधि,

सप्तविध स्नान जैसे लौकिक-वैदिक विषय भी इस आगम में विस्तार से वर्णित हैं और टिप्पणियों में उनको विशेष रूप से सप्रमाण समझाया गया है।

इनके अतिरिक्त सिद्धान्तशिखामणि के ७.३; ७.४-६; ८.३; ९.२१-२५ इन स्थलों के वचन आनुपूर्वी इस आगम में देखे जा सकते हैं।

इस विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि सिद्धान्तशिखामणि की रचना में उक्त पाँच आगमों, शैव पुराणों और काश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उल्लेखनीय अवदान रहा है। साथ ही यह भी कि इन आगमों में अन्य भी ऐसे अनेक विषय प्रतिपादित हैं, जिनका कि उक्त ग्रन्थ में समावेश नहीं हो पाया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वीरशैव सिद्धान्त में स्वीकृत अनेक विषयों का स्पष्टीकरण हमें सिद्धान्त शैव मत के ग्रन्थों में मिलता है।



श्रीसिद्धान्तशिखामणि-पूर्णताप्रत्यभिज्ञाधृता शक्तिशक्तिमतोस्तुलनात्मिका समीक्षा

– डॉ० कमलेश झा –

सन्ति तावत् प्राणिनो निजसामर्थ्यमनुसरन्तः सरन्तः संसारसागरमपारं सन्ततं चेष्टमानाः। सा चैषा चेष्टा प्रतिकूलवेदनीयानि दुःखानि व्यपोहितुमनुकूलवेदनीयानि सुखानि चावाप्तुमनवरतमनुष्ठीयते।

तत्र गुरुपरम्परापूतागमानुगृहीतैरेव मानवैर्निश्चीयते यत् सत्स्वपि लौकिकवैदिकेषु शतधारेष्वथ सहस्रधारेष्वपि क्षयातिशययुक्तेषु सदसदुपायेष्वध्यात्मदर्शनमेवोभयविलक्षणो वरेण्यः क्षयातिशयवर्जितः शिवमयो जयशीलः पन्था इति। यथाहुरत्रभवन्त आर्याभ्यामीश्वर-कृष्णाचार्याः —

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ।। इति।

तदिदं निगमागमसंविभक्तमध्यात्मदर्शनं नानाप्रस्थानभेदभिन्नं स्वसादृश्यमुपेयुषे समुपदिष्टं मङ्गलशतैरनुविद्धममङ्गलभञ्जकमुल्लसत्प्रतिभाविराजितमारादाराजते। न च तत्र न्यूनाधिकविकल्पकल्पनमधिकल्पनाधिनाथमवकल्प्यते। यथाहुराचार्यानुगृहीतात्मानः सदाचारपूतात्मानः शिवात्मानो गुरवः —

साख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः[१] ।। इति।

शैवः शाक्तस्तथा वेदपाञ्चरात्रादिभेदतः ।
आगमो विविधो नित्य ईश्वरेणैव दर्शितः[२] ।।

यथैव जीवनोपायाः फलभेदविवर्जिताः ।
दृश्यन्ते विविधा लोके विविधा आगमास्तथा[३] ।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.४ २. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२८५

३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२९१

अतोऽधिकारिणं भिन्नं भिन्नमुद्दिश्य वर्तते ।
शास्त्रं गुरूंश्च विविधं स्वसंविदुपकारकम्[४] ।।

तत्र निःशेषेण गमयत्यवबोधयति निषेधप्राधान्येन विप्रकृष्टमप्यर्थजातमिति निगमो वेदः। आसमन्तात् प्रतीयमानं वस्तुजातं विधिमुखेन अहमर्थतया गमयतीति आगमस्तन्त्रः। उभयत्र निगमागमयोः प्रतिपादितानि प्रस्थानशतमनोरमाणि सकलानि किल दर्शनान्यागम-शब्दैकशब्दितानि भवन्ति, "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः" इति व्युत्पत्तेः।

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं श्रीवासुदेवस्य आगमस्तेन कीर्तितः ।।

इति निरुक्त्या तन्त्रपरको ह्येष यदागमशब्दः। तदेतत् तन्त्रं त्रेधा विभज्यते — ब्राह्मणतन्त्रम्, बौद्धतन्त्रम्, जैनतन्त्रं चेति। यथोक्तम् —

चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने[२] ।। इति।

तत्र फलभेदवर्जितम्, उपास्यदेवताभेदभिन्नं ब्राह्मणतन्त्रं त्रिधा प्रभिद्यते — शैवं शाक्तं पाञ्चरात्रं चेति। तत्र शैवतन्त्रे चत्वारो दर्शनस्कन्धा राजन्ते—सिद्धान्तशैवं द्वैतप्रतिपादकम्, प्रत्यभिज्ञादर्शनमद्वैतप्रतिपादकम्, लकुलीशपाशुपतं द्वैताद्वैतप्रतिपादकम्, वीरशैवं शक्तिविशिष्टा-द्वैतप्रतिपादकं चेति।

अथेदानीं प्रत्यभिज्ञावीरशैवदर्शने अधिक्रियेते शक्तिशक्तिमतोस्तुलनामध्येतुम्। तत्र च सिद्धान्तशिखामणिः पूर्णताप्रत्यभिज्ञा चेति जीवातुस्वरूपे ग्रन्थरत्ने भवतः।

सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरं तन्त्रं सिद्धान्तशिखामणिरिति संज्ञया गीयते[३]। तत्र मङ्गलमाचरद्भिः श्रीशिवयोगिशिवाचार्यैः परशिवाय स्वातन्त्र्यशक्त्या स्वस्मिन् जगच्चित्रमातन्वते प्रह्वीभावः प्राकट्यमुन्नीतः —

त्रैलोक्यसम्पदालेख्यसमुल्लेखनभित्तये ।
सच्चिदानन्दरूपाय शिवाय ब्रह्मणे नमः[४] ।।

शिवस्तुतिकृतोऽप्याहुः —

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाध्याय शूलिने[५] ।। इति।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३१०
२. मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्,
३. सिद्धान्तशिखामणिः, १.३१
४. सिद्धान्तशिखामणिः, १.१
५. शिवस्तोत्रावली, १.४

शक्तिमान् उपायोपादानादिनिरपेक्षो भगवान् भूतभावनो भावाभावमण्डलप्रपञ्चाविर्भावहेतुः सच्चिन्निरतिशयसुखात्मा; शक्तिश्चैतदीयाम्बाऽस्माकं गर्भीकृतशिवादिभूम्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वनिचया शिवाङ्कगा शिवानुग्रहशालिभिरुपास्यते —

सच्चिदानन्दरूपाय सदसद्व्यक्तिहेतवे ।
नमः शिवाय साम्बाय सगणाय स्वयम्भुवे ।।

सदाशिवमुखाशेषतत्त्वमौक्तिकशुक्तिकाम् ।
वन्दे माहेश्वरीं शक्तिं महामायादिरूपिणीम्[१] ।।

अनुत्तरः परशिवो ह्येष प्रत्यक्षतन्मूलप्रमाणसिद्ध्यपेतो मानप्राणसमर्पणोऽपरिच्छिन्नविभवो भवः प्रपञ्चमयस्तदुत्तीर्णश्च प्रोल्लसति। ततोऽनतिरिच्यमानस्वरूपा निरतिशयसमर्चारूपा अर्च्यैरर्चनीया गीतगतिमहिमाऽक्षुद्रा रुद्राणी मुद्राभावनादिभिरवेद्या सद्वेद्यान्नपूर्णा च पराम्बा —

परिच्छेदकथाशून्यं प्रपञ्चातीतवैभवम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगोचरपदे स्थितम् ।।

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी[२] ।।

परमेश्वर्या उमया सममासीनमेवं परमेश्वरमासेवन्ते त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवताः। यदुक्तम् —

वन्दारुदेवमुकुटमन्दाररसवासितम् ।
रत्नसिंहासनं दिव्यमध्यस्तं परमेश्वरम् ।।

इत्यादिना।

उमया सममासीनं लोकजालकुटुम्बया ।
अपूर्वरूपमभजन् परिवाराः समन्ततः[३] ।।

इत्यन्तम् ।

परमेश्वरानुग्रहेणावाप्तशिवभावनोऽतिप्राकृतोऽपि न्यक्कृतप्राकृतशरीराद्यहङ्कारोऽणिमादिसिद्धिभिराश्लिष्यमाणो महदैश्वर्यमश्नुवानो मोदतेऽगस्त्यवत् । यथाहुः —

न्यक्कृतप्राकृताहन्तं निरूढशिवभावनम् ।
तृणीकृतजगज्जालं सिद्धीनामुदयस्थलम्[४] ।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, २.१   २. सिद्धान्तशिखामणिः, २.१२
३. सिद्धान्तशिखामणिः, ३.९,३६   ४. सिद्धान्तशिखामणिः, ४.३२

"सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईशते" इति बृद्धजाबालश्रुतेः शुद्धोपाधिर्महेश्वरो महामायाशक्तिवशात् सद्योजातादिनानामूर्त्तिधरो जीवानां बुद्धिप्रेरकः सर्वज्ञः सकलप्रपञ्चरचनानिमित्तकारणं नित्यमुक्तो विलसति। यथाहुः —

मायाशक्तिवशादीशो नानामूर्तिधरः प्रभुः ।
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च नित्यमुक्तो महेश्वरः[१] ।।

तत्रैव जीवस्तु किञ्चित्कर्ता किञ्चिज्ज्ञश्चेति "अहं ब्रह्मास्मि" इति तादात्म्यज्ञानशून्य आणवाद्यनादिमलावृतः पाशबद्धः पशुरविद्यामोहितो निजकर्मानुसारं देवतिर्यङ्मनुष्यादिनानायोनिषु पुनः पुनराबध्यमानो बम्भ्रमीति। यथोक्तं शिवाचार्यैः —

किञ्चित्कर्ता च किञ्चिज्ज्ञो बद्धोऽनादिशरीरवान् ।
अविद्यामोहिता जीवा ब्रह्मैक्यज्ञानवर्जिताः[२] ।।

जीवानां कर्मप्रेरकः साक्षी ईश्वरोऽङ्गीक्रियते, योऽसौ हितमार्गोपदेशेन जीवमनुगृह्णाति। अनुगृहीतस्यास्य कस्यचिदेव ज्ञानोदयेन मुक्तिर्भवति।

एतेषां देहिनां साक्षी प्रेरकः परमेश्वरः ।
एतेषां भ्रमतां नित्यं कर्मयन्त्रनियन्त्रणे[३] ।।

यथा जीवत्वमीश्वरत्वं च परशिवे ब्रह्मणि कल्पिते स्तः, तथैव भोक्तृत्वं भोज्यत्वं प्रेरकत्वं च तत्रावकल्पितम्। यथाहुः शिवयोगिनः —

चन्द्रकान्ते यथा तोयं सूर्यकान्ते यथानलः ।
बीजे यथाङ्कुरः सिद्धस्तथात्मनि शिवः स्थितः ।।

आत्मत्वमीश्वरत्वं च ब्रह्मण्येकत्र कल्पितम् ।
बिम्बत्वं प्रतिबिम्बत्वं यथा पूषणि कल्पितम् ।।

गुणत्रयविभेदेन परतत्त्वे चिदात्मनि ।
भोक्तृत्वं चैव भोज्यत्वं प्रेरकत्वं च कल्पितम् ।।

गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ।
तद्वैषम्यात् समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तुत्रयाभिधा[४] ।।

परमेश्वरानुग्रहवशात् सत्संस्कारोदयान्नित्यानित्यविवेकिनः कस्यचन पुण्यात्मनो नितान्तनिर्मलस्वान्तस्यानात्मनि प्रपञ्चे हेयत्वभावना चिदात्मनि च श्रद्धाभावना समुदेति —

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.४६
२. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.४७
३. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.५०
४. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.३९

नित्यानित्यविवेकिनः सुकृतिनः शुद्धाशयस्यात्मनो
ब्रह्मोपेन्द्रमहेन्द्रमुख्यविभवेष्वस्थायितां पश्यतः ।
नित्यानन्दपदे निराकृतजगत्संसारदुःखोदये
साम्बे चन्द्रशिरोमणौ समुदयेद् भक्तिर्भवध्वंसिनी[१] ।।

नरतनुः शिवगुरुर्दीक्षाविधिना साधकस्य शिवज्ञानविधिना पाशबन्धनक्षयद्वारा पशुपाशभेदनेन पशुपति-शिवरूपतामुन्नयति। सैषा दीक्षा त्रिविधा—वेधारूपा, क्रियारूपा, मन्त्ररूपा चेति। यथोक्तम् —

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादतः समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणैः ।।

सा दीक्षा त्रिविधा प्रोक्ता शिवागमविशारदैः ।
वेधारूपा क्रियारूपा मन्त्ररूपा च तापस[२] ।।

समस्तस्य चराचरस्य जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं भगवान् शिव एव स्वातन्त्र्यशक्तिसंवलितः। यथोक्तं शिवगुरुभिः —

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ।
आद्यमन्त्येन संयोगादहमित्येव जायते ।। इति।

चिद्रूपं हि परं तत्त्वं शिवाख्यं विश्वकारणम् ।
निरस्तविश्वकालुष्यं निष्कलं निर्विकल्पकम् ।।

सत्तानन्दपरिस्फूर्तिसमुल्लासकलामयम् ।
अप्रमेयमनिर्देश्यं मुमुक्षुभिरुपासितम्[३] ।। इति।

अकारः शिव आख्यातो हकारः शक्तिरुच्यते ।
शिवशक्तिमयं ब्रह्म स्थितमेकमहं भजे ।। इति च।

मुमुक्षुभिरभिलषितायां मोक्षसम्पदि हेतुः — आत्ममहेश्वरानुसन्धानम्, अध्यात्म-विद्यासमालोडनम्, गुरुभक्तिश्चेति प्रतिपादितमनुग्रहशालिभिराचार्यैः —

अन्तर्लिङ्गानुसन्धानमात्मविद्यापरिश्रमः ।
गुरूपासनशक्तिश्च कारणं मोक्षसम्पदाम्[४] ।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, ५.७७
२. सिद्धान्तशिखामणिः, ६.११-१२
३. सिद्धान्तशिखामणिः, ६.३२-३३, २०.३९
४. सिद्धान्तशिखामणिः, ६.४३

देवाधिदेवस्त्रिकालपरिशुद्धो देशकालाकृतिनामपि जनकः सच्चिद्घनानन्दमयस्वभावः स्वपरप्रकाशोऽसौ परमेश्वरोऽशेषशेषमङ्गलास्पदीभूतस्त्रियम्बकः शिवशब्देनाभिधीयते —

आदितः परिशुद्धत्वान्मलत्रयवियोगतः ।
शिव इत्युच्यते शम्भुश्चिदानन्दघनः प्रभुः ।।

आस्पदत्वादशेषाणां मङ्गलानां विशेषतः ।
शिवशब्दाभिधेयो हि देवदेवस्त्रियम्बकः ।।

तस्मान्मुख्यतरं नाम शिव इत्यक्षरद्वयम् ।
सच्चिदानन्दरूपस्य शम्भोरमिततेजसः[१] ।।

सोऽहमित्यनुसन्धानात्मा योऽसौ परामर्शः, स जीवशिवयोरभेददर्शको मन्त्रः। तत्र भक्तिमार्गप्राशस्त्याय—"अद्वैतकल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्" इत्यभियुक्तोक्त्या दाशब्दस्य आदौ सन्निवेशाद् दासोऽहमिति बुद्ध्या इष्टानुसन्धानसमावेशात् सशब्दानुवेधे सदा सोऽहमित्यनुभवावसानतां गच्छति। एवं दासदासोऽहम्, सदासदासोऽहमिति पर्यवसानक्रमः समूह्यः।

अत्रेदमवधेयम्—चन्द्रबीजत्वेन वेधरूपस्य सकारस्य, अर्कबीजत्वेन वेदनरूपस्य हकारस्य चेति वर्णद्वयस्य त्यागाद् वृत्तिशून्यः स्वभावादेव वेधशून्यो वेदकमात्रतनुः प्रकाशाख्योऽनुत्तरशिवोऽनाख्यनामधेय ओमित्येकाक्षरब्रह्मपदवेदनीयः प्रपञ्चोत्तीर्णः "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" इति श्रुतिसमधिगम्यः प्रणव इत्याख्यायते। यदाहुर्गूढगहनप्रतिपादननिपुणाः श्रीगुरवः —

परमात्ममनुर्ज्ञेयः सोऽहंरूपः सनातनः ।
जायते हंसयोर्लोपादोमित्येकाक्षरो मनुः ।।
प्रणवेनैव मन्त्रेण बोध्यते निष्कलः शिवः[२] ।।

नमः शिवायेति पञ्चाक्षरो मन्त्रः, यज्जपेन जीवः शिवतां व्रजति। यदाहुः श्रीरेणुकभगवत्पादाः —

अशुद्धो वा विशुद्धो वा सकृत् पञ्चाक्षरेण यः ।
पूजयेत् पतितो वापि मुच्यते नात्र संशयः[३] ।।

शिवकथाश्रवणम्, स्तोत्रम्, ध्यानम्, पादमर्दनम्, पूजनम्, नतिः, भृत्यत्वम्, मित्रत्वम्, स्वात्मसमर्पणम्—इत्येवं नवधा भक्तिः शिवप्रीतिं जनयति। यथाहुराचार्यचरणाः —

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, ८.११
२. सिद्धान्तशिखामणिः, ८.२०
३. सिद्धान्तशिखामणिः, ८.३८

श्रवणं कीर्तनं शम्भोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
एवं नवविधा भक्तिः प्रोक्ता देवेन शम्भुना[१] ।।

वीरशैविनामेकेनैव जन्मना मुक्तिर्भवति —

एकेन जन्मना मुक्तिर्वीराणां तु महेश्वरि ।
इतरेषां तु शैवानां मुक्तिर्जन्मत्रयात् परम्[२] ।। इति।

शिवयोगी गुरुरपरो विग्रहः शिवस्येत्यजङ्गमशिवभक्तिरिव जङ्गमशिवगुरुभक्तिरपि नितरां गरीयसी। शिवयोगिनि तृप्ते शिवः शिवमयं विश्वं च तृप्तिं विन्दतीति न शिवगुरुपूजनं विना अजङ्गमगुरोर्ज्ञानं समुपासनं वा सम्भवतीत्यात्म-गुरु-शिवैक्यबोध एव जीवन्मुक्तलक्षणमभिहितमागमिभिः। यथोक्तमभियुक्तैः —

अभिन्नं वेत्ति यो विद्वान् स्वात्मानं च गुरुं शिवम् ।
तन्नौमि मुक्तमात्मानं विद्याविद्योभयात्मकम्[३] ।।

शिखामणिकृद्भिरपि गीतम् —

गुरोरभ्यर्चनेनापि साक्षादभ्यर्चितः शिवः ।
तयोर्नास्ति भिदा किञ्चिदेकत्वात् तत्त्वरूपतः[४] ।। इति।

इदमत्र रहस्यम्—जङ्गमाजङ्गमगुरुपूजने निर्द्धूताद्वैतभावो द्वैतभावमेवाश्रयेत् साधक इति शास्त्रानुशासनम्। तथा चोक्तमभियुक्तैः —

प्रेरकं शङ्करं बुद्ध्वा प्रेर्यमात्मानमेव च ।
भेदात् तं पूजयेन्नित्यं न चाद्वैतपरो भवेत्[५] ।। इति।

विश्वेश्वरो हि सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः ।
प्राणेश्वरो दयितया मिलितेऽपि भावे
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः[६] ।। इति च।

शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते परशिवस्य पृथिव्याद्यष्टमूर्त्यधिष्ठातृत्वं विद्यते। "यस्य पृथिवी[७] शरीरम्" इत्यारभ्य "यस्यात्मा शरीरम्" इत्यन्तं बृहदारण्यकवाक्यं विश्व-परमात्मनोः शरीरशरीरिभावं सुस्पष्टमभिधत्ते। शरीराणां चान्योन्यभिन्नत्वं विद्यते। यथोक्तम् —

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, ९.२
२. वीरागमः।
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा/आ०निवेदन, पृ०-६
४. सिद्धान्तशिखामणिः, ९.५१
५. सिद्धान्तशिखामणिः, १०.३९
६. श्रीदेवस्वरूपगुरोः प्राप्तः, १
७. बृहदारण्यकोपनिषद्

द्वयमुष्णं द्वयं शीतमनुष्णाशीतलं द्वयम् ।
द्वयमस्पर्शमित्यष्टौ पान्तु वो हरमूर्तयः ।। इति।

घटादिकस्य कर्ता कुलालादिर्यथा ततो न नातिरिच्यते, एवं कार्यस्य पृथिव्यादिकस्य कर्ता महेश्वरोऽपि। एवं च यथा न घटकुलालयोरभेदः, तथैव पृथिव्यादिमहेश्वरयोरपि। अथापि व्यापकस्य शिवस्य प्रपञ्चव्यापित्वं न विरुध्यते। एवं पृथिव्यादिशिवयोः शरीरशरीरिभावः, जीवपरमात्मनोः प्रेर्यप्रेरकभावश्च शास्त्रसम्मतः। नैतावता अचेतन-किञ्चिज्ज्ञ-सर्वज्ञानामेकरूपत्वं सम्भवति। यथाहुः —

पृथिव्यादिकमिदं सर्वं कार्यं कर्ता महेश्वरः ।
नैतत्साक्षान्महेशोऽयं कुलालो मृत्तिका यथा ।।

पृथिव्याद्यात्मपर्यन्तः प्रपञ्चो ह्यष्टधा स्थितः ।
तनुरीशस्य चात्मायं सर्वतत्त्वनियामकः ।।

शरीरभूतादेतस्मात् प्रपञ्चात् परमेष्ठिनः ।
आत्मभूतस्य देवस्य नाभेदो न पृथक्स्थितिः ।।

अचेतनत्वात् पृथिव्यादेरज्ञत्वादात्मनस्तथा ।
सर्वज्ञस्य महेशस्य नैकरूपत्वमिष्यते[१] ।।

अत्राहुराचार्याः — यथा मृदो न भिद्यते कुम्भादिकम्, तथैव शिवाभिन्नस्वातन्त्र्येच्छाशक्ति-सम्भिन्नाकारादिकमष्टकं वपुरपि "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः" इति नयेन शिवान्न भिद्यते, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिश्रुतेः। यथा वा तन्तुभ्यो पटो न भिद्यते, एवं शिवाच्चराचरं जगन्न भिद्यत इति विश्वात्मत्वं शिवस्य प्रतिपादितं भवति।

शिवभक्तो हि ज्ञाननिर्धूतमलकल्मषः सम्प्राप्तशिवैश्वर्यो विभाति। यथोक्तम् —

नित्यं सन्तोषयुक्तानां ज्ञाननिर्धूतकर्मणाम् ।
माहेश्वराणामन्तःस्थो विभाति परमेश्वरः[२] ।। इति।

शिवयोगिनो विश्वमेतत् शिवमयमाभाति —

प्रसादे शाम्भवे सिद्धे परमानन्दकारणे ।
सर्वं शिवमयं विश्वं दृश्यते नात्र संशयः[३] ।।

शिवभक्त्युद्रेको हि दुर्लभः। तस्य च समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुता प्रत्यभिज्ञानेन प्रसिध्यतीति प्रत्यभिज्ञाकृतः प्राहुः —

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, १०.५०-५३ २. सिद्धान्तशिखामणिः, १०.७६

३. सिद्धान्तशिखामणिः, ११.७४

कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि[१] ।।

सच्चिदानन्दलक्षणो विश्वसम्भवो भवो लिङ्गमित्यभिधीयते, लीनमात्मनि व्याप्तमर्थं विश्वप्रपञ्चं गमयति बोधयतीति व्युत्पत्तेः। यथाहुर्गुरवः —

चिदानन्दमयः साक्षाच्छिव एव निरञ्जनः ।
लिङ्गमित्युच्यते नान्यद् यतः स्याद् विश्वसम्भवः[२] ।।

तमिमं लिङ्गात्मकं शिवमात्मतया स्वरूपाधिगमभावनया विपश्यन् साधकः सहभोजीत्युच्यते। नास्य भेदबुद्धिरवशिष्यते शिव-गुरु-विश्व-प्रमातृषु विश्ववृत्तीनामात्मसात्करणादवाप्तशक्तिपातस्य विश्वभुजः साधकस्य। यदुक्तं कृपालुभिर्गुरुभिः —

शिवं विश्वं गुरुं साक्षाद् योजयेन्नित्यमात्मनि ।
एकत्वेन चिदाकारे तदिदं सहभोजनम् ।।

अयं शिवो गुरुश्चैष जगदेतच्चराचरम् ।
अहं चेति मतिर्यस्य नास्त्यसौ विश्वभोजकः[३] ।। इति।

विश्वमेधमययज्ञयाजी ह्यसौ स्वात्ममहेश्वराग्नौ पराहन्तात्मनि इदन्तामयहव्यसमर्पणशीलो "विश्वहोमीति" संज्ञया विभूषितो भवति —

पराहन्तामये स्वात्मपावके विश्वभास्वति ।
इदन्ताहव्यहोमेन विश्वहोमीति कथ्यते[४] ।।

सर्वभावमयभावमण्डलं विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि ।
जुह्वतोऽस्ति मम कः समः परो विश्वमेधमययज्ञयाजिनः[५] ।।

न चैष विश्वहोमे दीक्षागुरुं पतिज्ञानप्रदमाचार्यं शिवरूपं विना प्रसिद्ध्यति। यथोक्तम् —

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्यां गुरुर्दीक्षागुरुः स्मृतः ।।

ददाति यः पतिज्ञानं जगन्मायानिवर्तकम् ।
अद्वैतवासनोपायं तमाचार्यवरं विदुः ।।

सन्देहवनसन्दोहसमुच्छेदकुठारिका ।
यत्सूक्तिधारा विमला स गुरूणां शिखामणिः[६] ।।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, १.१
२. सिद्धान्तशिखामणिः, १२.३४
३. सिद्धान्तशिखामणिः, १४.३५-३६
४. सिद्धान्तशिखामणिः, १४.३८
५. उद्धृतस्पन्दकारिका।
६. सिद्धान्तशिखामणिः, १५.७,१५,१७

यद्यपि परमं महो भगवान् भास्वान् यस्मिन्नुदिते प्रायेण समेऽपि प्राणिनो जागृता इव जायन्ते, तथापि गुरुपदनखज्योतिस्तु ततोऽप्यधिकतरश्लाघनीयम्, यद्भासा अनादिरूपमज्ञानतमः शिष्यस्यापनुद्यते, अवाप्यते (प्रकाश्यते) च जीवन्मुक्तिः। यथोक्तम् —

अस्त्यस्मिन् महसां महानिधिरसौ देवो विवस्वान् महान्
यस्मिन् जाग्रति जाग्रतीव रजनीसुप्ता इमे जन्मिनः ।
किन्त्वेका महती ततो विजयते श्रीदैशिकाङ्घ्रिद्युति-
र्यद्भासाच्छुरितं चिरन्तनतमो हित्वैव जागर्त्ति सत्[१] ।।

शिववेदकरे ज्ञाने दत्ते येन सुनिर्मले ।
जीवन्मुक्तो भवेच्छिष्यः स गुरुर्ज्ञानसागरः[२] ।।

शिवाचार्याणां तदनुकम्पया प्राप्तशिवभावानां चान्तरा भावपूजा प्रशस्यते। नासौ जागतिकं कृत्यं तृणादधिकमङ्गीकुरुते —

क्रियारूपा तु या पूजा सा ज्ञेया स्वल्पसंविदाम् ।
आन्तरा भावपूजा तु शिवस्य ज्ञानिनां मता ।।

स्वतन्त्रः सर्वकृत्येषु स्वं परत्वेन भावितः ।
तृणीकुर्वन् जगज्जालं वर्तते शिवयोगिराट्[३] ।।

शिवगुरोरनुग्रहाद् गुरुभावमुपगतोऽवाप्तशिवभावो निर्धूतविश्वविभ्रमो जीवन्मुक्तो जयति, न चासौ ज्ञानाभ्यासात् परं किमपि तत्त्वमभिमनुते —

नित्ये निर्मलभावने निरुपमे निर्धूतविश्वभ्रमे
सत्तानन्दचिदात्मके परशिवे साम्यं गतः संयमी ।
प्रध्वस्ताश्रमवर्णधर्मनिगलः स्वच्छन्दसञ्चारवान्
देहीवाद्भुतवैभवो विजयते जीवन्विमुक्तः सुधी ।।

शिवात्मकमिदं सर्वं शिवादन्यन्न विद्यते ।
शिवोऽहमिति या बुद्धिस्तदेव ज्ञानमुत्तमम्[४] ।।

परब्रह्म-परशिवपरात्मपर्यायपरत्त्वमेव स्वयमिति दृढभावमनुप्राप्य चिदात्मकं विश्वं प्रपश्यन् शिवयोगी शिवात्मतां व्रजति। ज्ञानामृतसन्तृप्तो जीवन्मुक्तो ह्यसौ सदाचारप्रियं शम्भुं प्रीणितुं लोकं सङ्ग्रहीतुं च धर्माचरणमेवानुसरन् विच्छिन्नक्लेशकर्मविपाकाशयपाशो मुक्तबन्धनो विचरति —

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १
२. सिद्धान्तशिखामणिः, १५.२१
३. सिद्धान्तशिखामणिः, १५.४४, ६५
४. सिद्धान्तशिखामणिः, १५.७१, १६.३

पराहन्तामनुप्राप्य पश्येद् विश्वं चिदात्मकम् ।
सदेहोऽतिभ्रमस्तस्य निश्चिता हि शिवात्मता ।।

सदाचारप्रियः शम्भुः सदाचारेण पूज्यते ।
सदाचारं विना तस्य प्रसादो नैव जायते[१] ।।

मायासिन्धुरसौ ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भू राजते, तदवग्रसनो गुरुकृपाकटाक्षवडवानलः साधकं शिवयति —

ब्रह्माण्डबुद्बुदोद्भूतं मायासिन्धुं महत्तरम् ।
गुरोः कवलयत्याशु कटाक्षवडवानलः[२] ।।

श्रीगुरुणा शैवागमेनोपदिष्टः प्राप्तबोधमहाफलः साधकः शिवतां प्राप्य इहैवानेनैव देहेन जीवन्नेव मोक्षलक्ष्मीमवाप्य जनानुपकुर्वन् अविशेषेण पूज्यानामपि पूज्यः सञ्जायते। यथाह भगवती श्रुतिः —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे[३] ।। इति।

गुरवोऽप्याहुः —

मुक्तः संशयपाशतः स्थिरमना बोधे च मुक्तिप्रदे
मोहं देहभृतां दृशा विघटयन् मूलं महासंसृतेः ।
सत्तानन्दचिदात्मके निरुपमे शैवे परस्मिन् पदे
लीनात्मा क्षपितप्रपञ्चविभवो योगी जनैः सेव्यते[४] ।।

श्रीगुरुकृपाध्वस्तध्वान्तो निरस्तजीवभावो निर्गतसकलकल्मषो विगलितभोक्तृभावो जीवेश्वरसाधारणीभूतात्मतया परिस्फुरति। न चास्य पूजाध्याननियन्त्रणात्मिका काचिद् भावनाऽपेक्ष्यते। यदाहुः —

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम् ।
निरस्यते गुरोर्बोधाज्ज्ञानशक्तिः प्रकाशते ।।

यथा पद्मपलाशस्य न सङ्गो वारिणा भवेत् ।
तथा देहजुषोऽप्यस्य न शरीरेण सङ्गतिः ।।

शून्ये चिदम्बरे स्थाने दूरे वाङ्मनसाध्वनः ।
विलीनात्मा महायोगी केन किं वापि भावयेत् ।।

---

१. सिद्धान्तशिखामणिः, १६.५३, ६६
२. सिद्धान्तशिखामणिः, १७.६३
३. मुण्डकोपनिषद्, २.२.८
४. सिद्धान्तशिखामणिः, १७.८६

न कर्मबन्धे न तपोविशेषे न मन्त्रयोगाभ्यसने तथैव ।
ध्याने न बोधे च तथात्मतत्त्वे मनःप्रवृत्तिः परयोगभाजाम्[१] ।।

सर्वशक्तिसम्पन्नमवच्छेदवर्जितं स्वात्ममहेश्वरमभिज्ञाया द्वयशिवभावमापन्नो योगी योगीशादन्यन्नैव काङ्ऽक्षति —

देशकालाद्यवच्छेदविहीनं नित्यनिर्मलम् ।
आनन्दं प्राप्य बोधेन नान्यत् काङ्क्षति संयमी[२] ।।

अवाप्तशिवतत्त्वो मायारजनीमतीत्य बोधसूर्योदये निरस्तव्यापारश्चिररात्राय मोदते —

मायारजन्या विरमे बोधसूर्ये प्रकाशिते ।
निरस्तसर्वव्यापारश्चित्रं स्वपिति संयमी[३] ।।

भगवती गीतापि एनमर्थं संवदति —

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः[४] ।।

घटोपाधिकाकाशवत् पिण्डस्थितः स्वात्मा स्वरूपतः परिपूर्ण एवास्ते। तत्प्राकट्यहेतवे तु परासंवित् स्वातन्त्र्यशक्तिर्भगवती परमं समुपासनीया —

घटोपाधिर्यथाकाशः परिपूर्णः स्वरूपतः ।
तथा पिण्डस्थितो ह्यात्मा परिपूर्णः प्रकाशते ।।

नित्ये निर्मलसत्त्वयोगिषु परे निर्वासने निष्कले
सर्वातीतपदे चराचरमये सत्तात्मनि ज्योतिषि ।
संविद्व्योम्नि शिवे विलीनहृदयस्तद्भेदवैमुख्यतः
साक्षात् सर्वगतो विभाति विगलद्विश्वः स्वयं संयमी[५] ।।

बन्धनिवृत्त्याऽद्वैतभैरवः प्रतिप्रकाशते —

अखण्डसच्चिदानन्दपरब्रह्मस्वरूपिणः ।
जीवन्मुक्तस्य धीरस्य माया कैङ्कर्यवादिनी[६] ।।

यथा हि स्वप्ने एकाकी एव निरुपादानो जीवो दृश्यादित्रिपुटीजालं जगद् विनिर्माति, स्वेच्छयैवोद्गतं स्थापयति विलापयति च; तथैव शिवो व्यावहारिकं जगदेतत् सृष्ट्यादिना

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, १८.१७, २२, ४७,७६
२. सिद्धान्तशिखामणिः, १९.१०
३. सिद्धान्तशिखामणि, १९.२३
४. श्रीमद्भगवद्गीता, २.६९
५. सिद्धान्तशिखामणि, १९.५२, ९७
६. सिद्धान्तशिखामणि, २०.१६

योजयति। तज्ज्ञः साधकः शिवयोगी त्रिपुटीमयप्रपञ्चोत्तीर्णः परावस्थामुपेतो नान्यद् विजानाति, पश्यति, शृणोति वा —

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिभ्यः परावस्थामुपेयुषः ।
किं वा प्रमाणं किं ज्ञेयं किं वा ज्ञानस्य साधनम्[१] ।।

सर्वज्ञानक्रियाशक्तिः परमेश्वरः सविमर्श एव भवेत्, न तु निर्विमर्शो निर्गुणो निष्क्रियश्च स्फटिकादिजडोपमः —

पराहन्तासमावेशपरिपूर्णविमर्शवान् ।
सर्वज्ञः सर्वगः साक्षी सर्वकर्ता महेश्वरः ।।

विश्वाधारमहासंवित्प्रकाशपरिपूरितम् ।
पराहन्तामयं प्राहुर्विमर्शं परमात्मनः[२] ।।

शिवशक्तिमयं विश्वं पश्यतामागमिनां पराहन्ताऽवाप्त्या चिन्मयी लोकानुग्रहकारिणी स्थितिर्नितरामानन्ददायिनी भवति —

अकारः शिव आख्यातो हकारः शक्तिरुच्यते ।
शिवशक्तिमयं ब्रह्म स्थितमेकमहं भजे ।।

अहन्तां परमां प्राप्य शिवशक्तिमयीं पराम् ।
ब्रह्मभूयंगतो योगी विश्वात्मा प्रतिभासते[३] ।।

नेह द्वैतिनामद्वैतिनामिव वा जडं जडकल्पं वा मोक्षमभिप्रयन्त्यागमिनः, अपि तु सर्वाकारत्वसम्प्राप्त्या स्वमयं सच्चिदानन्दमयं विमर्शशालिनम्। यथाहुः —

न देवत्वं न मानुष्यं न तिर्यक्त्वं न चान्यथा ।
सर्वाकारत्वमाख्यातं जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।।

यस्य कार्यदशा नास्ति कारणत्वमथापि वा ।
शेषत्वं नैव शेषित्वं स मुक्तः पर उच्यते[४] ।।

प्रत्यभिज्ञादर्शने परमाद्वैतवादस्य साम्राज्यं विलसति। न ह्यत्र कस्यचन त्यागोऽपेक्ष्यते परिग्रहो वा। संविन्मयी परा भगवती शिवा नित्यमाश्लिष्यति भगवन्तं परमेश्वरमनुत्तरशिवम्। स्वभावादेव देवदेवः स्वातन्त्र्येणोपायोपेयरूपेण प्रतिभासमानो विमर्शमयीं संवित्तिमालिङ्गते, अविकारिणो व्यभिचारोत्तीर्णत्वात्। यथोक्तम् —

---

१. सिद्धान्तशिखामणि, २०.२५
२. सिद्धान्तशिखामणि, २०.३३
३. सिद्धान्तशिखामणि, २०.३९-४०
४. सिद्धान्तशिखामणि, २०.४७-७०

न तया रहितो देवो देवी तद्रहिता नहि ।
इच्छाशक्तिं महेशानीं सर्वसम्पत्प्रदायिनीम् ।
अनुरक्तां सतीं हित्वा नोपैत्यन्यां महेश्वरः[१] ।।

निराशंसो निजानन्दः स्वात्ममहेश्वरः स्वाभिन्नया शक्तिमहेश्वर्य्या विश्वोत्तीर्णतया विश्वरूपतया च क्रीडनात्मा विमोहनो लीलातनुर्नृत्यति —

यत्कटाक्षविलासेन शिवतामेति वै शिवः ।
नौमि तां परमामाद्यां सतः शक्तिं शिवात्मिकाम् ।।

स्वरूपमनुगामिन्या विलसद्विश्वरूपया ।
शिवोऽपि समतामेति पशुतां वा ययेच्छया[२] ।।

शिववपुर्गुरुः शिष्याय गुरुत्वं वितरति। शिवशक्तेरपि गरीयसी गुरुशक्तिः शिष्याय स्वस्वरूपं प्रकटीकुर्वन्ती शिवशक्तिं पराजयते स्वरूपगोपनव्यग्राम् —

गुरुशक्तिर्जयत्येका मद्रूपप्रविकासिका ।
स्वरूपगोपनव्यग्रा शिवशक्तिर्जिता यया[३] ।।

श्री गुरोरङ्घ्रिद्युतिः सर्वोत्कर्षेण विराजते, येयं शिवैक्याख्यातिरूपां संसारावस्थामपि शिवयति, विवस्वतः शक्तिमप्यसौ न्यक्करोति, यदसौ ऐकान्तिकमात्यन्तिकं जन्मजन्मान्तरीयं मलमन्धन्तमोऽपसार्य सच्चिदानन्दात्ममहेश्वरस्वरूपमुल्लासयति —

नौमि तां जयतात् सैव यया साक्षात्कृता मया ।
शिवैक्याख्यातिसंसारावस्थापीयं शिवात्मिका ।।

अस्त्यस्मिन् महसां महानिधिरसौ देवो विवस्वान् महान्
यस्मिन् जाग्रति जाग्रतीव रजनी सुप्ता इमे जन्मिनः ।
किन्त्वेका महती ततो विजयते श्रीदैशिकाङ्घ्रिद्युति-
र्यद्भासाच्छुरितं चिरन्तनतमो हित्वैव जागर्ति सत्[४] ।।

भोगानपि मोक्षयन्ती सेयं प्रत्यभिज्ञा धन्या, या स्वसंवेदनरूपपराहम्परामर्शमयी आगमेषु, स्पन्दस्वरूपा वसुगुप्तकृतौ, लब्धजीवना उत्पलदेवकृतौ, प्रसृता श्रीमदभिनवगुप्तपादकृतौ पूर्णतां गता शिवयोगिनमाचार्यवरं श्रीरामेश्वरं सम्प्राप्य। यदुक्तम् —

---

१. उद्धृतपूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४०५
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१४
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.९
४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२०-११

संवित्स्वभावः किल शैव आगमः
स्पन्दत्वमाप्तो वसुगुप्तमागतः ।
सा प्रत्यभिज्ञाभिनवार्चितौत्पली
पूर्णत्वमाप्ता समुपेत्य मामपि[१] ।।

स्वेच्छया ह्यसौ स्वां शक्तिमवष्टभ्य पुंस्त्वस्त्रीत्वविकल्पनादिना भोक्तापि भोग्यात्मतां व्रजन् विश्वविभवोऽपि विश्वोत्तीर्णः प्रतिभासते —

वक्तव्यं किमु तत्र यत्र भगवान् वेत्तैव वेद्यो भवन्
शक्तिं स्वामहमात्मिकां भगवतीं पश्यन् स्वयं मुह्यति ।
पुंस्त्वस्त्रीत्वविकल्पनां सुघटयन् भोक्तैव भोग्योऽपि स-
न्नच्छन्नोऽपि विभाति विश्वविभवः स्वच्छन्दया स्वेच्छया[२] ।।

अनुत्तराख्य एष शिवो महामन्त्रमय्या शक्त्या नित्यसृष्टियुक्तो विराजते —

परवाङ्मयमन्त्रात्मवीर्यसर्गमयः शिवः ।
स्ववीर्यघनतारूपेदन्तास्फुरणरूपया ।।
युज्यते सततं सृष्ट्या स्वीयशक्तिविसृष्टया ।
अदेशकालकलितस्पन्दात्मानुत्तराभिधः[३] ।।

भावाभावात्मकस्य विश्वप्रपञ्चस्य प्रकाशाभिधः शिव एव स्वभावः सारं च। यथोक्तं मुग्च्छुष्मभैरवे स्पन्दकारिकायां च —

"यावन्न वेदका एते तावद् वेद्याः कथं प्रिये" इति,
"भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः"[४] इति च ।

प्रकाशरूपः शिव एव संविदिति संवित्तिरिति स्वसंवेदनमिति वा शास्त्रेषु प्रोच्यते। न चैषा संवित् प्रमाणाधीनप्रकाशा, न वाऽस्या विश्वरूपाया देशकालाकारादिना नियन्त्रणम्। यथाहुराचार्यवर्य्याः —

प्रमायां न प्रवर्तन्ते मानानि यदुपेक्षया ।
किं प्रमाणं भवेत् तत्र मानप्राणान् वितन्वति ।।
सर्वावभासकस्यास्य परापेक्षा न विद्यते ।
निरपेक्षोऽस्त्यतः पूर्णः स्वतन्त्रः सर्वभासकः ।।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१५
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१९
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१७-१८
४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२७

न नियताकृतिस्तस्य देशो न नियतः प्रभोः ।
यतो हि विश्वरूपत्वे नैयत्यं प्रतिबन्धकम्[1] ।।

उपदेश्यं प्रति कीदृगेष सहजोपदेशो यच्छिवादव्यतिरिक्तः सविमर्शोऽसौ विश्वरूपो यो यमुपदेश्यः साधको जिज्ञासुः।

यस्य संविदि सर्वोऽयं भाववर्गोऽवभासते ।
प्रतिबिम्बतया सोऽपि शिवः सर्वेश्वरो भवान्[2] ।।

प्रभोर्मायाशक्त्याः क्रियन्माहात्म्यं वर्ण्यताम्, ययाऽसौ स्वातन्त्र्येण मोहितः सन्नणुत्वमङ्गीकुर्वन् जगति क्रीडमाणः पञ्चविधकृत्यकारित्वं षड्वस्तुस्वरूपतां वाऽऽत्मसात् कुरुते—

किन्तु स्वस्यैव स्वातन्त्र्यान्मायाशक्त्या विमोहितः ।
पूर्णोऽप्यणुत्वमापन्नः क्रीडतीव स्वयम्प्रभुः[3] ।।
अतः सृष्टिः स्थितिर्ध्वंसस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः ।
इति पञ्चसु कर्तृत्वमावहच्छिव उच्यते ।।
बिन्दुर्नादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहौ ।
षड्वस्तुत्वमप्यस्य प्रोक्तं दीक्षोत्तरादिके[4] ।।

प्रभोः स्वाभाविकी अकृत्रिमा या स्फुरता, सैवोच्यते पराहंविमर्शः, अक्रमः, चैतन्यम्, परामर्शः, स्वभाव इति। क्रमरूपेव भवन्ती सैषा एकशक्तिः, त्रिशक्तिः, पञ्चशक्तिः, षड्रूपः, केवलः शिवः, केवला शक्तिर्वोच्यते —

न च बीजाङ्कुरलतादलपुष्पफलादिवत् ।
क्रमिकेयं भवेत् संविद् यतो भात्येव सर्वदा ।।
शक्तिः शिवस्वभावैव न तु वस्त्वन्तरात्मिका ।
शिवो वा कथ्यतां शक्तिर्भेदो नास्त्येव वस्तुतः ।।
स्वाभाविकी स्फुरत्ता या विमर्शाख्या पराभिधा ।
अक्रमा क्रमरूपेव सेच्छाज्ञानक्रियात्मिका ।।
त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः ।
शक्तिरेवाथ देवी सा सा च शास्त्रे निरूप्यते ।।
शिवादभिन्नमात्मानं स्वात्मनश्च शिवं तथा ।
भासयन्ती विस्फुरन्ती शक्तिश्चैतन्यमुच्यते[5] ।।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३८-४०
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४७
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४८
४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४८-५०
५. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.२६२, १.५, १०, ५५, ५६, ६०

स्वातन्त्र्यादसौ शिवः स्वभावेन सङ्कुचितप्रकाशो नानाविधोऽन्योन्यविलक्षणोऽणुर्भवत्यनवच्छिन्नप्रकाशः। पुनश्च स्वातन्त्र्यादेवानुपायेन, शैवापायादिना वा समवाप्तसमावेशो विश्रान्तनिजस्वरूप एष कृतकृत्यो भासते —

अनवच्छिन्नप्रकाशो यो निजानन्दपरिप्लुतः ।
स स्वातन्त्र्यात् सङ्कुचितमात्मानमवभासयन् ।।

अणुरित्युच्यते शास्त्रे स्वातन्त्र्येण पुनर्यदा ।
सर्वकर्तृत्वरूपेण सर्वज्ञत्वेन चाप्यथ ।।

प्रकाशयत्यात्मनात्मानं तदा देवः प्रकाशते ।
अनवच्छिन्नप्रकाशात्मशिवरूपतयैव सः[१] ।।

या चेयं पूर्णता, ईश्वरता, महाव्याप्तिः, स्वतन्त्रता वा; सा सिद्धैव न तूपायसाध्या, भेदापायमात्रेण तु प्रतिप्रकाशते। किं बहुना, भेदोऽपि भासमानः सन्नेव प्रतिप्रकाशते, ततश्च संविदो नातिरिच्यते, संविद्भित्तिलग्नतया प्रकाशमानत्वात् तदभिन्नत्वात्। यथाहुर्गुरवः —

सृष्टिसंहारकारित्वं पारमेश्वर्यमेव च ।
पूर्णतेश्वरता वापि महाव्याप्तिः स्वतन्त्रता ।।

न साध्या किन्तु सिद्धेयं भेदापाये तु भासते ।
भेदोऽपि भासमानीयं संविदो नातिरिच्यते ।।

संविदेव विभातत्त्वादिति निश्चयशालिनः ।
अपयाति क्षणादेव भेदोऽभेदत्वमागतः[२] ।।

शिवतत्त्वस्वरूपे मयि अभिन्नमपि विश्वं भिन्नवद् भासते, इत्येवं दृढं विविञ्चानो गुरुकृपया पारमेश्वरमनुपायसमावेशं प्राप्य कश्चन विद्वानेव कृतार्थोऽनुग्रहात्मा विजयते।

एवमेव सदा भातं यत्तत्त्वं शिवशब्दितम् ।
तदेवाहं च तत्रैव मय्यन्तः प्रतिबिम्बितम् ।।

विश्वं विमर्शशक्त्या मे भात्यभिन्नन्तु भिन्नवत् ।
एवं दृढं विविञ्चानो लभते पारमेश्वरम् ।।

शश्वदेव समावेशमुत्तमं निरुपायकम् ।
ध्वस्ताखिलमलो योगी विश्रान्तश्चिन्मयाम्बुधौ ।
महासिद्ध्या समाश्लिष्टोऽनुग्रहात्मा जयत्यसौ[३] ।।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.६६-६८ २. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.११८-१२०

३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२३०-२३१, २३६

मन्थानाभिध एष शिवो लीलया स्वस्मिन् स्वविमर्शशक्त्या सृष्टिस्थितिसंहतीर्बिभर्ति —

स्वस्मिन् बिभर्ति स्वविमर्शशक्त्या
सर्गस्थितिध्वंसमनारतं यः ।
तमच्छन्नमच्छन्नमनन्तरूपं
मन्थानसंज्ञं प्रणमामि देवम् ।।

सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः[१] ।।

चेतनाचेतनतया भासमाने ह्यस्मिन् स्वात्ममहेश्वरे भेदोऽपि स्वच्छन्दमवभासते, कथमन्यथा (भेदानवभासने) सर्वरूपताऽस्य सिद्ध्येत्। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुत्या सदान्तर्मुखस्वभावस्य स्वात्मशिवस्य न वाचा न वा क्रियया प्रसादनं सम्भवति —

मदात्मनापि त्वमुना विभासि
स्वतन्त्र एकः स्वमिवातिभिन्दन् ।
त्वय्येव भेदोऽपि न चेद् विभायात्
सर्वात्मता ते नहि साधु सिद्ध्येत् ।।

वाचा कया त्वामहमीशमीडे
प्रसादये त्वां क्रियया वा ।
यतः सदाऽन्तर्मुखभास्वरूपो
न मायिकं पश्यसि किञ्चिदेतत्[२] ।।

यत् किमपि प्रमाणमभ्युपगम्यते प्रमेयसिद्ध्यर्थम्, तस्य प्रमाणत्वं किं प्रमातारं महेश्वरं विना भवितुमर्हति? नैवार्हति किमप्युपजीवकं प्रमाणं स्वोपजीव्यं प्रमातारं कथं प्रमापयेत्? नहि यदुदराज्जायमानस्तद्विवाहे वरायाततां निर्वहति। यदाहुः —

संविन्निष्ठा हि सकलाः संवेद्यत्वात् क्रियादयः ।
संविदं नावभासेयुर्भास्यन्ते संविदा त्वमी[३] ।।

तन्त्रालोककृतोऽप्यत्र संवादः —

प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात् किं तस्मिन् मानकल्पनैः ।।

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः[४] ।।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१९६
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.१९८-२०१
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२२४
४. श्रीतन्त्रालोकः, १.५४-५५

अथ अविदुषां कृते समावेश उपायपक्षमपेक्षते। निर्विकल्पे पराहम्परामर्शे प्रकाशमानमनुत्तरं तत्त्वं सद्य इच्छामात्रेण येनाभेदोपायेनेच्छाख्येन स्वस्वरूपतया प्रथते, स एष शाम्भवोपाय: प्रथम:। सोऽयं परामर्शस्त्रेधा विभज्यते —

शक्तिं पश्यन्नभिन्नां स्वां स्वातन्त्र्याख्यामिमां पराम् ।
निर्विकल्पं समावेशं शाम्भवं सोऽप्यवाप्नुयात् ।।

यस्य संविदि विश्वोऽयं शक्त्या स्वातन्त्र्यसंज्ञया ।
प्रतिबिम्बतया भाति सैष विश्वेश्वरो ह्यहम् ।।

उदेति मत्त एवेदं मय्येव प्रतिबिम्बते ।
मदात्मकमिदं सर्वमित्येवं शाम्भवस्त्रिधा[१] ।।

यन्नैर्मल्यं यत्र तत्प्रतिबिम्बनं तत्रैव, रूपनैर्मल्यसम्पन्ने दर्पणे रूपप्रतिबिम्बवत्। चिदात्मनि स्वात्मनि सर्वनैर्मल्यसम्पन्ने तु सर्वमेव विश्वं प्रतिबिम्बमानभासते —

नैर्मल्यं यत्र यस्यास्ति तच्च तत्रावभासते ।
सर्वनैर्मल्यसम्पन्ने चिद्रूपे सर्वमेव हि ।।

भावा भान्ति यथादर्शे निर्मलेऽपि विरोधिन: ।
अनामिश्रास्तथैतस्मिंश्चिन्नाथे विश्वसञ्चया:[२] ।।

चितिरसौ भगवती परावाक् स्फुरत्ता, उन्मेष:, स्पन्द:, अहमिति वा व्यपदिश्यते। एनया शक्त्या परमेश्वर: शिवादिक्षित्यन्तं निखिलं जगदविकल्पसंविद्रूपतया बिभर्ति, पश्यति, भासयति च। सैषा भैरवाख्यकालप्रकाशनात् कालकर्षिणीति गीयते —

सा परा परमेशस्य शक्ति: स्वात्माविभेदिनी ।
भैरवाख्यस्य कालस्य भासनात् कालकर्षिणी[३] ।।

यथा दर्पणे नगरप्रतिभासो भेदाभेदाभ्यां बोभवीति, तथा परमेश्वरस्य तदभिन्नया यया शक्त्या विश्वरूपेण भेदेन, अभेदेन चावभासनं भवति, सा परापरेति गीयते —

यया तु भेदाभेदाभ्यां दर्पणे नगरादिवत् ।
राजते शिवशक्त्यात्मा सोच्यतेऽस्य परापरा[४] ।।

यया शक्त्या त्वस्य सर्वशक्तिमत: परस्परं विविक्ततया विश्वरूपेण इदन्तया भेदावभासनं भवति, सैषा गीयते — अपरेति। यदा तु त्रितयमप्येतत् प्रभुरसौ यया स्वशक्त्या अनुसन्धानात्मतया स्वात्मसात् कुरुते, तदा पुनरेषा परेति गीयते।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२६५, २७०, २७२
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३५५, ३३९
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३८१
४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३८२

एवं च परा, परापरा, अपरेति शक्तित्रयमयः परमेश्वरे दृष्टिस्मृतिविकल्पवानाभाति। परमेश्वरानुग्रहपूतः परादितत्त्वज्ञो योगी पूर्णाहन्तात्मनि शिवपदेऽभिषिच्यमानः शिवतामधिगच्छति। तत्र योऽयं नित्यः स्वच्छोऽसाङ्केतिकः पराहम्परामर्शः, तज्ज्ञः शिवयोगी शाम्भवोपायविज्जगति जयति। स एष इच्छाख्यः शाम्भवोपायः। नहीच्छाशक्तिव्यतिरेकेण क्वाप्यनुरज्यति भगवान् महेश्वरः। परमार्थः शिव एवासौ विश्वस्य प्राणभूतः। स एवाहमस्मीति सद्विकल्पोदयो बन्धहेतुभूतान् विकल्पान् विनिहन्ति। एतावान् महिमा शाम्भवोपायस्य —

एतद्धि परमाद्वैतमत्र त्यागग्रहौ नहि।
भेदस्य चाप्यभेदस्य स्थितिः सर्वत्र सर्वदा ।।

परा पराऽपराऽपरा-शक्तित्रयमयः प्रभुः।
एक एव त्रिधा भाति दृष्टिस्मृतिविकल्पवान्[१] ।।

अतः परादितत्त्वज्ञो योगी चक्रेश्वरो भवन्।
पूर्णाहन्तात्मनि स्पन्दतत्त्वे रूढिमवाप्नुयात् ।।

अज्ञातशक्तिः पशवात्मा शक्तिं जानन् स्वयं प्रभुः।
भवतीति विनिश्चित्य शक्तिं स्वां पश्य सर्वतः ।।

स्वप्नसङ्कल्पसृष्ट्यादौ शक्तिः संविदितात्मनः।
स्वेनैवास्तीत्यतः स्वात्मा शक्त्या भाति तथा तथा[२] ।।

एषा भगवतः शक्तिर्व्यापिनीभावमापन्ना बाह्यविषयोन्मुखी सृष्टिरिति, समनाभावमापन्ना त्वसौ स्थितिरिति, उन्मनीभावमापन्ना पराङ्मुखी आत्मसात्कृतभावा सा संहारपदाभिधेया, शाम्भवे धाम्नि पूर्णविश्रान्ता त्वसौ अनाख्येति जेगीयते। यथाहुः प्रत्यभिज्ञादार्शनिकाः —

शक्तिः स्पन्दनशीलैव या बहिर्विषयोन्मुखा।
व्यापिनीभावमापन्ना सा सृष्टिव्यपदेशभाक् ।।

सैव गाढान्तराविष्टा समनारूपतां गता।
स्थितिः स्थिरतया भाति सृष्ट्यङ्कुरितवस्तुनः ।।

आत्मसात्कृतभावत्वात् प्रत्यावृत्य पराङ्मुखी।
सैवोन्मनायमाना तु संहारो व्यपदिश्यते ।।

अनुपाधिर्भजमाना विश्रामं धाम्नि शाम्भवे।
पुनराद्यैव सा शक्तिरनाख्येत्यभिधीयते[३] ।।

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२५२, ३८५
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.२५२, ३८५, ३९७, ४७०, ५०९
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५११-५१४

प्रभोः प्रिया एषा शक्तिः स्फुरत्ता-महासत्ता-सारम्-ज्ञातृता-कर्तृतादिपदेन गीयते। स्वसंवेदनशब्देन व्यपदिश्यमानाऽसौ संविद् भगवती विश्वव्यवस्थामूलं परमार्थवस्तु विद्यते, या विमर्शात्मतां न जहाति, स्फटिकादिवज्जडत्वापत्तेः। विमर्श एवासौ भगवान् ज्ञानशक्तिरिति क्रियाशक्तिरिति वा शब्द्यते। यथाहुः प्रत्यभिज्ञाकृतः —

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः[१] ।।

परिशील्यमानासौ स्वसंविद् भगवती स्वात्मसात्कृताशेषषडध्वरूपा परित्यक्तद्वैतावभासा अद्वयात्मतया देदीप्यतेतमाम्। सततं भासमानस्वरूपायामस्यां संविदि बीजाङ्कुरलतादिवत् क्रमिकत्वं नास्ति। स्वयमेवास्या विविधान्योन्यविलक्षणरूपेणावभासमानाया विज्ञानाय प्रत्यभिज्ञापरामर्शमात्रमेवापेक्ष्यते। तदभावादेव तु सर्वसाधकः सर्वात्मा स्वात्मशिवो नितरामन्तिकस्थोऽपि दूरातिदूरगो दुःखशतविनिपातको निराभासते —

इत्थं स्वसंवित् परिशील्यमाना
स्वात्मीकृताऽशेषषडध्ववर्गा ।
द्वयावभासं परिमुच्य सद्योऽ-
द्वयावभासात्मतया चकास्ति ।।

स्वापरामर्शनं ह्येतदपराधो महान्न तु ।
अन्तिकस्थोऽपि येनासौ शिवो दूरातिदूरगः[२] ।।

आस्तामेतत्, समावेशकथा प्रक्रान्ता स्मर्यताम्। असङ्कुचितचिता सह सङ्कुचितचितो यदैक्यम्, तदेव समावेश इत्युच्यते। यदाहुः —

अविकल्पा स्थितिः सेयं भावनाद्यनपेक्षिणी ।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशः स शाम्भवः[३] ।।

मध्यमोपायिनां शाक्तः समावेशो भवति। तत्रायं क्रम आद्रियते—अहङ्कारेण मनसा, बुद्ध्या वा यद् विकल्पं भवति, तत्र सर्वत्र अहमः स्थितिरनुस्यूता भवति। अतोऽहमहमिति नित्यविमर्शनात्मा स्वावमर्शः शाक्तः समावेश इत्युच्यते। एष च मायिकः समावेशोऽमायिकस्वरूपाकलनात्मकेन शैवोपायेन सह योजयति, तेन स्वात्मनः शिवरूपता प्रत्यभिज्ञापिता भवति साधकस्य।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा,
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.१९०, २६१,
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.२३१,

यद्यप्यद्वयबोधेऽभ्यासोऽनुपयोगी, तथापि द्वैतमालिन्यशङ्कानिर्मूलनायाभ्यासः समुपयुज्यते। स चैष मायिकः शाक्त उपायो ज्ञानाख्यो भेदाभेदात्मकः। यदाहुः —

अहङ्कारेण मनसा बुद्ध्या वा यद् विकल्पनम् ।
सर्वत्राहं स्थितं सर्वं मय्येवास्ति व्यवस्थितम् ।।

अथवाऽहमहमिति स्वावमर्शनमेव यत् ।
तच्छाक्तः प्रोच्यते सद्भिरुपायोऽभ्यासियोगिने ।।

विकल्पत्वाच्च भेदात्माऽभेदात्मार्थानपेक्षणात् ।
इत्युभयात्मकः शाक्त उपायोऽयं हि मायिकः[१] ।।

अत्राप्यनधिकृतानां जिज्ञासूनामुद्धारायान्तिम आणवोपायः प्रतिपाद्यते। उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनादिनोपायेन यः समावेशः प्राप्यते, स आणवसमावेश इत्युच्यते। अत्रेदमवधेयम्—शाक्ते, आणवे चोपाये विकल्पाभ्यासः समानः, तथापि शाक्ते चेतसा स्मरणमात्रं विधीयते, आणवे तु बाह्यविषयसापेक्षं विकल्पनं भवतीत्यनयोर्भेदः। तत्र प्राणोच्चारादिकमपेक्ष्य बुद्धिजं ध्यानादिकं दूरम्, ततो दूरं देहगतं करणादि, ततोऽपि विदूरं बाह्य मण्डलस्थण्डिलादिकम्—इत्येष क्रमः शास्त्रेषु प्रतिपादितः। तत्र योऽसौ चिद्रूपोन्मेषः, तत् सामीप्यमित्युच्यते; यस्तु चिद्रूपनिमेषस्तत्किल दूरत्वमित्युच्यते। यथाहुः —

मितमातृत्वगौणाय परमातृत्वक्लृप्तये ।
प्रत्यभिज्ञाफलोपाय उपादेयो यथायथम् ।।

अणुस्वातन्त्र्यजन्मापि विकल्पो निश्चयात्मताम् ।
सम्यक् संस्कारतो गच्छन् भोगमोक्षौ प्रयच्छति[२] ।।

प्रत्यभिज्ञानये पारमेश्वरी शक्तिरेव कार्यकारणभावमपि भावयति। यश्च कल्पिताकल्पितभेदेन द्वैविध्यं भजते। अकल्पित एव तु कल्पितस्यापि प्राणभूतः। सच्चिद्घनानन्दरूपस्य ईशस्यैव सर्वकर्तृत्वं सम्भवति, न तु जडस्य। अत एव तिङर्थकृतिवादिनो नैयायिका अपि "रथो गच्छति" इत्यादौ लक्षणया व्यापारमेव तिङर्थमभिदधति। शक्तिमानसावेव अन्तरात्मतया बहिरात्मतया वाऽवभासते। एवं च शक्तिरूपं शिवरूपं वा शिवादिक्षितिपर्यन्तं सर्वं तत्त्वं चकास्ति, एतदुभयरूपं वा द्वैतवर्जितम्। चकास्ति किल स्वातन्त्र्यशक्तेरद्भुतो महिमा यद् अनया प्रभुरेवं कल्पिताकारं विधाय कल्पितकर्मभिरात्मानं प्रतिबध्नाति, फलतश्चायमणुः सम्पद्यते। पुनश्चाणुरयं पूर्णतां प्रत्यभिजानानः शुद्धमिव रूपं सम्प्राप्य मुच्यते। तेन तेन रूपेण बहुधा भासमानता त्वस्य स्वभावः, वह्नेर्दाहिकेव। तेन नात्र कश्चनानुयोगवार्ता समुदेतुमर्हति।

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.२३८-२४०। २. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.२५०-२५४

शिवगुरोरनुकम्पया कस्यचिदेव शिवे या नवधा भक्तिस्तया शक्तिपातसंज्ञया पूर्णता परिचीयते, येनासौ परशक्तिपातसम्पन्नोऽपरिच्छिन्नसंविद्रूपः सन् चकास्ति, कृतकृत्यतां चाश्नुते। भोगांशसंस्कारसमाश्लेषयुतेनापरशक्तिपातेन तु न जीवन्मुक्तिः, अपि तु मरणोत्तरं प्राप्यमाणा देहपातसमकालिकी मुक्तिरेवाऽपरा समवाप्यते। यथाहुर्गुरवः —

पारमार्थिक एवायं कल्पितोऽप्यस्ति वस्तुतः ।
परमार्थादृते सत्ता घटते कल्पितस्य न ।।

अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं जडस्य नोपपद्यते ।
स्वीकृता लक्षणा तस्मात् तिङर्थकृतिवादिना ।।

शक्तिश्च शक्तिमांश्चापि द्वे तत्त्वे समवस्थिते ।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वर ।।

अणुरूपोऽप्ययं पूर्णं शुद्धं रूपं स्पृशत्यहो ।
परावृत्त्येति महिमा स्वातन्त्र्यस्यास्य दृश्यताम् ।।

प्रकाशात्मा स्वतन्त्रोऽयं चिद्रूपो नर्तकः शिवः ।
स्वभावात् स्वस्वरूपस्य प्रच्छादनपरायणः ।।

परमः शक्तिपातोऽसौ परिपूर्णचिदात्मता ।
ध्वस्तोपाध्यनवच्छिन्नसंविदेकस्वभावता ।।

भोगांशेन समाश्लिष्टः प्रकाशः परमः स यः ।
अपरः शक्तिपातः स पर्यन्ते शिवताप्रदः[१] ।।

अनादिमलमेव पशुत्वाधायकम्, तच्चेदं स्वेच्छया उदेति, उल्लसति विनश्यति च। यथाहुरभिनवगुरवः—

अतः स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भणम्[२] ।।

अनुपायेन सोपायेन वा जिज्ञासुरणुः श्रीगुरुकृपया समावेशलक्षणं संसारार्णवतारकं ज्ञानमधिगच्छति, यल्लब्ध्वा देहस्थोऽपि सकलो जीवन्मुक्तः शिवशक्तिसामरस्यमवाप्य निर्धूतपशुभावो विदीर्णपाशजालः पतिश्चकास्ति ज्ञानित्वदिशा ऐश्वर्यमुपगतः शिवयोगी।

तदेवं लोके शास्त्रे च योऽयं परमोपादेयः सर्वशक्तिमान् शिवः स्वात्ममहेश्वरः, स एव सर्वतत्त्वप्राणभूतः एक एव परमो गुरुः। सततभवभासमानोऽप्ययं नितरां गुप्तः सर्वप्रमाणागोचरः सदैवाभिनवो राराजते। यदुक्तम् —

---

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ४४२, ४५७, ४५८ २. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.४७२,

"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" इति ।

सर्वस्य तत्त्वस्य च तत्त्वभूतो
गुरुः स एको नहि कश्चिदन्यः ।
विभासमानोऽपि न भास्यते यो
गुप्तो गुरुः सोऽभिनवः सदास्ते[१] ।।

त एवोपासकाः शिवतत्त्वं प्रपश्यन्ति, ये तावदात्मतत्त्वं साधु प्रपद्यन्ते। यथा च प्रभा भास्वतो न भिद्यते, शर्करा वा माधुर्यान्न भिद्यतेः तथैव शक्तिरपि शक्तिमतो न भिद्यते, गुरोर्वा शिष्यः। सर्वलक्षणलक्षितः सद्गुरुः स्वात्ममहेश्वरः परापरमयो ज्ञानक्रियायुतो ह्यानन्दमयः सदा जयति शिवस्यानुग्रहमूर्तिः। यथाहुः —

स ह्यखण्डितसद्भावं शिवतत्त्वं प्रपश्यति ।
यो ह्यखण्डितसद्भावमात्मतत्त्वं प्रपद्यते[२] ।।

गुरुशिष्यस्वरूपेण दृश्यते यद्यपि द्विधा ।
तथापि गुरुरेवैकः सर्वलक्षणलक्षितः[३] ।।

यत्संविच्छविभिन्नभेदतिमिरा एतादृशाः स्मो वयं ।
तं नित्यं स्वगुरुं परापरमयं ह्यानन्दरूपं नुमः[४] ।।

अन्ते परमगुरुमभिनवमेव शरणीकरवाणि —

केतकीकुसुमसौरभे भृशं भृङ्ग एव रसिको न मक्षिका ।
भैरवीयपरमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशनोदितः[५] ।।



१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.५९६

२. श्रीतन्त्रालोकः, ४.२७५

३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.५९८

४. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, २.६२२

५. श्रीतन्त्रालोकः, ४.२७६

पराहन्तामधिकृत्य वीरशैवप्रत्यभिज्ञादर्शनयो-स्तुलनात्मकं समीक्षणम्

– पण्डितमहेशझा –

श्रीभारते वर्षे आगमस्य सर्वतो बलवत्तरं प्रामाण्यं चिराद् दृश्यते। वैदिकीषु संहितासु दर्शनशास्त्रसम्बद्धानि तत्त्वानि विकीर्णानि सन्ति। उपनिषत्सु तु दर्शनस्य पर्याप्तमुपबृंहणं सञ्जातम्। श्वेताश्वतरोपनिषदि शिवरुद्रयोः स्वरूपं दार्शनिकदृष्ट्या विवेचितं विद्यते। शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितायां रुद्रमुदिश्याष्टावध्याया राजन्ते । एवं च वेदे शिवदर्शनरहस्यं पर्याप्तं वर्णितं विद्यते। तन्त्रेऽपि शिवभाषितं दार्शनिकं रहस्यं पर्याप्तमुपबृंहितं विद्यते। वेदस्तन्त्रं चेति द्वयमागमशब्देनाभिधीयते। यथाहुर्वाचस्पतिमिश्रमहानुभावाः — "आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः" इति।[1] तन्त्रपरकोऽप्ययमागमशब्दो भवति। यथोक्तम् —

आगतं शिववक्त्रात्तु गतं च गिरिजामुखे ।
मतं श्रीवासुदेवेन आगमस्तेन कीर्तितः ।। इति।

वेदाः परमेश्वरस्य निःश्वासभूताः स्वत एव आविर्भवन्ति। आगमानां तु आद्य उपदेष्टा स्वयं भगवान् शिवः भगवतीं पार्वतीमागमरहस्यं श्रावयामास। गुरवः शिष्यान् अनुशिषन्ति येनासौ आगमः शास्त्रम्। न चैतावता आगमानां वेदविरुद्धत्वं कुतश्चिदपि सम्भाव्यते।

निगमागमयोर्मुख्यतया दर्शनसिद्धान्ता एव परमपुरुषार्थोपायविवेचनपरा अवलोक्यते। तत्र प्रतिपादितानि दर्शनानि द्विधा विभाज्यन्ते। तत्र आस्तिक-नास्तिक-दर्शनानां यानि लक्षणानि बहुभिराचार्यैर्भिन्नभिन्नानि प्रतिपादितानि, तेषां पर्यालोचनेन निष्कर्षोऽयं यद् वेदप्रामाण्यमङ्गीकुर्वाणानि न्यावैशेषिक-सांख्ययोग-पूर्वोत्तरमीमांसाख्यानि वैदिकदर्शनान्यास्तिकानि भवन्ति। चार्वाकजैनबौद्धाख्यान्यवैदिकानि वेदप्रामाण्यानभ्युपगन्तत्वान्नास्तिकानि दर्शनानि भवन्ति।

तानीमानि द्वैत-द्वैताद्वैत-अद्वैत-भेदेन त्रिधा राजन्ते। तन्त्रप्रोक्तानि दर्शनान्यपि त्रिधा भिद्यन्ते—वैदिकं बौद्धं जैनं चेति। उपास्यदेवताभेदभिन्नानि वैदिकदर्शनान्यास्तिकानि त्रिधा श्रूयन्ते—शैवम्, वैष्णवम्, शाक्तं चेति। शेषदर्शनद्वयं तु नास्तिकम्। आस्तिकागमेष्वपि

---

१. योगसूत्र-तत्त्ववैशारदी, १.२५

शैवागमः प्रधानम्। तस्य पञ्च प्रस्थानानि भवन्ति। तत्र पाशुपतं सिद्धान्तशैवं च द्वैतवादिदर्शनम्। प्रत्यभिज्ञादर्शनमद्वैतवादिदर्शनं विद्यते। लकुलीशपाशुपतं द्वैताद्वैतवादिदर्शनं विद्यते। श्रीकण्ठशैवदर्शनं विशिष्टाद्वैतवादी विद्यते। वीरशैवदर्शनं तु शक्तिविशिष्टाद्वैतवादी विद्यते।

सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिशब्दवद् अष्टाविंशतिसंख्याकानां शैवागमानां बोधको रूढः। तत्र वैदिकवाक्ये शिवरुद्रयोः रूपद्वययोः प्रतिपादनं विहितम्। तयोः शिवरुद्रयोरविरोधो वीरशब्देन प्रतिपाद्यते। यदुक्तम् —

विरोधार्थो विशब्दः स्याद् रशब्दो रहितार्थकः ।
विरोधरहितं शैवं वीरशैवं विदुर्बुधाः ।।

अष्टाविंशत्यागमेषु समुपस्थितानां द्वैताद्वैतादिविरोधानां समन्वयार्थं किल भगवान् रेणुकाचार्यो रेणुकगीतामुपदिदेश। तत्रोपदेष्टा रेणुकाचार्यः, श्रोता चागस्त्यमुनिरिति सम्प्रदायः। विनेयजनस्योपकारवाञ्छया शिवयोगिशिवाचार्यो रेणुकागस्त्यसंवादाख्यं ग्रन्थमाश्रित्य शिवागमान् पर्यालोड्य शक्तिविशिष्टाद्वैतप्रतिपादकं सिद्धान्तशिखामणिग्रन्थं विरचयामास। यदुक्तम् —

रेणुकागस्त्यसंवादं निगमागमविश्रुतम् ।
प्रदीपयति गुप्तार्थमुद्धृत्य शिवयोगिराट् ।।

तथा च वीरशैवदर्शनस्येदं वैशिष्ट्यं यदत्र द्वैताद्वैतश्रुतीनां समन्वयसिद्धान्तप्रतिपादनं विधीयते। यदुक्तं श्रीपतिपण्डिताराध्येन —

श्रुत्येकदेशप्रामाण्यं द्वैताद्वैतमतादिषु ।
द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञके ।
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः ।। इति।

श्रीरेणुकभगवत्पादा अप्याहुः —

अगस्त्य! बहुधा ख्याताः सिद्धान्ता रुचिभेदतः ।
भिन्नाचारसमायुक्ता भिन्नार्थप्रतिपादकाः ।।

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि न हन्तव्यानि युक्तिभिः ।।

सद्गुरुशिवाचार्येण शक्तिपातविधिना दुःखसर्वस्वं जीवत्वमपसारयितुं यां पराहन्तां प्रकाश्य शिवसामरस्यात्मिका मुक्तिः शिष्येषु आधीयते, तामिमां पराहन्तामधिकृत्य वीरशैवप्रत्यभिज्ञादर्शनयोः काचन तुलना प्रस्तूयते।

वीरशैवदर्शने परमतत्त्वं परशिवपदेनोच्यते। सोऽयं परशिवः सगुणः; सकलपदवाच्यः निर्गुणो निष्कलपदवाच्यश्चेत्युभयरूपेण स्वीक्रियते। यथाहुः —

सृष्टेः पूर्वं महादेवः शक्तिसङ्कोचहेतुना ।
निर्गुणत्वेन शास्त्रेषु गीयते तत्त्ववेदिभिः ।।

सृष्ट्यादौ परमेशस्य शक्तेः प्राचुर्यवैभवात् ।
सर्वज्ञत्वादिकल्याणगुणवानिति कीर्त्यते[१] ।।

विमर्शवादिनो वीरशैवदार्शनिकाः "अशब्दमस्पर्शं"[२], "अस्थूलमनणु"[३] इत्यादिनिर्गुणश्रुतीनां सृष्ट्युन्मुखपरमेश्वरशक्तिसङ्कोचपरत्वमुपवर्णयन्ति।

"स ईक्षाञ्चक्रे"[४], "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"[५] इत्यादिसगुणश्रुतीनां च सृष्ट्युन्मुख-परमेश्वरशक्तिविकासपरत्वमास्थीयते। एवं च जगदुत्तीर्णे जगद्रूपे वा महेश्वरे विमर्शात्मता न जातु हीयते। यथाहुः श्रीरेणुकभगवत्पादाः —

परिच्छेदकथाशून्यं प्रपञ्चातीतवैभवम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगोचरपदे स्थितम् ।।

स्वप्रकाशं पराकाशमनौपम्यमनामयम् ।
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वशक्तिनिरङ्कुशम्[६] ।। इति।

स चायं विमर्शः प्रभोः शक्तिरित्याख्यायते। एनया शक्त्या विशिष्टः शिव एवं जगतो निमित्तोपादानकारणभूतः स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितो विद्यते। सा चेयं शक्तिर्गुणत्रयात्मिका सृष्ट्युन्मुखा भवति, सच्चिदानन्दलक्षणा तु प्रभोरवियोज्या स्वरूपोन्मुखा भवति। यदाहुः —

तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्तलोकनिर्माणसमवायस्वरूपिणी[७] ।। इति।

गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मनिष्ठा सनातनी ।
तद्वैषम्यात्समुत्पन्ना तस्मिन् वस्तुत्रयाभिधा[८] ।। इति।

असाधारणशक्तिविशिष्टं जगत् तादृशशक्तिविशिष्ट एव कश्चिद् निर्मातुं शक्नोति। दृश्यतां परशिवस्याद्भुतशक्तिविशिष्टस्य जगति विलक्षणां शक्तिम् — हुताशे उष्णताम्,

---

१. सू० श्रीकर० १.३.७१
२. कठ० २.३
३. बृ० उ० ३.८.८
४. प्रश्नो० ६.३
५. छा० उ० ६.२.३
६. सि० शि० २.४-५
७. सि० शि० २.१२
८. सि० शि० ५.३९

इन्दौ शैत्यम्, अश्मनि काठिन्यं च। तदिदं सर्वं माहात्म्यं प्रभौ शिवे स्वातन्त्र्याख्यशक्तेः। यदुक्तम् —

औष्ण्यं हुताश इव शीतलिमानमिन्दौ
शय्यासु मार्दवमिवाश्मसु कर्कशत्वम् ।
बालेषु मोह इव योगिषु च प्रबोधः
स्वातन्त्र्यमस्ति हि नियन्त्रयितुर्महन्मे ।।

सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षायां शक्तिसद्भावे लोकानुभवः श्रुतिश्च प्रमाणत्वेन वर्तत इति प्रतिपादितम्। तथा हि—लोके अग्निः कदाचिद् दह्यमानोऽनुभूयते, कदाचित् तु मणिमन्त्रादिना सति प्रतिबन्धेऽदह्यमान एवानुभूयते। एवं चाग्निस्वरूपातिरिक्ता दहनशक्तिः काचन विद्यत इत्यनुभूयते। सैषा शक्तिः शक्तिमतो न भिद्यते, न चात्यन्तं न भिद्यते। अतो भेदाभेदपक्षमङ्गीकुर्वन्ति वीरशैवाः। एवं च प्रत्यक्षमेव जगति तेषु वस्तुषु भिन्न-भिन्ना शक्तिः प्रतीयते। भगवती श्रुतिरपि प्रभोः शक्तिसद्भावे मौनं नावलम्बते—"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्वेताश्वतरोपनिषदि[१] "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति च तत्रैव।[२] स्मृतिरपि भगवती प्राह वीरशैवानन्दचन्द्रिकोद्धृता[३]—"न शिवेन विना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः" इति।

वीरशैवागमे शक्तिशक्तिमतोरविनाभावाख्यः सम्बन्धोऽङ्गीक्रियते। यथाहुः —

यथा चन्द्रे स्थिरा ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी ।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा[४] ।।

अयमाशयः—यथा चन्द्रचन्द्रिकयोः परस्परं नात्यन्तं भेदो न वाऽभेदस्तथैव स्वरूपोन्मुखस्य शिवस्य शक्तिर्विमर्शनाम्नी अक्षुब्धा पराहन्ता तदभिन्ना विद्यते, विश्वोन्मुखस्य तु क्षुब्धा विश्वाकारेत्यवस्थाभेदेन भेदाभेदात्मकोऽविनाभावसम्बन्धः शक्तिशक्तिमतः प्रसिद्ध्यति। यथाहुः पौराणिकाः —

एषा शक्तिः शिवा ह्येतत् शक्तिमानुच्यते शिवः ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः ।।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः[५] ।।

---

१. शि० शि०, ६.८
२. तत्रैव ४.१०
३. तत्रैव, पृ. ७
४. सि० शि०, २०.४
५. कूर्मपुराणम् ।

एनामेव शक्तिमवष्टभ्य प्रभुः परशिवो जगतो निमित्तोपादानकारणं विद्यते। मृत्कुम्भदृष्टान्तेन पराहम्परामर्शशक्तिमादाय प्रभुरुपादानकारणम्, कुलालघटदृष्टान्तेन शक्तिमत्प्राधान्येन प्रभुः निमित्तकारणं च विद्यत इति परशिवे जगतो निमित्तोपादानकारणत्वमुपपद्यते, "विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः", "सर्वो वै रुद्रः" इत्यादिश्रुतेः। स्मृतिरपि भवति —

यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेतन्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ।।

तथा तन्तुभिरुत्पन्नः पटस्तन्तुमयः स्मृतः ।
तथा शिवात् समुत्पन्नं शिव एव चराचरम्[१] ।। इति।

अनयोक्त्या प्रभोः शक्तिप्राधान्येन जगदुपादानत्वं प्रसाध्यते —

जगत् सिसृक्षुः प्रथमं ब्रह्माणं सर्वदेहिनाम् ।
कर्तारं सर्वलोकानां विदधे विश्वनायकः[२] ।।

अनया चोक्त्या तु प्रभुर्जगतो निमित्तकारणमिति प्रतिपादितं भवति। एवं च भिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वं शिवस्य प्रतिपादितं भवति। यथाह भगवती श्रुतिः—"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च"[३] इति।

यानि षट्त्रिंशत्तत्त्वान्यागमेषु स्वीक्रियन्ते, तानि सर्वाणि शक्तेरेव परिणामभूतानि, शक्तिश्च भगवती शक्तिमतो न व्यतिरिच्यते। यथोक्तम् —

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ।। इति।

यदा जिज्ञासुः साधकः शिवगुरुमुपसर्पति, तदा विश्वविलयनक्रमसमादरो भवति। तद्यथा — पार्थिवं पृथिव्याम्, पृथिवी जले, जलं वह्नौ, वह्निर्वायौ, वायुराकाशे, आकाशमात्मशक्तौ विलीयते। एवं चाहमात्मनोऽनुत्तरशिवस्य या पराहन्तात्मिका शक्तिर्भगवती, तत्रेदन्तात्मकस्य पृथिव्यादेराकाशान्तस्य समस्तस्य विश्वप्रपञ्चस्य विलापनादाहुतीकरणाद् साधकोऽसौ विश्वहोमीति प्रोच्यते। यथोक्तम् —

पराहन्तामये स्वात्मपावके विश्वभास्वति ।
इदन्ताहव्यहोमेन विश्वहोमीति कथ्यते[४] ।।

---

१. सि० शि०, १०.२ २. सि० शि०, २.१४
३. छा० उ० ३.१४.१ ४. सि० शि०, १४.३८

आगमिनामेषा मर्यादा यदत्र स्वात्मनि, शिवगुरौ, प्रभौ चाभेदबुद्धिर्जायते। तदैव जीवन्मुक्तिरभिव्यज्यते। एषाऽभेदबुद्धिरेव पूर्णाहन्तेति वा पराहन्तेति वाऽभिधीयते। यदाहुः शिवगुरुवः —

अहं शिवो गुरुश्चाहमहं विश्वं चराचरम् ।
यया विज्ञायते सम्यक् पूर्णाहन्तेति सा स्मृता[१] ।।

यश्चायं विश्वहोमी, या वा पूर्णाहन्ता सोऽसौ ज्ञानयज्वेति प्रोच्यते। यतो ह्यसौ चिद्रूपे प्रलयाग्नौ भेदमयं जगत् प्रविलापयति। असावेवोच्यते विश्वहव्यभुगिति। तदुक्तम् —

आधारवह्नौ चिद्रूपे भेदजातं जगद्धविः ।
जुहोति ज्ञानयज्वा यः स ज्ञेयो विश्वहव्यभुक्[२] ।।

एषा पराहन्तैव परा विद्येति बुधैरुच्यते। यत्र चिदात्मनि विश्व लीनं भवति, शिवशक्तिसामरस्योदयेन तत्र स्वात्मापि विलीनतां याति। जगन्मोहस्ततो निवृत्तो भवति। एषैव मुक्तिपदेनाप्यभिधीयते। तदुक्तम् —

निरस्तविश्वसम्बाधे निष्कलङ्के चिदम्बरे ।
भावयेल्लीनमात्मानं सामरस्यस्वभावतः ।।

सैषा विद्या परा ज्ञेया सत्तानन्दप्रकाशिनी ।
मुक्तिरित्युच्यते सद्भिर्जगन्मोहनिवर्तिनी ।।

पराहन्तोदये सति जीवः शिवेन सहैक्यमवाप्नोति। तदुक्तम् —

भक्तादिधामार्पितधर्मयोगात् प्राप्तैकभावः परमाद्भुतेन ।
शिवेन चिद्व्योममयेन साक्षान्मोक्षश्रियो भाजनतामुपैति[४] ।।

पराहन्ता भगवती स्फुरत्ता परा विमर्शरूपा, अक्रमा इच्छाज्ञानक्रियाभिधा वा शक्तिरित्युच्यते। तदुक्तम् —

स्वाभाविकी स्फुरत्ता या विमर्शाख्या पराभिधा ।
अक्रमा क्रमरूपेव सेच्छाज्ञानक्रियात्मिका[५] ।।

---

१. सि० शि० १४.३९
२. सि० शि० १४.४०
३. सि० शि० १४.४२-४३
४. सि० शि० १४.४४
५. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५५

जगति सुमेरुर्भवेत् परमाणुर्वा भवेत्, पराहन्तया विहीनो देवो न भवति। देवरहिता देवी वा न भवति। एकाप्यसौ शक्तिरनेकाभिधाना भिन्न-भिन्नपदसंवेद्या भवति। तदुक्तम् — "त्रिशक्तिरेकशक्तिर्वा देवो वा केवलः स्थितः"[१] इति।

शिवस्वरूपमामर्शयन्ती अहमात्मिका शक्तिः स्वस्यां शिवं प्रकाशयन्ती स्वयमसौ शिवे भासमाना भवति। एषा भगवती स्वात्मानं शिवादभिन्नं भासयति, शिवमपि स्वाभिन्नं प्रकाशयतीति चैतन्यपदेनाभिधीयमाना भवति। तदुक्तम् —

अहमित्यात्मिका शक्तिः शिवामर्शस्वरूपिणी ।
भासयन्ती शिवं स्वस्यां भातीयं च शिवे स्वयम् ।।

शिवादभिन्नमात्मानं स्वात्मनश्च शिवं तथा ।
भासयन्ती विस्फुरन्ती शक्तिश्चैतन्यमुच्यते[२] ।।

प्रकाशाख्यशिवस्याहम्परामर्शः प्राणभूत आस्ते। नासौ प्राणादिदेहपर्यन्तं स्पृशति, विशुद्धसंविद्रूपत्वात्। अस्येमानि संज्ञान्तराणि शास्त्रेषु प्रथन्ते—स्वभावः, सारः, घूर्णिः, महाव्याप्तिः, पूर्णता, ईश्वरता, पारमैश्वर्यम्, हृदयम्, विभूतिः, ऊर्मिः, काली, वाणीति च। स्वरूपसंवित्त्यात्मिकेयमेव विद्येति प्रोच्यते, स्वरूपगोपनात्मिका तु जगद्विलासिनी मायेति प्रोच्यते। अनुत्तरः शिव एव नित्यस्पन्दमयः सामरस्येन अहमित्येवं समुल्लसन् शाक्तीं दशामधिगच्छति, अतोऽव्यतिरिक्ता खलु शिवादसौ।

शब्दार्थोभयगर्भिणी महामन्त्रमयी असौ पराहन्ता भगवती अनुत्तरस्वरूपमेवास्ते। शुद्धचैतन्यभासिका ह्यसौ "पराहन्ता" इति शब्द्यते, इदमंशतामवभासयन्ती तु मायेति व्यपदिश्यते।

असावेव सृष्टिं मुक्तिं चावकल्पते, मोहं विवेकं च बिभर्ति, सुखप्रदा असुखं व्यवच्छिनन्ति। अनयैव स्पृष्टः शवो याति शिवताम् अत्र भवन्तीमेव शर्वः सर्वार्थविधानशक्तिं याचते। यो हि जनोऽस्या ललितं पादपङ्कजमाकलयति, स लौकिकमलौकिकं च वैभवमाप्नोति। विश्वाराध्यासौ स्वात्मसंवित्तिर्ज्ञानपूर्वकमाराधिता विश्वसिद्धिं यच्छति। अविज्ञाता त्वसौ बन्धदात्री, स्वभावत्वेन विज्ञाता तु भोगमोक्षौ प्रयच्छति। तदुक्तम् —

अविज्ञाता त्वियं शक्तिर्बन्धिकैव पशोः सदा ।
स्वभावत्वेन विज्ञाता भोगमोक्षोभयप्रदा[३] ।। इति।

इयमेव भगवतः शिवस्याभिन्ना इच्छात्मिका शक्तिः, नैनां परित्यज्यान्यां काञ्चिदुपैति भगवान् शिवः —

१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५६
२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.५९-६०
३. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.३९५

इच्छाशक्तिं महेशानीं सर्वसम्पत्प्रदायिनीम् ।
अनुरक्तां सतीं हित्वा नोपैत्यन्यां महेश्वरः[1] ।।

स्वात्ममहेश्वरे या रतिः = गाढानुरागः, सैव पूर्णता पराहन्ता वा। सा च स्वस्मृतेर्नान्या। स्मृतौ च समेषां स्वातन्त्र्यमिति स्वप्रत्यभिज्ञैव सर्वकृच्छ्रापनोदिनी भगवती पराहन्तेति तामेव शरणं व्रजानि।

स्वस्मिन् रतिः सर्वगुणाय कल्पते
सा चापि स्वस्य स्मृतिरेव केवलम् ।
स्मृतौ स्वतन्त्रोऽस्ति समस्तलोक-
स्तथापि दुःखीति महद् विचित्रम्[2] ।।



१. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४०५

२. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, १.४.२

SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI AND ANUBHAVASŪTRA

Dr. N. V. Koppal

The Vīrsaiva faith, like the other faiths has instructed certain tenets to its followers. Of these,[1] some tenets represent its philosophical aspects and systematic practice like-the ṣaṭsthala, the spiritual path. This plan of practice based on the Śivāgamas has devised to achieve beautification, the final goal of life.[1a] Traditionally it is believed that the principles of Viraśaivism have been incorporated in the latter part of the *Kāmika* and other Āgamas[2] among which the outlines of 101 sthala even are found and the same were instructed to the sage Agastya by the illustrious Reṇukācārya[3]. So an attempt was made to divide the main six sthalas into 101 sthalas called Ekottaraśatasthala and brought forth systematically in some Sanskrit works like *Siddhānta Sikhāmaṇi* etc[4]. Besides, Vīraśaiva mystic poet Sri Moggeya Māyideva in 1430 has incorporated in his work *Śivānubhavasūtra*, the principles of 101 Ṣaṭsthala in the poetic form and presented the Ṣaṭasthala principles in a lucid manner. But this *Śivānubhavasūtra* indeed has been written on the basis of Angasthala only. In his view sthala is as under :

एकमेव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
शिवतत्त्वं शिवाचार्याः स्थलमित्याहुरादरात् ।।

सर्वेषां स्थलभूतत्वाल्लयभूतत्वतस्ततः ।
तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते ।।

यत्रादौ स्थीयते विश्वं प्राकृतं पौरुषं यतः ।
लीयते पुनरन्ते च स्थलं तत्प्रोच्यते ततः ।।[5]

Sthala is described as the Supreme divine principle (परशिवतत्त्व) or Parabrahman and which is the source and support of all phenomenal existence with movable and immovable objects and the goal of all evolution.[6] The word 'Stha' denotes the source through which the phenomenal world emerges and have its sustenance. The word 'la' suggests the goal in which the individual soul finally merges itself. For the aspirant, 'Sthala' indeed is the ultimate end, the highest goal.[7]

Ṣaṭsthalas or Ekottaraśatasthala in Vīraśaivism are prescribed for the devotee who is anxious to aware of, to experience and to accomplish the Supreme within him and in the world outside. In realtiy due to the veil of ignorance (avidyā) and innate tendency in the Sādhaka the attachment towards the material objects takes place. But if once he realised the momentariness of the worldly objects and attractions, the higher instinct-the faith in the Supreme power begins to shine brightly.He apprehends freely the divine power within him and the universal spirit that controls and directs the whole universe. So the aspirant therefore, begins to offer admiration and deep devotion to him. This is the beginning in the practice. This practice is specially suitable for the mystic and yogic temperaments. It manifests highly gratifying unison of devotion, knowledge, detachment and action (Bhakti, Jñāna, Vairāgya and Kriya). The *Siddhānta Sikhāmaṇi* of Śivayogi Śivācārya has divided the 101 Sthalas into two groups, as Aṅgasthala and Liṅgasthala, each one of which is again sub-divided into a number of Sthalas, indicating the spiritual advancement of the Sādhaka. Thus among 101 Sthalas there are 44 belonging to Aṅgasthala and 57 to Liṅgasthala. Aṅgasthala indicates the actual performance and practice of the devotee and Liṅgasthala denotes the spiritual grace and power descending on the devotee. In the scheme of the 101 Sthala, we find and attempt to explain the simultaneous relation of the Aṅgasthala and the Liṅgasthala in each of the six Sthaḷas from the Bhakta to the Aikya. In these Sthalas three points are important in the attainment of the goal—first mere understanding of the Supreme through the advice of the spiritual Preceptor, second the actual practice of Śivayoga and the third the achievement through the realisation. So we have to observe the features of Ekottaraśatasthala of Śivayogi Śivācārya based on the principles of the Aṅga and the Liṅga Sthala and their relation in each of the six main sthalas (Ṣaṭsthala). Again we have to clarify the secret development in the Ṣaṭasthala practice, as represented by the *Śivānubhavasūtra* of Moggeya Māyideva.

(i) Bhaktasthala and its sub-sthalas

The word 'bhakta' is derived from the root 'bhaja' and has two meanings — 1. to resort to, 2. to divide. A bhakta in the Bhaktasthala is so called because he takes refuge in the Supreme being free from the shackles of worldly pleasures and take shelter in the Supreme.

The Bhaktasthala contains 24 sub-sthalas in which 15 belong to Aṅgasthala and 9 to Liṅgasthala, the former showing the gradual ascent of the sādhaka while the latter indicating the divine descent in proportionate

to the spiritual advance of the Sādhaka.[8] In the process of Ṣaṭasthala the first eight from Piṇḍasthala to Mantrasthala in the Aṅgasthala are the stages of preparation for the sādhaka. Gurukāruṇya Sthala, the 4th in it seems to be simultaneous with Dīkṣāgurusthala, the first in the Liṅgasthala. The preceptor with his Śivayoga power initiates the aspirant who is intend to get rid of the worldly bondage. Then he prepares his disciple to grasp his spiritual discourse. This is called Śikṣāgurusthala. Thereafter, he instructs him the right path through which the disciple achieves right knowledge. This is Jñānagurusthala.

Assimilating the eight processes of the Aṅgasthala the Sādhaka proceeds on the path of devotion (Bhaktimārgakriyāsthala) he directs his devotion towards the invisible Śiva, the Liṅga and Jaṅgama without any distinction (Ubhayasthala).

Thus the Guru, Linga and Jaṅgama form his spiritual property. Trividha Saṁpattisthala, which again with the addition of the supreme Grace of the Trinity, in the form of Pādodaka and Prasāda form the Caturvidhasārayasthala.

Such practice of the aspirant in accordance with the guidance of his Guru develops his intense devotion for the Iṣṭalinga that opens the treasure of the spiritual knowledge. This is Kriyāliṅgasthala.[9]

गुरोर्विज्ञानयोगेन क्रिया यत्र विलीयते ।
तत्क्रियालिङ्गमाख्यातं सर्वैरागमपारगैः ।।

लिङ्गमेव परं ज्योतिर्भवति ब्रह्म केवलम् ।
तस्मात् तत्पूजनादेव सर्वकर्मफलोदयः ।।

Through the meditation on the Iṣṭaliṅga which is the mirror reflecting one's own spiritual awakening, the Sādhaka experiences within him the existence of the Bhāvaliṅga[10] (Bhāvaliṅgasthala). In the next stage Jñānaliṅgasthala, after the complete absorption of Bhava the knowledge of the Supreme Being and the great bliss attained there-through take place[11]. In the last two stages (Bhāva and Jñānalingasthalas) the consciousness of the Supreme in the form of the divine Light develops.

The last three of the Aṅgasthala, viz., Upadhimātasthala, Nirupādhimātasthala and Sahajamātasthala are very important; the Sādhaka surrends himself to the intuitive personalities—first with desire of merit, next with consciousness of his duty and finally dedicates himself without any thought.

The last three stages in the Liṅgasthala viz., the Svayaliṅga, Caraliṅga and Paraliṅga are so called because, in the first, the Sādhaka tries to be free from egoism and unaffected by afflictions; he is ever contented with whatever he gets; he is self controled and is ever engrossed in the meditation of the Divine. He performs four actions, namely he meditates on Śiva, acquires the knowledge pertaining to Śiva, dedicates to the Supreme and the society, and lastly remains within himself.[12] These three stages will represent the awakening of the Divinity subjectively in the form of the divine consciousness (Liṅga) within in its three aspects viz., the individual, the intuitive and the universal; or objectively in the three forms of the intuitive personality, that is, Svayajaṅgama Carajaṅgama and Parajaṅgama.

So the *Śivānubhavasūtra* proclaims all the main characteristics of the Bhaktasthala in a single verse as under —

मिथ्यैव सत्यमिव भातमिदं शरीरं प्राणार्थजातमिति तत्र निवृत्तचित्तम् ।
भक्तिक्रियाचरणयैव सदा विरक्तं भक्तस्थलं भवविकारविदूरमाहुः ।।[13]

(ii) Māheśvarasthala and its sub-sthalas

The faith of the Bhakta with spiritual bliss lifts him up (शिवतत्पर: भक्तो माहेश्वर: स्मृत:)[14] to the higher stage of called Māheśvarasthala. For the easy practice it is advised that the Māheśvarasthala contains 18 sub-sthalas in which 9 belong to Aṅgasthala and 9 to Liṅgasthala. Here devotion and sense of duality, that is, the relation of worshipped and the worshipper remains in tact.

Māheśvarasthala

1. Aṅgasthala	*2. Liṅgasthala*
1. Māheśvaraprasaṁsasthala	1. Kriyāgamasthala
2. Liṅganiṣṭhāsthala	2. Bhāvāgamasthala
3. Pūrvāśrayanirasanasthala	3. Jñānagamasthala
4. Advaitanirasanasthala	4. Sakāyasthala
5. Āhvānanirasanasthala	5. Akāyasthala
6. Aṣṭamurtinirasanasthala	6. Parakāyasthala
7. Sarvagattvanirasanasthala	7. Dharmācārasthala
8. Śivajaganmayasthala	8. Bhāvācārasthala
9. Bhaktadehikasthala	9. Jñānācārasthala

By the full knowledge and perfect practice of Aṅgasthala here the devotee gets the divine grace descending in the form of spiritual knowledge. Māheśvara follows strict observances of moral and ethical values,[16] he believes in the Iṣṭalinga and wears it on the body as the emblem of Paraśiva; he gives up the distinction of caste and creed and believes in the equality of Śivasanskārins. But for the sake of worship he believes in the distinction of Jīva and Śiva as the worshipper and the worshipped.[17] Māheśvara does not subscribes to the idea of the eight forms of Śiva;[18] he has faith in the all pervading Paraśiva who has appeared in the form of Iṣṭliṅga;[19] he believes that the supreme is present in the hearts of His devotees.[20] All these observances of the devotee ensure the grace of the Supreme in the form of divine knowledge.

Though Śiva is within the hearts of all beings His knowledge is not acquired without the external worship (क्रियागम स्थल). The internal worship of Śiva, in the form of meditation and the divine experience—all are implied in the भावागमस्थल (शिवोऽहमिति भावोपि शिवतापत्तिकारणम्)[21]. In the Jñānāgamasthala the worship through intuitive knowledge is upheld without which unbalanced activities of mind are not controlled. Since the body is the only instrument for the service of the Supreme. His devotees through Kriyā, Jñāna and Bhāva consciously possess their body and nourish it as the body of the supreme. So it is called Sakāyasthala[22]. Being engrossed in the consciousness of the liṅga the devotee becomes unconscious of his body. Hence it is called Akāyasthala.

परस्य देहयोगेऽपि न देहाश्रयविक्रिया ।
शिवस्येव यतस्तस्मादकायोऽयं प्रकीर्तितः ।।

परलिङ्गे विलीनस्य परमानन्दचिन्मये ।
कुतो देहेन संबन्धो देहिवद्भासनं भ्रमः ।।

देहाभिमानहीनस्य शिवभावे स्थितात्मनः ।
जगदेतच्छरीरं स्याद्देहेनैकेन का व्यथा ।।

Then the devotee realises that his whole being is pervaded by the consciousness of Paraśiva (So this stage is known as the Parakāyasthala).[24] Righteousness and compassionate outlook towards all creatures and service to mankind constitutes the Dharmācārasthala. If the devotee offers to Him the fruit of all his actions (it is called the Bhāvācārasthala), and deeply absorbes in Śivajñāna, Paraśivatattva itself reveals within him.[25]

Thus, as *Śivanubhavasūtra* advises, with firm belief (Niṣṭhā bhakti) and worship of the Trinity (Guru, Liṅga, Jaṅgama), the Māheśvara follows vows, regulation and moral precepts. (Vrata-niyama-silas). He spells the mystical syllable with its hidden spiritual meaning identifying it with his Iṣṭadevatā (Guru-liṅga).[26] His purity imbibes within him the divine conscious with vigilance and wakefulness. So all the characteristics of Māhesvarasthala are explained by *Śivānubhavasūtra* thus :

आस्तिक्यबुद्धिनियमव्रतसत्यधर्म-
शौचादिलक्षणपरिस्फुटसच्चरित्रम् ।
लिङ्गैक्यनैष्ठिकतया सह वीरवृत्तं
माहेश्वरस्थलमिति प्रवदन्ति सन्तः ।।[27]

(iii) Prasādisthala and its sub-sthalas

After achieving the purity of mind in the Māheśvarasthala, the aspirant enters into the next stage—Prasādisthala and determines to gain higher degree of purity. Prasādisthala contains 15 sub-sthalas of which 7 belongs to Aṅgasthala and 9 to Liṅgasthala.

Prasādisthala

Aṅgasthala	*Liṅgasthala*
1. Prasādisthala	1. Kāyanugrahasthala
2. Gurumahātmyasthala	2. Indriyānugrahasthala
3. Liṅgamahātmyasthala	3. Prāṇānugrahasthala
4. Jaṅgamamahātmyasthala	4. Kayārpitasthala
5. Bhaktamahātmyasthala	5. Karaṇārpitasthala
6. Saraṇamahātmyasthala	6. Bhāvārpitasthala
7. Praśadamahātmyasthala[28]	7. Śiṣyasthala
	8. Śiśrūṣāsthala
	9. Sevyasthala[29]

The devotee in the Prasādisthala offers everything including food, drink, clothing, etc. to the Surpeme Being in the form of Iṣṭa, Prāṇa and Bhāvaliṅgas and with humble devotion he receives them as divine Grace (Sívaprasāda). By this grace the Sādhaka achieves the purity of his inner being and he is callled Pradsādi :

लिङ्गनिष्ठादिभावेन ध्वस्तपापनिबन्धनः ।
मनःप्रसादयोगेन प्रसादीत्येष कथ्यते ।।[30]

The Prasādi also receives the grace of the divine Trinity—Guru, Liṅga and Jaṅgama who are responsible for the development of his divine personality (See Guru, Liṅga and Jaṅgama mahātmyas). When the devotee offers veneration to the holy intuitive Personalities i.e. Jaṅgamas, it is called Jaṅgama mahātmya.[31]

The same devotion and honour extended to the devotees (Bhakta) to the surrendered souls (Śaraṇas) and to those who are ever after the grace of the Supreme—as all of them are of equal importance to his spiritual development. So these form the three sthalas viz., the Bhakta, Śaraṇa and Prasāda mahātmya sthalas.

Through the constant practice of Liṅgānusandhāna and through the grace of the Trinity, the Prasādi achieves pure and electrified body. (Kayānugrahasthala).[32] As the external and internal organs are completely purified by the touch of the Supreme, the Sādhaka enjoys life without any troubles(Indriyānugraha).[33] When all the organs are controlled and purified, the vital breath is easily controlled and regulated and sound health is assured (so this stage is called Prāṇānugraha).[34] Thus all the adjuncts of the body, organs and Bhāva of the Prasādi are dedicated to the Supreme and are pervaded by Divine essence (these sthalas are—Kāyārpaṇa, Karaṇārpaṇa & Bhāvārpaṇa). Such a high-souled personality guides those who aspire for his help in spiritual advancement (Śiṣyasthala)[35] and such aspirants remain themselves to his service (Śusrūṣāsthala).[36] Again such followers also attain the state of an adept and acquire the state of being served by others (Sevyasthala).[37]

As Māyideva proclaims the devotion of the Sādhaka in the Prasādisthala is pure and subtle, carried on with undivided attention (Avadhānabhakti). Here all the vows and regulations are observed with greater interest and intensity and through it, the ability for the direct grace of the Supreme is gained. As long as the Prasādi's body needs food, drink and etc. it is his duty to dedicate them all to the Supreme in the form of Trinity, which is responsible to develop the inner consciousness and the highest knowledge.

Thus all the objects are to be accepted as the Prāsada of the Almighty. So Māyideva declares :—

आत्मोपभोगविषयाणि हि सावधानं द्रव्याण्यहङ्कृतिमितैरखिलैः खवर्गैः ।
लिङ्गे समर्प्य बहुशो लभते प्रसादं यत्तत् प्रसादि गदितं गुरुभिः स्थलं स्यात् ।।

(iv) Prāṇaliṅgasthala and its sub-sthalas

The Prasādi with his steady attention obtains the divine grace that lifts him up to the higher stage. One who realises the effulgence of Supreme, Caitanyātmaka Liṅga is called the Prāṇaliṅga. It is also said that the Prāṇaliṅga is the union of Prāṇa which is Tattvātmaka, inhering the principles of the Caitanya and of Paraśiva, who is the pure knowledge and Light beyond all principles. One who abides in and enjoys such union is a Prāṇalingi.[39]

Through the yogic process the conjunction of Prāṇa and Apāna takes place and as a result the divine Light is produced within. This Light is called Prāṇalinga. In other words this Liṇga is nothing but Prarabrahman called the Praṇava and is of the nature of divine knowledge, Cidātmaka. Prāṇa is the seat of power. The union of power and light, knowledge or peace is known as Prāṇaliṅga and the Sādhaka having this experience is the Prāṇaliṅgi.

This sthala contains 14 sub-sthalas, 5 belonging to Aṅgasthala and 9 to Liṅgasthala.

Prāṇaliṅgisthala

Aṅgasthala	*Liṅgasthala*
1. Prāṇaliṅgisthala	1. Ātmasthala
2. Prāṇaliṅgārcanasthala	2. Antarātmasthala
3. Śivayogasamādhisthala	3. Paramātmasthala
4. Liṅganijasthala (or Nijaliṅgasthala)	4. Nirdehāgamasthala
5. Aṅgaliṅgasthala.	5. Nirbhāvāgamasthala
	6. Naṣṭāgamasthala
	7. Ādiprasādisthala
	8. Antyaprasādisthala
	9. Sevyaprasādi.sthala

In reality, the realisation of the inner illumination through the practice of Śivayoga is called Prāṇaliṅgisthala. In this sthala all the sense-organs are absorbed in the Liṅgadhyāna and by the meditation of this liṅga the light of consciousness shines within the Śivayogi.[40] Such meditation leads to Samādhi (Śivayoga Samādhisthala). The experience and realisation of the Supreme Liṅga within the Śivayogi (Liṅganija sthala) takes place and union of the soul and the Supreme Liṅga within the Śivayogi (Liṅganija

sthala) takes place and union of the soul and the Supreme also happens in the Aṅgaliṅga sthala.

The Śivayogi who has progressed in his Sādhanā by the method indicates above, completely overcomes the sense of body, organs, Prāṇa and Jīva-hood and completely merges in the knowledge of the Supreme. The distinction between Jīva and Paramātma vanishes (Ātmasthala) itself. The Śivādvitajñāna, the knowledge of identity, that the soul is not a part from the Supreme attained by the Śivayogi forms the Paramātmasthala.[41]

Further the Śivayogi engrossed in the Prāṇaliṇgānusandhāna works for the welfare of the world being aloof from the impressions of his physical vehicle (Nirdehāgama).[42] Next the Śivayogi's Bhāva becomes lofty and vast as the sky, deep and sublime as the depth of the ocean (Nirbhāvāgama). Then he visualises Paraśiva in all beings and in all objects of the creation (Naṣṭāgama sthala). He enjoys the presence of the Grace within him all the while. The last three stages in the Liṅgasthala here, indicate the state of the Śivayogi who directly experiences the Grace and vision of Paraśiva (Ādiprasādi and Antyaprasādi) and is revered as Supreme Śiva Himself (Sevyaprasādi).

In the view of Sanskrit work *Śivānubhavasūtra* the characteristics of Prāṇaliṅgisthala (based on Aṅgasthala) runs emphatically thus[43]

प्राणेन्द्रियादिषु ममाहमिति प्रमोहं सम्भ्रातिसिद्धमपहाय समस्तमेतत् ।
लिङ्गे निधाय मनसा यदनुप्रयुक्तं तत्प्राणलिङ्गि सुचरस्थलमाहुरार्याः ।।

(v) Śaraṇasthala and its sub-sthalas

In the Śaraṇasthala complete surrender is the mark of the Śaraṇa who is engaged with devotion of delight (Ānanda-bhakti). The Supreme in turn intends to abide in Śaraṇa. This sthala contains 16 sub-sthalas, 4 Aṅgasthala and 12 Liṅgasthalas.

Śaraṇasthala

Aṅgasthala	*Liṅgasthala*
1. Śaraṅasthala	1. Dīkṣāpādodakasthala
2. Tāmasanirasanasthala	2 Śikṣāpādodakasthala
3. Nirdeśasthala	3. Jñānapādodakasthala
4. Śīlasampādanasthala	4. Kriyāniṣpattisthala
	5. Bhāvaniṣpattisthala
	6. Jñānanispattisthala
	7. Piṇḍākāśasthala

8. Bindvākāśasthala
9. Mahākāśasthala
10. Kriyāprakāśasthala
11. Bhāvaprakāśasthala
12. Jñānaprakāśa.

Śaraṇa is endowed with a personality of complete control.and perfect purity, he forgets himself having an intense love for the Divine and experiences the perfect identity with Him (सती ज्ञेय: शिव: पति:।-सिद्धान्तशिखामणि)

With firm and pure devotion to the Supreme, with self knowledge and detachment the Śivayogi dispels the slightest darkness still lurking within him. (Tāmasa nirasanasthala). Then true knowledge shines (Nirdeśasthala) and Śaraṇa with his perfect and enlightened action and knowledge, tries to achieve Mahājñāna (Śīlasampādanasthala).

In the Dīkṣāpādodakasthala the words 'Pāda' and 'Udaka' representing Guru and Śiṣya stand for light and delight according to the *Śiddhāntaśikhāmaṇi* and they are inseparable. The awareness of equality and oneness forms the Śikṣāpādodakasthala.[45] Again the consciousness of bliss blended with the Divine knowledge of equality between the Guru and Śiṣya is Jñānapādodakasthala.[46]

The Śaraṇa is enjoying the eternal and perfect divine Bliss, he is working for the welfare of mankind; he looks like an ordinary human being but is superior to all (Kriyā-niṣpatisthala).[47] Such a Śivayogi withdraws his feelings from the external objects and activities and fixes them on the Supreme alon. (Bhāvaniṣpati). He is merged in the perfect and highest bliss of the Supreme knowledge (Jñānaniṣpati). Next sthalas realises the Śivayogi and confine the light of the Supreme within him. So, the *Śivānubhavasūtra* asserts the characteristic of the Śaraṇa :

ज्ञानप्रकाशबलतः स्वयमेव लिङ्गं देहेन्द्रियादि मम रूपमिति प्रबुध्य ।
युक्ते समस्तविषये सति यद्विशुद्धं तत्प्राहुरागमविदः शरणस्थलं हि ।।

Thus Śaraṇa realises the presence of the Divine through the power of the divine light of knowledge within him. His inner being is full of light alone. So he experiences the presence of the Supreme only characterised by the terms sat, cit, ānanda, nitya and paripūrṇa. Such a Śaraṇa is also called Jaṅgama in whom introverted state of mind- the fourth state of consciousness (tūrīya) is visible.

(vi) Aikyasthala and its sub-sthalas

The Aikyasthala is the last and the unitive state and it contains 13 sub-sthalas, 4 of which are of Aṅgasthala and 9 of Liṅgasthala.

Aikyasthala

Aṅgasthala	*Liṅgasthala*
1. Aikyasthala	1. Svīkṛtaprasādasthala
2. Ācārasampatti	2. Śiṣṭodanasthalasthala
3. Ekabhājanasthala	3. Carācaralayasthala
4. Sahabhojanasthala	4. Bhāṇḍasthala
	5. Bhājanasthala
	6. Aṅgālepanasthala
	7. Svaparājñāsthala
	8. Bhāvābhāva sthala
	9. Jñānaśūnyasthala

Removing all kind of doubts through the intuitive knowledge and discrimination, getting the eternal and perfect knowledge and experiencing highest bliss, in the Śaraṇasthala, the Śivayogi deeply plunges within to enjoy the great bliss of Supreme Śiva (Samarasa) like the hailstone in the sea.[49]

This Aikyasthala allies to the principle of Ātman. In the view of *Śivānubhavasūtra* Śaraṇas Ānandabhakti takes a higher form called Samarasabhakti (the blissful identity) in this stage. In the beginning a subtler distinction between the soul and the Supreme exists; but it is not so much as it would remain in the previous stages. The momentary distinction being vanished, the Aikya becomes rich with the devotion of blissful identity. The *Śivanubhavasūtra* states :—

नाहं त्वमप्रथितशब्दविभेदवृत्तिर्न प्राणदेहमनइन्द्रियभौतिकानि ।
सर्वं भ्रमात्मकमिदं मयि नेति भावादैक्यस्थलं समरसं सुखरूपमाहुः ।।[50]

Though the work *Śivānbubhavasūtra* has been written on the basis of Aṅgasthala, the author Māyideva has presented in it the higher degree of detachment constituting both the spirit of devotion and knowledge. He has emphatically depicted the importance of devotion called Śivādvaitabhakti in the 8th chapter. (क्रियाविश्रान्तिः)

धर्मादिपुरुषार्थाणां चतुर्णां परतः परा ।
पञ्चमः पुरुषार्थो हि भक्तिः शैवी सनातनी ।।

He has fully expressed the aim of the Ṣaṭsthala culminating the Liṅgāṅgsāmarasya viz., identity of the Supreme and the soul.[51]

The Ṣaṭsthala practitioner indeed, has to proceed from the lower sthala towards the higher one and will ultimately attain the Sāmarasya of Paraśiva. The author of *Śivānubhavasūtra* has not satisfied by remaining in the Aikyasthala. In his view point from the stage of the Aikya, the Sādhaka should come down to the stage of Śaraṇa and ultimately to the stage of Bhakta. Such a devotee should find himself mixed with the God-aspiring souls.[52] Because the mystic's main obligation is to guide the aspirants in the spiritual path or he should utilise his spiritual power, knowledge and experience for the welfare of the society. This view is the special contribution of Māyideva (in 1430).



REFERENCES

1. Some tenets belong to the performances to uplift the self and the society, like the Aṣṭāvaraṇa, the eight-fold coverings that protect the devotee from avidyā (i.e. nescience) and they are essential for the development of the inner personality of the practitioner.

1.a. Ṣaṭsthala is referred to in many of the Śivāgamas such as *Vīra, Sūkṣma, Mataṅga, Pārameśvara, Candrajñānāgama, Kāraṇa, Mukuṭa* etc. The Vīraśaiva writers also have quoted the *Skanda purāṇa, Saṅkara Śamhitā* etc. while describing the process of Ṣaṭasthala (See Niṣṭhūra Nanjaṇācārya: the *Vedanta-Cintāmaṇi* II-XIV- 40)

2. *Siddhāntaśikhāmani*: I.V. 14

3. *Ibid.*, 14. ff.
In one of the manuscripts it is said that in the Vijayabhairavi paṭala of the Vātulāgama Parameśvara instructed his consort Pārvati, the Principles of Ekottarasata-sthala and as mentioned in the *Bimbāgama*, Pārvati gave the secrets of these sthalas to Reṇuka who in turn gave them to Agastya. (K.U.D. Thick Paper Ms. No. 164).

4. We find in the *Siddhantaśikhāmaṇi* of Śivayogi Śivācārya some of names such as Upāndhimāta Nirupādhimāta, Sahajamāta, where the world 'Māta' is purely Kannada, and it shows that the author himself has attempted to represent the principles of Ekottara Śatasthala in Sanskrit and kept the Kannada word as it is showing the significance of the source for his study.

   i) *Siddhāntasikhāmaṇi* by Śivayogi Śivācārya

   ii) *Kaivalayasāra* by Maritonṭadārya (1650)

   iii) *Śṛtyantara Ṣaṭsthala* (Ms on palm leaf K.U.D. No. 165)

   iv) *Ekottaraśatasthalasāra Cintāmaṇi* by Parvata Śivayogīśvara 1650 (Ms. on palm leaf K.U.D. No. 1278)

स्थकारः स्थानवाची स्याल्लकारो लयवाचकः।
तयोः कारणभूतं यत्तदेव स्थलमुच्यते ।।

अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
जगतो यद्भवेत्तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते ।।

आधारं सर्वशक्तीनां ज्योतिषामखिलात्मनाम् ।
यत्तत्त्वं भवति प्राज्ञैः स्थलं तत्परिगीयते ।।

आलयः सर्वभूतानां लोकानां सर्वसंपदाम् ।
यद्भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत्राहुरक्षरम् ।।

5. *Śivānubhavasūtra* II- 5-8 *Kaivalyasāra* I-b.14

6. *Kaivalyasāra* I 13-14.

7. Parameśvara who is the source and support and the cause for the destruction of the universe-*Pārameśvara tantra*—vi.7. He is indeed, described as possessing six outstanding capacities like Sarvajñatā (all-knowingness), tṛpti (self-contentment) anādibodha (graciousness), Svatantratā (unlimited and unboundedness), Nityamaluptaśakti (eternal and undiminished power), anantaśakti (innumerable power).

   Pārameśvara tantra VI 33,

   सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
   अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ।।

   Vedānta Vīraśaiva Cintāmaṇi xiv. 62.
   Vīramāhesvarācāra Saṁgraha. 48-21.

   Śivānubhavaśūtra II 5-8.

   स्थकारः स्थलवाची स्याल्लकारो लयवाचकः ।
   तयोः कारणभूतं यत्तदेव स्थलमुच्यते ।।

   अधिष्ठानं समस्तस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
   जगतो यद्भवेत्तत्त्वं तद्धि वै स्थलमुच्यते ।।

   आधारं सर्वशक्तीनां ज्योतिषामखिलात्मनाम् ।
   यत्तत्त्वं भवति प्राज्ञैः स्थलं तत्परिगीयते ।।

   आलयः सर्वभूतानां लोकानां सर्वसंपदाम् ।
   यद्भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत्राहुरक्षरम् ।।

8. **Bhaktasthala :** a) Aṅgasthalas—Pinḍasthala, Pinḍajñanasthala, Saṁsāraheyasthala, Gurukāruṇyasthala, Liṅgadhāraṇasthala, Vibhutisthala, Rudrakṣisthala, Mantrasthala, Bhaktimārgakriyasthala, Ubhayasthala, Trividhasampattisthala, Caturvidhasarayasthala, Upadhimatasthala, Nirupadhimatasthala, Sahajamatasthala.

b) Liṅgasthalas—Dīkṣāgurusthala, Śikṣāgurusthala, Jñānagurusthala, Kriyāliṅgasthala, Bhāvaliṅgasthala, Jñānaliṅgasthala, Svayajaṅgamasthala, Cara-jaṅgamasthala, Parajaṅgamasthala.

9. *Śiddhāntaśikhamaṇi* (Kriyāliṅgasthala 31, 32)

10. *Śiddhantaśikhāmaṇi* (Bhāvaliṅgasthala 37)

11. *Ibid.*, (Bhāvaliṅgasthala 38-49)

12. *Ibid.*, (Svayaliṅgasthala, Caraliṅgasthala and Paraliṅgasthala)

13. *Śivanubhavasūtra* IV- 32

14. *Śiddhāntaśikhāmani* (Māheśvarasthala V.1)

15. *Ibid.*, verses 4-6

16. *Ibid.*, verses 15-20

17. *Ibid.*, verses 22, 27

18. *Ibid.*, verses 51-53

पृथिव्याद्यष्टमूर्तित्वमीश्वरस्य प्रकीर्तितम् ।
तदधिष्ठातृभावेन न साक्षादेकभावतः ।।

19. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* (Māheśvarasthala verses 59-60)

20. *Ibid.*, (Bhaktadehika Liṅgasthala verse 73).

भक्तानां हृदयाम्भोजे विशेषेण विराजते ।

21. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* (Bhāvāgamasthala 15-16)

22. *Ibid.*, (Sakāyasthala 36-39)

23. *Ibid.*, (Akāyasthala 44-46)

24. *Ibid.*, (Parakāyasthala 49-57)

25. *Ibid.*, (See धर्माचार, भावाचार, ज्ञानाचार स्थल)

26. The *Śivānubhavasūtra* VII- 29-31. IV-31.

27. The *Śivānubhavasūtra*, *Śiddhāntasikhāmaṇi*

28. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* (Prasādisthala 7 Chapter 1-4)

29. *Śiddhantaśikhāmaṇi* (Prasādisthala Chapter 17 verse-6)

30. *Ibid.*, (Prasādisthala Chapter 17 verse 2)

31. The Jaṅgamas or the Śivayogies visualise the divine power (or Cidrūpa) in the obscurities of the Universe and ward off ignorance born of Saṁsāra.

See *Śiddhāntaśikhāmaṇi* (Chapter 13 verses 36-38).

जानन्त्यतिशयाद्ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम् ।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिता: ।।

ये पश्यन्ति जगज्जालं चिद्रूपं शिवयोगत: ।
निर्धूतमलसंस्पर्शास्ते स्मृता: शिवयोगिन: ।।

घोरसंसारतिमिरपरिध्वंसनकारणम् ।
येषामस्ति शिवज्ञानं ते मता: शिवयोगिन: ।।

32. *Ibid*., Chapter 17 (See Kāyānugrahasthala)
33. *Ibid*., (See Indriyānugrahasthala)
34. *Ibid*., (See Prāṇānugrahasthala)
35. *Ibid*., (See Śiṣyasthala)
36. *Ibid*., (See Śusrūṣāsthala)
37. *Ibid*.,(See Sevyasthala)
38. *Śivānubhavasūtra* IV-30
39. *Śiddhantaśikhamaṇi* (Chapter 18 verse 3)
40. *Ibid*., (Chapter 12 See Śivayoga Samādhi)
41. *Ibid*., (Chapter 18 Parātmasthala verse 29-36)
42. *Ibid*., (Chapter 18 Nirdehāgamasthala)
43. Māyideva-*Śivānubhavasūtra* IV-29.
    and *Śiddhāntaśikhāmaṇi* Chapter 12, verses 2-3
44. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* Chapter 13 verse 13-22.
45. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* Chapter19 verses on Śikṣāpādodaka)
46. *Ibid*., verses Jñānapādodaka
47. *Ibid*., verses on Kriyānispatti
48. *Śivānubhavasūtra* IV 27,
49. *Śiddhāntaśikhāmaṇi* Chapter 14, verse 7,
50. *Śivānubhavasūtra* IV 28
51. *Ibid*., VIII 1-55
52. *Ibid*., VII 76-85



वीरशैव सम्प्रदाय में श्री गुरु का स्वरूप एवं महत्त्व

– संगमनाथ शर्मा, हिरेमठ –

अनादि वीरशैव सम्प्रदाय में अष्टावरण एवं पंचाचार को अपनाते हुए षट्स्थलों में क्रमशः अनुभव एवं साधना करते हुए, ऐक्यस्थल में लीन होना ही परम पुरुषार्थ माना जाता है। वीरशैव सम्प्रदाय वेदागमोपनिषत् प्रतिपादित है। धर्म तथा सम्प्रदाय दोनों अलग-अलग हैं। सम्प्रदाय शरीर के समान स्थूल रूप है। धर्म आत्मा के समान अदृश्य है। धर्म की स्थापना नहीं होती, वरन् समय-समय पर महापुरुषों द्वारा मानव हित के लिए विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है। परन्तु सम्प्रदाय के भाव को प्रकट करने की सुगमता के लिए **धर्म** शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है।

वीरशैव सम्प्रदाय एक प्रकार से सनातन धर्म का प्रवेश द्वार है। इस सम्प्रदाय में लिंग-धारण के द्वारा कोई भी व्यक्ति वीरशैव बन सकता है। यही इसका वैशिष्ट्य है।

इस सम्प्रदाय में गुरु का सर्वप्रमुख स्थान है। गुरु के स्वरूप एवं स्थान का सम्पूर्ण परिचय निम्नलिखित आगम प्रमाणों द्वारा निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। वीरशैव लिंगी ब्राह्मण धर्म ग्रन्थमाला में प्रकाशित मणूर महाध्यक्ष मल्लिकार्जुन शास्त्री कृत "विरक्तोत्पत्ति क्रियालक्षण" नामक ग्रन्थ में समस्त आगमों के प्रमाणों के द्वारा गुरु का स्वरूप एवं स्थान निर्दिष्ट किया गया है। इस सम्बन्ध में ६७ श्लोकों द्वारा विभिन्न आगमों के प्रमाण से यह सिद्ध किया गया है।

गुरु का स्वरूप

सद्वंशजः समापूर्णः प्रशान्तः प्रियभाषणः ।
गम्भीरः सत्यवाग्वाग्मी सन्तुष्टः करुणास्पदः ।।

स्निग्धः स्मितमुखो रागी प्रगल्भो निरहङ्कृतिः ।
शुचिः सुशीलो धर्मिष्ठः सदाक्षिण्यो बृहद्ध्वनिः ।।

निर्मत्सरो गुणग्राही प्रशान्तो विजितेन्द्रियः ।
वेदाङ्गेषु कृताभ्यासः पुराणश्रुतिवित्तमः ।।

सर्वागमेषु कुशलः कुलीनश्च महामतिः ।
मन्त्रोद्धारप्रवीणश्च मन्त्रार्थप्रतिपादकः ।।

(वीरशैवाचारप्रदीपिका)

गुरु की योग्यता

पदवाक्यप्रमाणज्ञो वेदवेदान्तपारगः ।
तिथिनक्षत्रयोगज्ञो भूपरिग्रहकर्मवित् ।।

शैवसिद्धान्ततत्त्वज्ञः प्रतिष्ठामन्त्रपारगः ।
मोक्षदः करुणोपेतो वीतरागो विमत्सरः ।।

क्रियापादे तु निपुणश्चर्यापादे तु रञ्जकः ।
योगपादे कृताभ्यासः ज्ञानपादे विशेषवित् ।।

क्रियादिज्ञानपर्यन्तं शिवतत्त्वविनिश्चयः ।
सम्प्रदायागतज्ञानो लोभदम्भविवर्जितः ।।

लिङ्गाङ्गस्थलभेदज्ञः षट्स्थलज्ञानतत्परः ।
शिवसिद्धान्ततत्त्वज्ञः षडध्वज्ञानवत्सलः ।।

नित्यकर्मादिकुशलो नैमित्तकविचक्षणः ।
काम्यादिकर्मचतुरो दीक्षाकर्मादिकर्मठः ।।

मण्डले मण्डपे कुण्डे प्रासादे प्रतिमासु च ।
लिङ्गपीठे शिलायां च परीक्षानिपुणाग्रणीः ।।

शिवस्य च गुरोर्भक्तो विवेकाहितमानसः ।
शिवार्चनासक्तचित्तः शिवध्यानैकतत्परः ।।

गुकारं च गुणातीतं रुकारं रूपवर्जितम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।।

(सुप्रभेदागमः)

त्रिषु लोकेषु पूज्यन्ते ते नरा गुरुभक्तितः ।
स्मर्तव्यः पठनीयश्च गुरुः परमकारणः ।।

गुरुदेवं महादेवं चैकभावेन भावितः ।
गुरुर्गृहस्थ एव स्यान्न कदाचिद्यतिर्गुरुः ।।

यथाहं सर्वलोकानां गुरुरम्बिकया सह ।।

(वीरागमः)

ईश्वर उवाच—

गृहस्थः सर्ववर्णेषु श्रेष्ठो गुरुरुदाहृतः ।
नैष्ठिकस्त्वधमो ज्ञेयो भौतिकस्तु ततोऽधमः ।।

वानप्रस्थयतीनां तु गुरुत्वं निष्फलं सदा ।
शिष्यस्य शिक्षणीयत्वाद् गुरुगौरवभावतः ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुर्गौरवमाचरेत् ।
वयः षोडशकादूर्ध्वमिष्यते सप्ततेरधः ।।

शिवज्ञानामृतास्वादपरिसन्तुष्टमानसः ।
तत्त्वविच्छिवसंयुक्तो मुक्तिदानं तु चापरः ।।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः ।
दुर्लभोऽयं गुरुर्देवि शिष्यहृत्तापहारकः ।।

(क्रियासारः)

ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मुक्तिमवाप्नुयात् ।
भिन्ननौकागतः सिन्धोर्यथा पारं न गच्छति ।।

तस्माज्ज्ञानाधिकं शिष्यो गुरुमेव समाश्रयेत् ।

(सिद्धान्तशिखामणि)

त्याज्य गुरु

इत्थं गुरुः समाख्यातो वर्जनीयोऽधुनोच्यते ।
व्यसनी वामनः कुब्जः कोपी च कुलटः शठः ।।

चपलोऽधिकहीनाङ्गः पापीयान् सूचकोऽन्त्यजः ।
व्याधितस्तार्किकः शूरः काकनादो वकव्रती ।।

गुरुदेवद्विजातीनां निन्दको वृषलीपतिः ।
अपूज्यकुलसम्भूतः स्त्रीकर्मी शिववर्जितः ।।

लम्बोष्ठो वक्रनासश्च गवीनः कलहप्रियः ।
परापवादशीलश्च परग्रन्थोपजीवकः ।।

बाला बह्वगुणैर्युक्ता वृद्धाः खञ्जास्तथैव च ।
एवमादिगुणैर्युक्ता वर्जनीयाः प्रयत्नतः ।।

पूर्वं गुरुं परित्यज्य योऽन्यं गुरुमुपाश्रयेत् ।
स पुनर्भूरिति ज्ञेयः सर्वकर्मसु गर्हितः ।।

(सिद्धान्तशिखामणिः)

इसी विषय पर वीरमाहेश्वराचार संग्रह, वीरशैवाचार प्रदीपिका आदि के अतिरिक्त अनादिवीरशैव सारसंग्रह ग्रन्थ के लेखक सिद्धवीर शिवयोगी ने अपने ग्रन्थ के "गुरुकारुण्य

स्थल'' में ६२ श्लोकों के द्वारा गुरु के स्वरूप तथा कर्त्तव्य का बहुत ही सुन्दर एवं स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है —

आचार्ये बालबुद्धिं च नरबुद्धिं तथैव च।
अशिष्टबुद्धिं कुर्वाणो रौरवं नरकं व्रजेत्।।

गुरुं सदाशिवं मन्येद् गुरुपत्नीं च पार्वतीम्।
ज्येष्ठपुत्रं गुरुं मन्येत् कनिष्ठानात्मना समम्।।

इसी प्रकार श्रीमज्ज्योतिर्नाथकृत शैवरत्नाकर में सामान्य शैव तथा वीरशैवों का लक्षण गुरुसेवास्वरूप निरूपण प्रकरण के १८७ श्लोकों में स्पष्ट रूप से बताया है —

कृत्वा दण्डनमस्कारं निर्लज्जो गुरुसन्निधौ।
गुरोः पत्नी गुरोर्भ्राता गुरोः पुत्रा गुरोः समाः।।

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवः स्वयं शिवः।
अग्रजावरजापत्यज्येष्ठश्रेष्ठतदङ्गनाः ।।

भार्या गुरोश्च वन्द्याः स्युरपसंवत्सरा अपि।

इस प्रकार आगमादि ग्रन्थों में बहुत विस्तार से वर्णन उपलब्ध है।

पं. बसवराज शास्त्री द्वारा सम्पादित वीरशैवसदाचार संग्रह के अनुसार पट्टाधिकारी, चरपति एवं निराभारी तीनों के लक्षण एवं स्वरूप इस प्रकार हैं —

ब्रह्म वेदस्तदध्येता ब्रह्मचारीति गीयते।
गुरुशुश्रूषणादेष शिष्य इत्यभिधीयते।।

वंशय आगन्तुकश्चेति द्विविधः शिष्य उच्यते।
मुख्यः सामान्य इत्येवं पुनर्वंशयो द्विधा मतः।।

ब्रह्मचारी गृही चेति द्विधा मुख्योऽभिधीयते।
उक्तलक्षणसम्पन्नो ब्रह्मचारी पुनस्त्रिधा।।

पट्टाभिषेकवानाद्यः प्रोक्तश्चरपतिस्तथा।
निराभारस्तृतीयः स्यात् सर्वलोकेषु विश्रुतः।।

सम्पाद्य शिष्यं स गुरुर्द्वितीयो विवाहेत् पुनः।

यहाँ पर ''द्वितीयो विवाहेत् पुनः'' कहकर चरपति को विवाह करने का निर्देश दिया है। इस निर्देश का क्या कारण है, यह स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। इस तरह ब्रह्मचारी के ही गुरु होने अथवा पदाधिकारी होने का पक्ष पूर्वोक्त विवाहित गुरु को पुष्ट करने वाले प्रमाणों

से प्रस्तुत वीरशैवकौस्तुभ ग्रन्थ का पक्ष कमजोर प्रतीत होता है। अतः यहाँ पर विवाहित गुरु न हो ऐसा स्पष्ट निर्देश नहीं है। ऊपर के प्रथम श्लोक में ब्रह्मचारी और शिष्य की व्याख्या की गयी है। इससे अविवाहित गुरु होने का कोई प्रश्न ही नहीं है।

मुख्य एवं सामान्य वंशोत्पन्न शिष्य को दो भागों में बाँटते हैं—मुख्य शिष्य महासूत्र से सम्बन्धित व सामान्य शिष्य उपसूत्र से सम्बन्धित माने जाते हैं। पुनः महासूत्रानुयायी शिष्य को ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ कहकर दो भागों में बाँटते हैं। पुनः 'उक्तलक्षणसम्पन्नो ब्रह्मचारी पुनस्त्रिधा' कहकर ब्रह्मचारी के पट्टाधिकारी, चरपति तथा निराभारी नामक तीन प्रकार मानते हैं।

किसी मठाधिकारी के पास एक साथ तीन प्रकार के शिष्य कैसे हो सकते हैं? बाद के अध्यायों में पट्टाधिकारी, चरपति दोनों को गुरु वर्ग मठ के स्वामी घोषित करके तृतीय निराभारी को विरक्त मठाधिपति माना जा रहा है। लेकिन गृहस्थ शिष्य के कार्य एवं पद आदि का किसी प्रकार का उल्लेख नहीं हुआ है। अतः यह स्थल चिन्तनीय है।

परम पूज्य शास्त्री जी ने वर्त्तमान समय के व्यवहार को साम्प्रदायिक विधि से सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु देश-काल को देखते हुए सम्प्रदायों में आचार्य वर्ग समाज के हित के अनुसार परिवर्तन करते आए हैं। प्राचीन समय के आगमादि ग्रन्थों में गृहस्थ गुरु की श्रेष्ठता प्रदर्शित है। किसी भी सम्प्रदाय के आचार्य को ब्रह्मचारी रहना निष्प्रयोजन है। इससे न तो समाज का ही, और न व्यक्ति का ही उत्कर्ष हो रहा है। गुरु का धर्म शिष्य के अज्ञान को दूर करना, सदाचार के प्रति आसक्ति उत्पन्न करना, समय-समय पर उनके यहाँ आचार्य के रूप में उपस्थित रहकर नित्य-नैमित्तिक कार्य को पूर्ण करना है। अतः गुरु पदारूढ़ पदाधिकारी का ब्रह्मचारी ही होने का कोई औचित्य न तो आगमादि से और न ही व्यावहारिक रूप से सिद्ध होता है।

इस विषय पर विद्वानों द्वारा शोध करा के प्रकाशित कराना नितान्त आवश्यक है। आज तक कई वीरशैव विद्वानों ने वीरशैव धर्म परक बहुत सी पुस्तकें लिखीं, उनमें सैद्धान्तिक पक्ष को बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। आदरणीय जगद्गुरु डॉ० चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी की "सिद्धान्तशिखामणि समीक्षा" एवं अन्नदानेश्वर संस्थान मठ मुण्डरगि द्वारा प्रकाशित "वीरशैव धर्म एक अध्ययन" नामक पुस्तक स्तुत्य एवं पठनीय है। लेकिन उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों में गुरु के स्वरूप के सन्दर्भ में गुरु के स्वरूप के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में समस्त वीरशैव शिवाचार्य समुदाय को एवं धर्माभिमानियों को एक बार समुचित ढंग से अवश्य विचार करना चाहिए। यह लेख मात्र इस सन्दर्भ में दिशा-निर्देशात्मक है।



THE CONCEPT OF GRACE, GURUTATTVA AND DĪKṢĀ AS EXPOUNDED IN SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI

Dr. Rama Ghose

Any attempt to unveil the mystery of the unfathomable nature of the Grace, Gurutattva and Dīkṣā is insufficient. Grace is the manifestation of the nature of God and Guru is none but the Grace personified who kindles the light within and paves the way to the end with the process of Dīkṣā. To throw some light on such a grave concepts like Grace, Guru and Dīkṣā as expounded in the *Siddhānta Śikhāmaṇi,* the great philosophical treatise of Vīraśaivism, an humble effort is made here.

To express in the language of Fransen – "The mystery of Grace is the mystery of the way God's love acts with us and for us" (*Divine Grace and Man.* pp. 48-49). Practically one who is capable of realising or enjoying Grace, only on him the Grace descends.

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।

Kaṭha Up. I.ii:23

Grace can only make one feel it as Grace. So, I ardently pray to God seeking his Grace so that I may be able to give vent to my thinking, however might it be an insignificant effort to expose this eternal Truth.

Grace is an unexpected, undeserved and unearned mercy, a free gift, an unmerited boon which helps the man in spiritual endeavour and thus pushes him towards the ideal – the goal of human existence. The concept of Grace has played a very important part in theology. The word 'Grace' originates from the Latin 'gratia', 'xapis' in Greek. Though the theologians have used the word 'gratia' in a different sense still both the Latin 'gratia' and the English 'Grace' are pregnant with ideas and rich in subtle gradations of emotions and thought. The Latin vulgate has used 'gratia' to translate the Greek word 'charis' which actually conveys the idea of favour or gift. It is a free gift which comes by favour and not by effort or merit. It is an unobligatory gift, given gratuisiously. The

equivalent word for Grace in Sanskrit is Kṛpā, Karuṇā, Anukampā, Anugraha, Dayā, Prasād etc. which are pregnant with ideas and also have the sense of ultimacy. The word 'Kṛpā' derives from the root 'Kṛp' which has two implications. On the one hand, it indicates the free gift of divine Grace and on the other, the helplessness of the forsaken or the bewildered indicating thereby the state of a soul captured and dominated by the ignorance. Conjointly 'Kṛpā' means bestowal of divine Grace which also carries almost the same meaning. The word is derived from the root 'sad' meaning to settle down. 'To settle down' may very well be interpreted as 'to be gracious'.

Guru is the embodiment of Grace. Grace is manifested in and through Guru. So, the Grace, assuming the from of Guru, is in the beginning as well as at the end.

Siddhānta Śikhāmaṇi, the celebrated philosophical treatise of the Vīraśaiva tenets is the most systematic exposition of the special features and the glory of Vīraśaiva religion. The meaning and the significance of the word 'Vīra', in this religio-philosophical school, is the most significant concept that emerges and centralises all the enquiries regarding both the spiritual capabilities inherent in man and their gradual expressions in and through the various vows observed by the disciple with the strongest of his determination in accordance with the instructions advocated by Guru and the procedures laid down in the scriptures. Guru, the embodiment of God Himself, is the only saviour of the mankind. God, Guru, souls and all the manifoldness are the manifestations of only one and the same Principle. So, the real nature of Guru is formless pure consciousness. Worshipper having the material i.e. empirical or transempirical body aspires for attaining the eternal, pure, conscious, formless Being from which everything have emanated as the manifestation of its power. Guru is the only means that leads to the end by being immersed in the undivided consciousness. This is known as the realisation of the eternity or becoming one with Guru. This highest state transcends all the dualities of form and formlessness. Individual self attains the state of selflessness by loosing its relativity and thus enjoys a complete identity with Guru and God, the undivided state of pure consciousness-bliss. The whole procedure is conducted only by Guru, the embodiment of Grace. God, the epitome of Grace, is manifested in and through Guru. So, the Grace, assuming the form of Guru, is in the beginning as well as in the end of the spiritual journey of the devotee.

Guru

Etymologically the word 'Guru' is comprised of two letters. The syllable 'gu' denotes that which transcends three guṇas i.e. sattva, raja and tama and the syllable 'ru' stands for the state which transcends all forms. So, the word Guru, according to Śivayogi Śivācārya, symbolises the state that transcends all attributes and forms. Thus Guru is of the nature of Mahāliṅga, the formless, attributeless, transcendental, pure Being.

गुणातीतं 'गु'वर्णं च रूपातीतं रुवर्णकम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 15.8

Only a ray of knowledge from Guru is enough to eradicate all ignorance and illumine the whole being with the light of knowledge. *Siddhānta Śikhāmaṇi* has defined 'ācārya' as —

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्य इति स्मृतः ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 15.9

Guru is he who not only imbibes knowledge in the disciple but also he himself thoroughly studies, adheres to and preaches the knowledge as duly prescribed in the scriptures. Guru, according to all the Āgamas, is none but Śiva Himself.

यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः ।

Candrajñānāgama : Kriyāpāda 2.7

Śiva, out of compassion for his devotees manifests Himself in the form of Guru. Guru is the spiritual medium through whom the Grace of God approaches the devotee. Śiva manifests Himself to the devotee as Guru in a human form for the fulfilment and accomplishment of devotion (9/38, 53). So, worshipping Guru is really worshipping Śiva Himself. All kinds of prayer and adoration to Guru is the direct prayer and adoration to Śiva, So, there is no difference between the two, rather should undoubtedly be considered as identical —

गुरुपूजैव पूजा स्याच्छिवस्य परमात्मनः ।

Candrajñānāgama : Kriyāpāda 2.94

गुरोरभ्यर्चनेनापि साक्षादभ्यर्चितः शिवः ।
नास्ति भेदस्तयोः कश्चिदेकत्वात् तत्त्वरूपतः ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 9.51

Guru and Śiva in Principle, are one and the same. This Truth has been reflected in almost all the Āgamas. Sometimes, Guru has been considered as more important than Śiva, as expressed in *Candrajñānāgama.* If Śiva is annoyed one may be saved but if Guru is annoyed, no one is able to save himself. As stated in *Vīraśaivaratnam* that Guru is the supreme in the whole universe. Some characteristics have been enumerated in *Candrajñānāgama* as the nature of Guru — one who is virtuous, learned, capable of ushering the enjoyment of the supreme bliss, possessor of Sattvaguṇa, devotee of lord Śiva and is able to bestow the freedom, is only worthy of being Guru. Guru is the knower of all the tenets of śaiva religion, the knower of mantras and also is adept in its process. He is the bestower of liberation, compassionate, renunciated and devoid of jealousy etc. He possesses the definite knowledge of all the metaphysical and religious practices from action to knowledge i.e. four processes – Kriyā, Caryā, Yoga and Jñāna, belongs to the family of Guru and acquires knowledge through the tradition of the preacher and disciple. Guru is the knower of the mystery of six sthalas, is himself surrendered to Śiva and practises unflinching meditation on Śiva. Guru need not be a renunciated ascetic rather preferably be a householder possessing all kinds of virtuous dispositions. He should not be addict to evil practices rather have normal body, good tempered, a sensible person and welversed in scriptures. He is like a father, mother, brother and friend to his disciple. There are three categories of Guru – Dīkṣāguru, Śikṣāguru and Jñānaguru.

दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यया दीक्षेति सा तस्यां गुरुर्दीक्षागुरुः स्मृतः ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 15.7

Dīkṣāguru is one who imparts supreme knowledge to the disciple, destroys the bondage of āṇava, māyā, karma, initiates him with the knowledge of Śiva and teaches the rules of conduct that must be followed.

दीक्षागुरुरसौ शिक्षाहेतुः शिष्यस्य बोधकः ।
प्रश्नोत्तरप्रवक्ता च शिक्षागुरुरितीर्यते ।।

Siddhāta Śikhāmaṇi 15.21

Sikṣāguru is he who imparts basic education regarding the process of worshipping liṅga and other tenets of the religion.

Jñānaguru is one who preaches various doctrines advocated by Śivāgamas. He should be able to eradicate all the ambiguities and

confusions regarding the philosophical and metaphysical doctrines of the religion like bondage, liberation, 'jīvanmukta' etc.

Guru possessing perfect wisdom usually performs all the above mentioned three functions alone for the disciple.

The main role of Guru in the spiritual life of the disciple is to dispel the darkness of ignorance by sanctifying him with the initiation and thus opening the path of liberation and union with Śiva. Disciple, being in the bondage of malas, is incapable of getting rid off them by himself without the compassionate guidance of Guru. According to Vīraśaivism the contraction of cognitive, conative and affective power of God causes the bondage resulting into the envelopement of the soul with the impurity or bondage of āṇava, kārma and māyā and on the contrary expansion of the knowledge i.e. cognitive power in its original all pervasiveness along with the two identical aspects of power i.e. conative and affective, the Kriyā and Īcchāśakti in its original form is known as the liberation of the soul and consequently the attainment of Śiva. As Śaṅkar Śāstri states — "संकुचितशक्तित्रयरूपमलत्रयनिवृत्ति-शक्तिविकासरूप-शिवत्वप्राप्तिर्मोक्षः।" (ईशोपनिषद्, शा. व्या., पृ. २४). The contraction of the conative power i.e. will-Īcchāśakti, causes the origination of āṇavamala, owing to which the soul wrongly assumes itself as incomplete and behaves thus forgetting its real nature. It means that āṇavamala is nothing but the wrong notion of being limited. Then māyāmala arises due to the contraction of the cognitive power of God resulting into the limitation of knowledge as the 'jñāna-bandha' on account of the limited i.e. non pervasive knowledge. The soul identifies itself as something different from the God and wrongly attaches himself with the sons, wealth etc. and works in accordance with the dictations of the small ego. Again it is stated that the kārmamala arises on account of the contraction of the all powerful conative power of God. This makes him go round the cycle of births and deaths as per the result obtained of his own deeds. The deed done with good intention produces good results where as the deed having bad intention begets unfavourable results. This kārmamala turns the all powerful God into an enjoyer of the pleasure and pain of the changeable world. Thus āṇavamala produces the finiteness, māyīyamala attaches the soul with the body, senses etc. and kārmamala causes the bondage of the cycle of birth and death. Thus the all powerful and all knowing Reality being enveloped with these defilements seems to be a finite being, though originally by nature indentical with the ultimate Principle. The Reality as Śiva Himself who is also the jīva in the world of experience

is nothing but the sport of limiting Itself for the manifestation of the world. Hence bondage is the result of the false contraction of Its nature, where as liberation connotes the cessation of and the freedom from that limitation, as the realisation or the enjoyment of Its own nature. The whole process is nothing but the sports of God, who being the nature of bliss enjoys Its own nature by emanating the world of multiplicity and again enjoying it as nothing but the expression of Its own nature. Thus according to the Viraśaiva philosophy, the manifestation of the universe is the expression of the ultimate Principle in reality and not a projection.

शिव: सत्यं जगत्सत्यं जीव: सत्यं स्वभावत: ।

Brahmasūtra Śrīkarabhāṣyam 2.3.40

To make the disciple aware of the aforesaid truth, to get rid of the riddle of the birth and death and to impart the exalted position of union with Śiva i.e. 'Śivaikya', Guru adopts certain procedures namely Dīkṣā, the initiation through which the devotee approaches the stages of the spiritual attainments. Dīkṣā or initiation is the procedure by which Guru, very compassionately, makes the way out to proceed further and at last the disciple achieves the final goal. Power of Guru works on the thick darkness of ignorance of the disciple and pierces it through the light of consciousness and thus paves the way for the end. *Siddhānta Śikhāmaṇi*, like other Āgamic doctrines, advocates various procedures of the initiation to be adopted by Guru in accordance with the capability of the disciple. Guru, as both the internal and external guide constantly helps the disciple to get rid of the bondage of ignorance by attaining the enlightenment of knowledge.

Initiation is inevitable for the seekers of the Truth in śaiva religion. It is only initiation by which the above mentioned three impurities come to an end. Attainment of the realisation of identity with the ultimate Principle, the Transcendental Brahman is the goal of human life which can only be achieved by the initiation, the manifestation of the Grace of God, as Reṇukācārya states —

दीयते च शिवज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
यस्मादत: समाख्याता दीक्षेतीयं विचक्षणै: ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 6.11.

Initiation is a combined process of knowledge and action inwhich the wisdom of Śiva is imbibed in the disciple by Guru through a particular spiritual procedure. Initiation serves the double purpose of eradicating the darkness of ignorance as well as enkindling the knowledge of Śiva.

This procedure consequently turns the person more and more towards God and the devotee becomes sensitive and aware of the spiritual life and its realization. Change takes place only on account of the all pervasive compassion of God. It is only due to the Grace of God, the devotee becomes inclined towards the religious life and the spiritual upliftment gradually takes place. At proper time Guru arrives and leads the disciple to the end steadily in accordance with his capability. It is only the Sadguru who knows the nature of defilement enveloping the soul of the disciple and applies the adequate measure at proper time to wipe out the darkness of ignorance and thus makes him reach and realise his own stage in the spiritual journey of union with God. Though the compassion of God is everpresent, immanent in the world but its onset on the individual soul works in a mysterious way. The secret of the function of Grace is impossible to know. Grace or love is the power of God that is only revealed to the devotees, not to others. Guru and initiation are the manifestations of the compassion that prepare the field by extinguishing the sins committed in performing the nitya, naimittika, prāyaścittakarma etc. and thus maturing the mala for the onset of final Grace. Vīraśaivism lays much emphasis on the religious penance for the eligibility to wear the liṅga and consequently attain the final stage of 'Śivaikya' after gradually achieving the previous stages by the Grace of God. One who has not undergone proper religious penance and is not duly initiated by Guru can never be a great liṅgī, as Reṇukācārya expresses —

अतप्ततनुरज्ञो वै आमः संस्कारवर्जितः ।
दीक्षया रहितः साक्षान्नाप्नुयाल्लिङ्गमुत्तमम् ।।

Siddhānta Śikhāmaṇi 6.39.

Receiving initiation from Guru is not general, rather a result of the compassion of God for the devotee which again causes the maturity of mala by constant exercise of spiritual endeavour. This again becomes the preconditions and occasions the intense onset of Grace resulting into a definite attainment of spiritual state. Though Grace, undoubtedly, is totally free, unconditional but paradoxically requires a precondition namely 'malaparipāka' – the maturation of mala which again is possible only by the able guidance and help of Guru, none else than the epitome of Grace. Dawn of Grace brings about the purity of heart of the devotee which again prepares the field for the oneset of intense Grace that overwhelms the devotee with intense devotion on the one hand and bestows the status of closest unison with Śiva by piercing through all the impediments owing to the contraction or veiling on the all pervasive

consciousness-bliss. Intense selfless devotion conjoins with the knowledge and action and also causes the complete self-surrender to God and is the only adequate means by which the devotee proceeds towards the ultimate goal.

The whole process of spiritual journey is administered by Guru applying the means of initiation which is obligatory in all the Āgamic traditions.

Dīkṣā

Perceiving the signs of the onset of Grace on the disciple Guru makes preparations for the initiation of the sanctified and the desirous pupil. The devotee who undergoes the prescribed religious penance which causes the maturity of the mala prior to initiation becomes eligible for the onset of Grace. On account of the regular practices of the religious austerities, the signs of the onset of Grace are evident in the disciple which is easily discernable by Guru who graces him with the initiation.

Initiation is said ṭo be of three kinds — Vedhā, Kriyā and Mantrarūpā —

सा दीक्षा परमा शैवी त्रिधा भवति निर्मला ।
एका वेधात्मिका साक्षादन्या मन्त्रात्मिका मता ।
क्रियात्मिका परा काचिदेवमेव त्रिधा भवेत् ।।

Kāraṇāgama 1.13

Vedhā

By mere sacred vision of Guru or a pious touch on the head of the disciple by Guru enlightens the disciple with the self-consciousness. This type of initiation is known as Vedhā-dīkṣā. This self-knowledge leads to the awareness of his identity with Śiva. Now the disciple is able to realise the futility of the world of existence, and the relevance of the spiritual doctrines regarding liberation and other transcendental principles which include —

1. Samayopadeśa, 2. Nihsaṁsara upadeśa, 3. Nirvāṇa upadeśa, 4. Tattva upadeśa, 5. Adhyātma upadeśa, 6. Tattva saṅśodhan upadeśa and 7. Tattva upadeśa as enumerated in the scriptures.

Māntrī dīkṣā

"मान्त्री दीक्षेति सा प्रोक्ता मन्त्रमात्रोपदेशिनी ।"

Siddhānta Śikhāmaṇi 6.14

Māntrī dīkṣā is also called as 'Māntra-upadeśinī' when Guru initiates the disciple reciting the supreme Pañcākṣara hymn in his right ear, it is named as Māntrī-dīkṣā. Disciple should repeatedly recite the hymn contemplating on it devotedly. All the impurities are eradicated by dovoutedly performing the above process and the awareness of the nature of self as consciousness (चिद् रूपोऽहम्) dawns upon him. This state is known as 'Cidahantā' (चिद् अहन्ता) or 'Prāṇaliṅgam.' The impurity of māyā is also dissipated and the disciple accepts the objects of the world only after offering them to God. Thus the disciple attains the state of Prāṇaliṅga indicating the concentration of citta, firmness of determination of vows, submitting the five senses and five motor organs to God, abandoning violence, intense firm devotion to liṅga, surrendering the mind to Mahāliṅga and achieving immediate liberation.

Kriyā dīkṣā

Dīkṣā inwhich the performance of rites and rituals like the preparations of canopy, dias etc. in reverence to God is considered important, is called Kriyā dīkṣā. After installing the pitchers in the name of five traditional Vīraśaiva ācāryas in a temple or in a sacred place on an auspicious day, the disciple should be consecrated with the sacred water of the five pitchers and then Guru should recite the Pañcākṣara hymn in a low voice in the right ear of the disciple which is only audible to him alone. Further other rites and rituals prescribed in the scriptures should be followed and the body of the disciple should be sanctified for offering a small Iṣṭaliṅga of the size of thumb, duly consecrated to bestow the life-principle to it. After having performed the rite of installation of life-principle i.e. Prāṇapratiṣṭhā, the Iṣṭaliṅga is kept on the lotuspalm of the disciple. Thus the bestowal of Iṣṭaliṅga is the principal aim of Kriyā-dīkṣā.

शिष्यपाणितले दत्ता या दीक्षा सा क्रिया भवेत् ।

Kāraṇāgama : Kriyāpāda 1.14.

Seven types of rites are performed under Kriyā dīkṣā, they are 1. Ājñā, 2. Upamā, 3. Kalaśābhiṣeka, 4. Svastikārohaṇa, 5. Bhūtipatta, 6. Āyatta patta and 7. Svāyatta patta.

1. Ājñā dīkṣā

Guru, first of all, blesses the disciple with the instruction to practice all the prescribed virtues and lead the life as per the ten fold religious disciplines of Viraśaivism through out the life. This first advice by Guru to his disciple is called the Ājñā dīkṣā.

2. Upamā dīkṣā

Guru cites the example of the great religious persons who have succeeded in observing the religious duties and thus have attained a blessed status in spiritual life. So, instruction by Guru by setting the suitable examples for the upliftment of the spiritual life of disciple is known as the Upamā dīkṣā.

3. Kalaśābhiṣeka dīkṣā

Installation of five pitchers in five directions representing the five ācāryas and performance of worship by following the prescribed procedure of consecration of the pitchers with a view to purify the five gross elements is named as 'Kalaśābhiṣeka'.

4. Svastikārohaṇa dīkṣā

By performing the Svastikārohaṇa dīkṣā Guru purifies the six adhvas and thus the suffering owing to the physical body comes to an end. Six syllable hymn is recited for this dīkṣā.

5. Bhūtipatta dīkṣā

The word 'Bhūti' has been used for Bibhūti which is prepared with the cow-dung. In Vīraśaiva religion three kinds of besmearing the sacred ash i.e. Bhasmasnāna, Bhasmauddhulana and Tripuṇḍra on the body have been advised for the eradication of the impurity of both body and mind. Guru, by his own lotus hand, besmears the sacred ash on the body of disciple. Thus granting Bibhūti along with the Rudrākṣa by Guru is known as Bhūtipatta dīkṣā.

6. Āyatta dīkṣā

Guru teaches the process of worship to the disciple by performing Iṣṭaliṅga on his own lotus palm. Then he bestows that Iṣṭaliṅga to the disciple with blessings uttering, 'may thee be endowed with Liṅga'. So, bestowal of Iṣṭaliṅga with all blessings on the part of Guru is famous as Āyatta dīkṣā.

7. Svāyatta dīkṣā

When Guru installs the Iṣṭaliṅga on the left palm of the disciple after duly worshipping It on his own left lotus palm with the view of the extinction of ignorance and attainment of Śiva, contemplating on Tryambaka, is said to be the Svāyatta dīkṣā. By this initiation disciple becomes adept in worshipping Iṣṭaliṅga on his own left palm which paves the way for union with Śiva.

There may be twenty one kinds of initiation from the above three by which Guru gets the impurities of the disciple washed away and prepare him for the attainment of ṣaṭasthalas.

Onset of Grace

Grace has a concomitant relation with devotion. They are inter related and co-existent. Grace initiates bhakti and bhakti causes the descent of Grace. The main signs of the onset of intense Grace on the disciple are the frequent shivering and vibrations in various parts of the body, dropping of the tears, distortion of voice and vision, sweating and finally the awakening of the blissful self-awareness of the non-duality with Śiva.

लिकारो लयबुद्धिस्थो बिन्दुना स्थितिरुच्यते ।
गकारात् सृष्टिरित्युक्ता लिङ्गं सृष्ट्यादिकारणम् ।।

Sūkṣmāgama : Kriyāpāda 6.5.

Therefore, realising the indentity with Śiva, the Liṅga which is the ultimate Principle as well as Its manifestation, is the goal of the spiritual journey of human being which can only be accomplished by the compassionate help of Guru who is none but the Grace personified.



A SPECTRUM OF SIDDHĀNTA ŚIKHĀMAṆI

Prof. V. P. Thonte

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिनी ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवा: प्रकीर्तिता: ।।

(सि. शि. ५.१६)

The word 'vi' is uttered in the sense of Lore (knowledge). He realises the union of Jīva (soul) and Śiva (supreme self). A Śaiva who meditates on Him, is known as a Vīraśaiva.

The word Vīraśaiva means a heroic Śaiva. The Vīraśaivites are the worshippers of Śiva in the form of Liṅga. The Vīraśaiva literature is written in the Sanskrit, Kannada, Telugu, Marathi, Tamil and other languages. In the recent time, it is translated in European (English, French) languages. The Vīraśaiva Religion is founded by the Pancācāryas: Reṇukācārya (Rambhāpuri, Baḷehonnur), Maruḷārādhya(Ujjaini), Ekorāmārādhya(Himavat Kedar), Panḍitārādhya(Śriśailam), and Viśwārādhya (Kāśi). The hagiological accounts of their incarnations in various Aeons are available in the *Vīrāgama, Swayambhuvāgama, Siddhāntāgama, Vīraśaiva Dharma Sindhu* and some other scriptures. The philosophy of Vīraśaivism is known as Śivadvaita, Viśeṣādvaita or Śaktiviśisṭādvaita. The philosophical framework is based on the doctrines of Ṣaṭsthala, Aṣṭāvaraṇa and Pancācāras. These Ṣaṭsthalas are the Bhakta, Maheśā, Prasādi, Prāṇaliṅgi, Śaraṇa and Aikya. The Aṣṭāvaraṇas are Guru, Liṅga, Jaṅgama, Prasāda, Vibhūti, Rudrākṣa and Pancākṣara Mantra (Namahśivāya). The Pancācāras are Liṅgācāra, Sadācāra, Śivācāra, Gaṇācāra and Bhrityācāra. The Sthala means phase, step, stage or ground. The Ṣaṭsthala Siddhānta is the six stage system of philosophy. It is the mystical process as a succession of stages, the Soul's spiritual pilgrimage and an intellectual esoteric system. This is the ladder of ascent towards the union with the supreme soul. The Aṣṭavaraṇas are the eightfold coverings or emblems: The Pancācāras are the five principles of religious rites and rituals to be practised in the day to day life. The Śakti (Premordial energy) and the Bhakti (Devotion) are intimately related. They want to be united, identical and one. The first step to attain this goal is a bliss. The second one is renunciation. The last stage

is a reconciliation of the Jīva with the Śiva. The Liṅga is a creator; the Aṅga is a creature. The Liṅga (Śiva) creates all the creatures without any desires. It is the soul's gradual progression towards the union. The creation is due to the Śiva's engagement (Pravṛiti). The Liberation for the Aṅga (Jīva) is attained through disengagement (Nivṛti). The Śakti creates desire and engagement. The Bhakti (Devotion) disengages him from the Māya (Illusion). They move in the different directions. There are moves and countermoves. The Liṅga has the six steps and the Aṅga has a corresponding six. These are the six steps of spiritual elevation, sublimation and revelation. These main six stages are divided into the number of sub-sections. Śivayogi Śivācārya has divided them into 101 stages. There are 44 Aṅgasthalas and 57 Liṅga sthalas. He has compiled all these doctrines in a book form know as *Siddhānta Śikhāmaṇi*. They are communicated in the conversational form. The great sage Reṇukācārya has advised these doctrines to the Agastya Muni. Śivayogi Śivācārya has advocated these steps to attain the final goal for the human beings. (1) The knowing and understanding the spiritual instructions of the Guru(Preceptor): (2) The realisation of that knowledge through the meditation (Sādhana): The attentive fixation of the mind on the Liṅga is essential: (3) The final process of attainment after the realisation is called Liṅgānusādhana (The inner penetration of the mind through Liṅga). These speculative thoughts are reflected in the stages of 101. An individual is offered the Iṣṭaliṅga (one's own desired Liṅga) in the stage of Bhakta Sthala by his Guru. He instructs the goal of it and the method of attainment. The final goal is the unity with the deity. The devotion to Iṣṭaliṅga and the chaste living starts the journey towards the attainment of goal. He approaches the Prāṇaliṅgi Sthala and realises the goal. This stage is at the end of Śaraṇa Sthala (Submission). The complete attainment is possible in the final and last stage of Aikya Sthala.

Śivayogi Śivācārya has compiled the doctrines of Vīraśaivism in a book called the *Siddhānta Śikhāmaṇi*. It is an ancient book. The book's greatness is accepted in a number of books like the *Vedāntasāra, Vāraśaiva Cintāmaṇi*, *Śrīkar Bhāṣya*, *Śrīkanṭha Bhāṣya*, *Vīraśaivānanda Candrikā*, *Kriyāsār*, *Śaiva Siddhānta Pancaka*, *Nirṇayasindhu*, *Śārdā Tilak*, *Nirmalya Ratnākar*, *Śaiva Brahmaṇotpatti* and *Dīkṣa Bodhe*.

Jagadguru Reṇukācārya (3 B.C.) has instructed the Vīraśaiva philosophy of the 101 Sthalas. They are in the form of dialogues. Pt. Kāśināth Śāstri and Ja Ca Ni (Dr. Cennabasava Desikendra Śivācārya) have propounded the antiquity of *Siddhānta Śikhāmaṇi*. Prof. M. Shivakumar Swāmi is of the view that the book might have compiled in between the 8th

and 10th century. H.H. Dr. Candraśekhar Śivācārya, the pontifical Head of Kāśi Jñāna Simhāsan, has critically edited the book. He has conceived and commented, debated and disputed, refuted and defended, the multifarious views of Srīpati Paṇḍit, Srīkaṇṭha Śivācārya, C.Hayavadan Rao and other scholars. He decides that the book might have compiled in the 8th century. I consider its ancientry may be 5th or 6th century. Because Rajsimha Palava, the monarch of Tamil country, was adorned as the "Satsthala Chakravarty" and "Śaiva Siddhānta Śikhāmaṇi". Probably the Vīraśaiva philosophy was known to the people of Tamil country. There were monasteries of Vīraśaivites.

The manuscripts of *Siddhānta Śikhāmaṇi* are scattered at various places. They are in the possession of monks, monasteries and oriental libraries at Madras, Mysore, Dharwad and Hubli. There are six manuscripts in the Karnatak University, Dharwad (Nos: 294, 1507, 1560, 2641 and 2468). There are two manuscripts in the Murusavir Math, Hubli (Nos: 59, 179). The Madras Oriental Library three copies of it (Nos: 5551, 5199, 5120). Which is the oldest copy of *Siddhānta Śikhāmaṇi*? Who has written the first commentary on it? The Vīraśaiva scholars have neglected to preserve old manuscripts, some copies have been destroyed by the rivals. Ujjaniśā (14th century), the disciple of Gorkada Mallikārjunācārya, has written a commentary on this book for the first time. Sosale Revaṇārādhya's "*Śivādhikya Śikhāmaṇi*"(17th century) is well known to scholars. Mari Tonṭadārya's "*Tattva Pradīpika* (17th century) is also famous for its commentary. It's Tamil rendering is done by Turai Mangal Śiva Prakāśa Swāmi (17th century). Srī Cenna Praggada Nageśwar has translated it into Telugu as *Śaiva Siddhānta Śikhāmaṇi*. It is written in the dipody metre. There seems to be a great influence of Mari Tonṭadārya's commentary on other scholars. Paṇḍit P. R. Karibasavaśāstri (1880) and N. R. Karibasavaśāstri (1921) have published *Siddhānta Śikhāmaṇi* along with the commentary of Mari Tonṭadārya. They have scholarly introductions with apt analysis. Paṇḍit Kāśināth Śastri's *Bhāva Prakāśh* (1936) is very popular. He has put separately at the end of the book the slokas (Hymns), which are against Vīraśaivism. Some other scholars like Dr. Ja. Ca. Ni., M. L. Nagaṇṇa, Mallikārjun Swāmi (Bijāpur) and others have written exhaustively and extensively on the book. Appāsaheb (M. B.) Wārad, Solapur, has published the Marathi version of *Siddhānta Śikhāmaṇi* (1905) (2 vols.). H. H. Dr. Candraśekhar Śivācārya, Varanasi, has also commented and trascreated the book. He delivered discourses and sermonised on the *Siddhānta Śikhāmaṇi* in Kannada and Marathi at various places. Those

sermons are also published as *Pravacan Prabhe* (Kannada-45 books) and *Janma Hā Ākhercā* (12 vols.). It's language is comprehensible, simple, lucid and readably appealing. He is going to prepare a variarum edition of *Siddhānta Śikhāmaṇi* for the scholars. The English version of this book is coming out shortly.

The *Siddhānta Śikhāmaṇi* contains 21 Paricchedas(chapters) and 1305 ślokas(hymns). There are variations in the textual lines. Paṇḍit Kāśināth Śāstri(1330 hymns), M.B.Warad(1305 hymns) and H. H. Dr. Candraśekhar Śivācārya (1416 hymns). The chapters from 1 to 4 and 21 are about the life of author Śivayogi Śivācārya, chants of Śivaśakti, the heritage of preceptors, the creation of universe, Reṇukāvatāra, the meeting between Reṇuka and Agastya Muni, grace to Vibhiśaṇ, investiture of 3 crores of Śivaliṅga and Liṅgaikya of Reṇuka (*S. S.*1-13-21; 2/27-33; 3/66-88; 4/1-54; and 21/1-54 hymns). There is a narration of 101 Sthalas (44 Aṅga Sthalas and 57 Liṅga Sthalas) in the chapters 5-21. Reṇukācārya adivsed to Agastya Muni on the topics of Vīraśaiva philosophical doctrines. The knowledge of Jīva(Aṅga)-Śiva(Liṅga) and Jagat(Universe) can be learnt from the book. The severe meditation can take a person from the Bhakta Sthala towards the Aikya Sthala, Liberating him from the bondage of cyclical life. Any one can achieve this final goal by the contemplation on these discourses. There are authentic views in doctrines, the preceptor's perceptions, Liṅga wearing, Smearing of Bhasma (holy whiteash), Rudrākṣa dhāraṇa(wearing beads), Pancākṣar Mantra(Om Namaha Śivaya), Varṇāśrama dharma (following one's own heritage), the practical follow up characters like Kriyā (action), Jñāna (knowledge), Sama (equal), Samuccaya (gathering), Dwaita-A-Dwaita(dual-non-dual), Jīvātma(soul), Paramātma (super-self), the Śakti (the premordial energy), Jagat Satyattva (the reality of universe), Pariṇāmavāda (the determinant effectiveness), Liṅga-Aṅga-Sāmarasya. The structure is graceful and marvellous. The description is apt, good and appealing.

The character of Vīraśaiva philosophy is reconciliatory. It prepares an individual from the dualism to non-dualism(anonism). These original doctrines are reasonably balancing. Says Srīpati :—

द्वैताद्वैतमते शुद्धे विशेषाद्वैतसंज्ञके ।
वीरशैवैकसिद्धान्ते सर्वश्रुतिसमन्वयः ।।

The Vīraśaiva philosophy (Śakti-Viśiṣṭādwaita-monistic approach) seems to be even modern. Śivayogi Śivācārya explains its greatness:-

सर्वेषां शैवतन्त्राणामुत्तरत्वान्निरुत्तरम् ।
नाम्ना प्रतीयते लोके यत्सिद्धान्तशिखामणिः ।।
(*S. S.* 1.31)

Who is the author of *Siddhānta Śikhāmaṇi*? Who is Śivayogi Śivācārya? This has become an embarrassing problem. The book's doctrines are authentic. The author is authentic; But there is lack of historical evidence. The scholarship is appreciated clearly in one of the hymns :—

कश्चिदाचारसिद्धानामग्रणीः शिवयोगिनाम् ।
शिवयोगीति विख्यातः शिवज्ञानमहोदधिः ।।
(*S. S.* 1-13)

The author explains in this hymn the geneology in the tradition of Guru-Śiṣya Paramparā (The conventional system of the preceptor and the disciple). मुद्ददेव—सिद्धनाथ—शिवयोगी शिवाचार्य. What is the meaning of मुद्दः ? मुदं ददातीति मुद्दः (one who gives joy is मुद्दः). The word वंश is not used in the sense of dynasty. It is a गुरुवंश (the geneology of preceptor). The meaning of this is freely rendered as following:-

There was someone Śivayogi Śivācārya, who was a scholar and learned person. He was a conqueror of good behaviour. He was an ocean of शिवज्ञान (The Lore of Lord Śiva). What is the subject matter of the book? See the hymn :

रेणुकागस्त्यसंवादं निगमागमविश्रुतम् ।
प्रदीपयति गुप्तार्थमुद्धृत्य शिवयोगिराट् ।।

There is a dialogue between Śivayogi Śivācārya and Reṇuka and Agasti. The esoteric doctrines of Vīraśaivism are explained from the famous book of *Nigamagāma*. They are easily comprehensible to one and all-

Who was Reṇukācārya? Who was Agastya Muni?

Jagadguru Reṇukācārya was very ancient Guru. He was incarnated at Kollipāki(A.P.). He had sprung up from the Someśwara Liṅga. Reṇukācārya and Revaṇasiddha are quite different ṛṣis. Their lives are depicted in an embarassing manners. Srī Reṇukācārya is considered to be incarnated during the Dwāpar Yuga(Aeon). He had introduced and elucidated the Vīraśaiva philosophy to Agastya Muni in the form of dialogues and discourses. He had investitured 3 crores of Śivaliṅgas in Sri Lanka as per request of Vibhīṣaṇa. Revaṇasiddha was a contemporary of Ādi Śankarācārya

(7th century). He had blessed and bestowed upon him a Candramouḷiśwar Liṅga as well as an idol of Gaṇapati bedecked with the precious stones. There is another reference of Revaṇa (7th century) in Cauḍadānapur and Siriwala inscriptions (1187 A.D.). Srī Revaṇa Siddheśwar (1080-1160) was a senior contemporary of Śivayogi Siddharāma (1130-1180). He was a remover of Gorakṣanāth's ego. He had liberated to many persons from the dangers. Agastya Muni lived in Kāśi and near the Mathura. (see : the Pandyan Kingdom: K. A. Nīlakanṭh Śāstri : p.108, 1929). He was living in Kalash village (Dist: Kaduru: Mysore). It is said: अगस्त्यं कुंभ संभव: Agastya Muni's was rather a rebirth. He was blessed with perfect knowledge of Vīraśaiva philosophy given by Reṇukācārya. He has written the first Tamil grammar: *Agastya Muppadi* or *Tolkappium* (3 B.C.). Harihara and Bommarasa have written on the life of Revaṇasiddha. Agastya was a great scholar and humanitarian.

Siddhānta Śikhāmaṇi basically a book on the doctrines of Vīraśavism. H. H. Dr. Candraśekhar Śivācārya, Kāśi, has drawn the attention of the readers at the aesthetic aspects of language used in *Siddhānta Śikhāmaṇi*. The use of figurative language is appreciable. Śivayogi Śivācārya has a great genius of poetic sparks. He was bestowed upon with the poetic pratibhā (imaginative or fanciful power). He was a scholar as well as a poet at heart. He has inspired and influenced many subsequent writers. The *Siddhānta Śikhāmaṇi* contains universal vision. It is a great work of speculative experiences. The book is a holy text of divinity. There are spontaneous feelings and thoughts expressing self-realisation: The poetic features, the figures of speech, the structure of language, the graceful appealing use of words to communicate the accurate meanings, the diction, and the style of presentation is simply marvellous. The use of figurative speech is amply found in *Siddhānta Śikhāmaṇi*. There are similies, metaphors, allegories, alliterations, analogies, paranomasias, questions, and poetic ethos. Read the following simile :—

अर्थहीना यथा वाणी पतिहीना यथा सती ।
श्रुतिहीना यथा बुद्धिर्भावहीना तथा क्रिया ।।
(*S. S.* 16-19)

As the speech is without meaning, a lady without husband, the genius without Śruti and the emotions are likewise actions. The use of poetic ethos (rasas) is really praiseworthy. The poetic ethos in the hymns is the tranquility(poised), devotion(desire), wonder and surprise, valour (bravery) and aversion. The style of writing is simple, graceful,

comprehensible, lyrical, lucid, natural, precise, balancing and restrained. The auditory imagination, the diction, the rhythm of words are delightful. The *Siddhānta Śikhāmaṇi* is a holy scriptural book of poetic philosophy like one of that Dante's *Divine Commedy* or T.S.Eliot's *Four quartets*. The poetic spark of imagination, the imaginative genius, the intens poetic fellings, the flavour of language and thoughts can sensitively felt in many lines of hymns:

The majority of Kannada Vacanas are influenced by the views from the Vedas, The Upanishads, The Śivāgamas and The *Siddhānta Śikhāmaṇi*. The Vacanakars have adopted the original spiritual speculation, perceptions and views in the new native garb of Kannada language to express the realised experiences and feelings. The model of the main doctrine of Ṣaṭsthala is clearly resemblant in the Vacanas. So many similarities are found in the Vacanas of Allama Prabhu, Basaveśwara, Cenna Basaveśwara, Akka Mahādevi, Haḍapada Appaṇṇa, Urilinga Peddi, Tonṭda Siddhaliṅga Śivayogi, Swatantra Siddaliṅgeśwar, Nijaguṇa Śivayogi and many other Vacanakars. The philosophical impact of *Siddhānta Śikhāmaṇi* is in appearance on Vacankars. (See: Akka Mahādevi's Vacana: "लिंगदिंदुयिसी अंगविडिदिप्प पुरातनर......" or Tonṭada Siddhaliṅgeśwar's vacana: "आदियल्लि शिव तत्त्वदल्लि रेणुकनुदय नामदिद्दरे....." The number of vacanakars have adopted, assimilated the epigramatic, witty and thought-provocative Sanskrit Subhāśitas (ethical sayings). We do not find any departure from the original visions. The chief doctrine of Ṣaṭsthala is ditto same. The yogic aspect—the shivayoga—is predominantly perceived in the original, uninterpolated Vacana sastras: i.e. Prāṇaliṅgisthala. The two divisions—the Aṅga and the Liṅga—are similar. They are very commonly appeared in the Vacanas. The sub-sections, the number of phases, the substances, the method of divisional features are also resemblant. There are repetitions. There is the tendency and features of monism amply used in the vacanas. The influence of *Siddhānta Śikhāmaṇi* cannot be denied.

The *Siddhānta Śikhāmaṇi* is a holy scriptural text. The book is full of thoughts, the subtle and valuable views, the precious in ideology inspiring to the Vīraśaivites and other religious followers.



THE PERIYA PURĀṆAM AND THE BASAVA PURĀṆAM

Sekkizhaar Adi-p-Podi T. N. Ramachandran

It is good to remember at the outset that the *Periya Purāṇam* is a vast and lofty mountain range, the peaks of which are not scalable by ordinary mortals. There are many purāṇams which are bigger than the *Periya Purāṇam* in bulk and size. However it is only the work of St. Sekkizhaar which is called sthe *Periya Purāṇam*. The Sanskrit word *mahā* is the equivalent of the Tamil word *periya*.

In his introduction to the *Rāmāyana* of Vālmiki, R.T.H. Griffith observes: "As I proceed beyond the age of Kālidasa, there appears before me a great epic monument to which Indian tradition ascribes a most remote antiquity so far as to make Vyāsa—the complier of the Vedas—, its author. This monument is the *Mahābhārata*. I bow before this colossal epic..." Griffith—the chela of the celebrated Indologist, H.H.Wilson—, was swept off his feet by the mere size of the *Mahābhārata*, an epic four times as big as that of Vālmiki's *Rāmāyana*. And *Rāmāyana*, be it remembered, is two times as big as that of the combined bulk of Homer's *Odyssey* and *Iliad*. It is no wonder, Bharatam is hailed as *Mahābhārata*. If size or bulk is the criterion, before the Brobdingnagian *Mahābhārata*, the *Periya Purāṇam* is but a Lilliputian. As size, per se, is of no account, the *Periya Purāṇam*—a mere Vamana in appearance—, is truly a Trivikrama in stature. This *Purāṇam* is truly great and grand, as it is a recordation of the lives and mystic experiences of Śivan Atiyaars than whom none is greater. An Atiyaar is one who is devoted to and is eventually oned with, the feet of Śiva—the Supreme Ens. The word ati means foot, and an atiyaar is one who clings to the feet of Śiva as the sole Palladium.

According to N.Sethuraman, a research scholar of perspicacious perception, St. Sekkizhaar commenced the arangketram of the *Periya Purāṇam* known as the *Tiru-th-Thondar Purāṇam* on an Aarudra day, namely 4 April 1139 and concluded it on an Ārudra day, namely 22 April 1140. Within sixty years, that is in 1200 A.D., Harihara came out with his version in Kannada, of the *Periya Purāṇam*. In the thirteenth century appeared in Telugu Palkuruki Somanātha's work—the *Basava Purāṇa*. It is an anthology of the lives of Vīraśaiva saints and a biography of

Basaveśvara—the twelfth century leader of the Vīraśaiva movement. Vīraśaivam, also known as Lingāyatism, is, according to Velcheru Narayana Rao—the translator of the *Basava Purāṇa*,— is a militantly anti-brahmin sectarian religion. Lo and behold: Basavesvara was a Brahmin.

Vīraśaivam became popular in Tamil Nadu by the 16th century when a great poet called Revaṇa Siddha flourished in Tamil Nadu. His work *Sivajñāna Dīpam* is virtually a book on Śaiva Siddānta. It comprises 174 Viruttam verses. The author expounds the tenets of Śaiva Siddhāntam at length and the four concluding verses deal with Vīraśaivam. In this work Liṅgadhāraṇam (wearing a Śiva-Liṅga on one's person) and Ekaliṅga niṣṭa (devotion to a single Linga) are expounded.

From the Vacana Sāstra Sāra we learn that Vīraśaivam disapproves indiscriminate idolatry. The supreme is to be worshipped in the form of Iṣṭa-Liṅga—the Liṅga received from the Guru at the time of Dīkṣā. It even condemns the adoration of Sthāvara-Liṅga—the one installed in a public shrine. However we find that all the Vacanas of Basaveśvara are addressed to Sri Sangameśvara—the presiding deity of Kūḍalasangama.

Prof. A. K. Ramanujan, by his able explication of a single Vacana of Basava's, admirably brings out the 'protestant' element of Vīraśaivam. The Vacana is as follows :

"The rich
will make temples for Śiva.
What shall I
a poor man
do?
My legs are pillars
the body the shrine,
the head a cupola
of gold.
Listen, O Lord of the meeting rivers,
things standing shall fall,
but the moving ever shall stay."

Basavaṇṇa - 820

So, "What's made will crumble, what's standing will fall, but what is, the living, moving Jaṅgama, is immortal."

In this context the Śaiva Siddhānta will naturally be reminded of the deathless words of Tirumoolar (a Periya *Purāṇa* Nāyanār), hailed as the Prince of Śaiva Adepts (Siddhapuru; as). Tirumoolar says :

"Patamaatak koyil Bhagavarku ondru eeyil
Natamaatak koyil Namparkku angku aakaa;
Natamaatak koyil Namparkku ondru eeyil,
Patamaatak koyil Bhagavarku athu aame."

"That which is offered (only) to the deity in the temple will be of no avail to the devotees—the mobile temples; That which is offered to the devotees—the mobile temples—, Equally avails for the deity enshrined in the temple."

Again it was St. Thirumoolar who was the first to affirm that a Jangama is himself a temple.

"Ullam perungkoyil oonudampu aalayam;
Vallall piraanaarkku Vaai gopura vaasal;
Thelli-th-thelivaarkku-c-Ceevan Civalingam;
Kallappulan ainthum kaalaa mani vilakke."
"Soul is the temple grand, the body of flesh a temple;
Mouth is the Tower-entrance for the munificent Lord;
To those who are poised in utter clarity, the jiva is Śivaliṅgam;
The five deceptive sense-organs are the blazing cressets."

St. Tirunaavukkarasan also known as Vāgisa says: "Kaayame koyil..." (The body is the shrine).

The *Periya Purāṇam* is a recordation of the lives and mystic experiences of the servitors of Śiva. These hailed from the various rungs of the society. Almost all castes are represented in the *Periya Purāṇam* which is only a rich amplification of St. Sundarar's *Tiru-th-Thonda-th-Thokai*. This Thokai is a (theopneust) catalogue of the aintly servitors of Śiva. Of the sixty three-named-saints, thirteen are Brahmins, six are (sceptred) Kṣatriyas, five are petty princes, five are of the mercantile clan, thirteen are Vellālas, two are neatherds, one a potter, one a minstrel, one a piscator, one a hunter, one a tree-trapper, one a weaver, one an Ādi-Draviḍa, one a fuller and one an oil-monger.

The Anubhava Manṭapa—truly a Karnataka counterpart of the Devāsiviyan of Thiruvāroor—, comprised

Jeḍar Dāsimayya, a weaver,
Śankara Dāsimayya, a tailor,
Maḍivāḷa Maccideva, a washerman,
Medār Ketayya, a basket-maker,
Ambigara Cauḍayya, a ferryman,
Haḍapada Appaṇṇa, a barber,
Ḍakkeya Bommaṇṇa, a drummer,
Tirugāhi Rāmaṇṇa, a neatherd,
Sungada Bankaṇṇa, a tax-collector,
Kinnari Bommayya, a goldsmith,
Okkalu Muddayya, a farmer,
Jodhara Mādaṇṇa, a soldier,
Ḍohara Kakkayya, a tanner,
Mādara Cannayya, a cobler,
Taḷavara Kāmideva, a village menial,
Gāṇada Kaṇṇappa, an oil-miller,
Vaidhya Sangaṇṇa, a physician,
Kirata Sangayya, a hunter,
Nūliya Caudayya, a grass-rope-maker,
Sujikāyakada Rāmitanda, a linen-draper,
Malahara Kāyakada Cikkadevayya, a dealer and mender of second-hand articles,
Bācikāyakada Basavappa, a carpenter,
Sattigekāyakada Ammidevayya, a mirror-manufacturer,
Kadirakāyakada Remmavve, a spinner,
Kottanada Mārayya who lived by gleaning rice-grains dropped in the fields, and others.

The beḍagina Vacanas of Allama Prabhu which read like conundrums are comparable to the Sūnya-sambhāśaṇa verses of St. Tirumoolar. The soul-uplifting verses of Akka Mahadevi who, as Prof. A.K.Rananujan says, "died into oneness with Śiva" when she was hardly in her twenties, remind one, of Kaaraikkaal Ammaiyaar's hymns which she sang when she was in her teens. Basavaṇṇa refers to the *Periya Purāṇa* Nāyanmār in his Vacanas. In one of his verses, his prayer is couched thus:

"I desire but to pray
that I may reach in time
the feet of your devotees
O Lord, Kūḍala Sangama."

-Translation by Prof. K.R.Srinivasa Iyengar.

Similar indeed is the prayer of St. Sundarar to the Lord of Tiruvaaroor "Oh for the day when I will become the servitor of servitors!" St. Appar calls this the beatitude of becoming a servitor of servitors (Thondarkku-th-thondaraam punniyam).

Every writer on Vīraśaivam dutifully dwells on the nexus that binds the Vīraśaivas with the Nāyanmār of the *Periya Purāṇam*. The Kannada version of the *Periya Purāṇam* appeared in 1200 A.D. An inscription of the year 1260 A.D., made by Hala Basava Deva, discovered at Arjunvāḍa in Belgaum District reads thus:

1. I, Hala Basava Deva, am an adorer of the lotus-feet of the sixty-three saints;
2. My ancestor Basava who caused the Vīraśaiva religion to shine in splendour, was also a worshipper of these saints."

From the work: "*Musings of Basava*" (by S.S. Basavanal and K.R.Srinivasa Iyengar-1940), we come to know that Basava derived some principles from ancient Saivism and Tamil Śaiva Siddhānta.

S.C.Nandimath affirms as follows: "It serms that the Vacana writers, the apostless of post-Basavan Vīraśaivism hardly saw any differences between their creed and that of the Tamil Śaiva Saints of the pre-Meykandan period. Indeed the Vīraśaiva saints claimed the Tamilians as their own, and the Kannada Vīraśaiva literature teems with the accounts of the Tamil Saiva Saints. The *Basava-Purāṇa* devotes its major portion to the accounts of the Tamil saints who must have influenced the Kannada Vacana-writers imrnensely, for, in the vacanas, the influence and imitation of the songs of Tirugnanasambandhar and Manikkavachakar can be traced. The intense bhakti to Śiva, the central point in both groups, bridged such differences as there were." (*A Hand Book of Vīraśaivism*, second edition- 1942, pages 7-8).

S.C. Nandimath at pages 56-57 of the above book says : "We have no authentic books on Vīra Śaivism written before the 12th century, which would have helped us to ascertain its exact relation to the other Śaiva schools before that date, but after that century, when the revival took

place, the sixty-three canonical Śaiva Saints, whom the Śaiva Siddhānta considers to be its apostles, were raised to the position of purātanas, the ancient ones, the pillars of Vīraśaivism as well. There is ample reference to these sixty-three Śaiva Saints in the Vacanas of Basava and his colleagues (1160 A.D.)".

The author adds with grace as follows :

"Many passages from the Vacana-śāstra contain not only the ideas found in the Tiruvachakam of Manikkavacilakar and other Śaiva Saints, but are also couched in similar words so as to suggest borrowing."

According to A.K.Ramanujan, the Vacanakaras "travelled within and across regions, claimed kindred saints of other regions in their geneological tree of gurus. Thus the Vīraśaiva saints named the 63 Tamil Saints among their forebears." (*Speaking of Siva*, p.39).

Velcheru Narayana Rao says: "Any study of the *Basava Purāṇa* inevitably invites comparison with the Tamil *Periya Purāṇam...*" Palkuriki Somanātha was a polyglot. It is said that he knew Tamil well enough to compose poetry in that language. It is also seen from his *Vṛṣādhipa śatakamu* and *Panḍitāraadhya caritra*, that he used words from several languages—Sanskrit, Telugu, Kannada, Tamil, Marathi—in the same text. It therefore sounds reasonable to assert that Somanātha was familiar with the Tamil *Periya Purāṇam*. At the same time, it should also be observed that the stories of bhaktas were part of the oral tradition.

The basic features that constitute the narratives of the *Basava Purāṇam* and the *Periya Purāṇam* are not dissimilar. St. Sekkizhar wrote about the Śaiva heroes who flourished during various periods. He followed St. Sundarar's version which was slightly amplified by Nambi Āndār Nambi. St. Sundarar flourished towards the end of the seventh century or at the beginning of the eighth century. Of the sixty-three saints glorified by the *Periya Purāṇam*, sixty one belonged to Tamil Nadu. So, it is the Tamil version of the lives of Nāyanmār which is more authentic than any other version.

When I went through the Kannada Vacanas, of course in English translation, I was the recipient of frequent jolts. I thought that uninformed devotion led to errors, mistakes and even blunders. For instance, *Srī Tattva Nidi* by Sri Raja Sri Krishna Raja Maharaja, the eighteenth century ruler of Mysore, a work in many respects wonderful, is wholly undependable so far as its descriptions of the *Periya Purāṇa* saints, are concerned. The few grains of facts which can be gleaned even here, lie buried under bushels of misinformation.

Srī Tattva Nidi describes St. Appar who hailed from an agrarian caste, as a potter. It describes Nilakanṭar the potter, as a Brahmin. The three thousand Tillai Brahmins (Tillai Moovāyiravar) become one single person who bears the name Trisahasra Bhoosura. Kungkuliya Kalaya Nāyanār who served Śiva by burning incense in His shrine, becomes Kalā Nātha; his thurible becomes a mace. Punitavati becomes Bhootavati. Is this because Punitavati eventually became a sacred ghost, by the grace of Siva? Anyway, pey (ghost) is not the same as bhootam. She is described as a Vaisya-virgin. Nila Nakkar—the Brahmin—becomes Nila Nākan the Sūdra. Yeyarkone Kalikkāmar becomes Kalikkāma the panjama. Narasingka Munaiaraiyar becomes a dancing tiger (Niruttha Sārdoola). Perhaps, by this name, Kotpuli Nāyanār is meant. The Cera King Ceramaan Perumaan becomes Cera Bhoopati. Kootruva Nāyanār who is not a chola monarch, become parāntaka chola. Ati Patthar—a piscatio—, is described as a Brahmin. Ai Atkikall, the Pallava King becomes a cowherd. As the Sanskrit equivalent of Ai Atikall is Panchapaada, the editor of the work adds in brackets, that the servitor was endowed with broad legs. The mother of St. Sundarar viz., Isai gnāni, becomes a man called Gītānanda. This transfemination can result in endless tohu-bohu. To complete the picture, the Maharaja makes Gītānanda carry with him a Vīṇa.

Why should Vīraśaivam which pays high respect to the Tamil Śaiva Saints present to its devotees a deflected hagiography? The reason is not far to seek. The similarity of themes between the *Periya Purāṇam* and the *Basava Purāṇam* notwithstanding, a telling difference creates between them a hiatus. The *Basava Purāṇam* is anti-Brahmin. The *Periya Purāṇam* is not at all so. On the contrary it pays great respect to the Brahmins. Again the *Basava Purāṇam* is oriented toward the left hand castes. The *Periya Purāṇam* is not so. The author of the *Periya Purāṇam*, namely St. Sekkizhyār, was himself from a landowner caste. The *Periya Purāṇam* describes the lives of saints who belonged to the agrarian claṇ. According to the *Basava Purāṇam* a devotee cannot be a devotee if he is from the agrarian clan. The *Basava Purāṇam* does not speak of the life of any agrarian-clan servitor.

Even though the *Basava Purāṇam* is pronouncedly anti-Brahmin, it is not anti-Vedic. Somanātha accepted and respected the Vedas, the Purāṇas and the Śāstras. He takes care to affirm, time and time again, that he is well versed in the four Vedas. Not only that. He asseverates, not infrequently, that Virasaivism is in complete accord with the Vedas and the Śāstras. However, he took care, not to extend the respect paid to the Vedas, to their chanters and practitioners, namely, the Brahmins.

The *Basava Purāṇam* has chosen its bhaktas not from those who live from the land, but from those that live by trade and craftsmanship. The bhaktas of the *Basava Purāṇam* were recruited from the left-hand castes-artisans, merchants, fullers, potters, tanners and the like. Again as Velcheru Narayana Rao observes!"...

They come from such socially marginal groups as burglars, hunters, prostitutes and pimps. There is not one story related to landed peasants or their low-caste maala (untouchable) farm-hands. As a religious text of the left-handed castes, then, the *Basava Purāṇa* carries a good bit of ideological baggage."

The *Periya Purāṇam* does not suffer from such restriction or constriction. It is a recordation of events as they happened. It is a hagiography, absolutely true and unassailable. The life of a devotee is fundamentally different from the lives of others. William Law says: "Devotion signifies a life given, or devoted to God. He, therefore, is the devout man, who lives no longer to his own will, or the way and spirit of the world, but to the sole will of God; who considers God in everything, who serves God in everything, who makes all the parts of his common life parts of piety, by doing everything in the name of God, and under such rules as are conformable to glory." The life of a devotee, it can be learnt from the *Periya Purāṇam*, is a visible exercise and demonstration of his love for God and His devotees.

Here too, the *Basava Purāṇam* differs from the *Periya Purāṇam*. The *Basava Purāṇam* bears eloquent testimony to the superiority of the bhaktas called jangamas who are not lay people. These jangamas are deemed superior to Śiva Himself. What is more, these are impeccable and therefore above law. Narayana Rao says: "Among the Vows Basava takes, according to the *Basava Purāṇa*, are "a vow not to punish the wrongs of the devotees... a vow never to let Śiva win, not even in a dream; a vow always to give victory to the devotees... a vow never to disagree with Hara's devotees."

The *Basava Purāṇam* hails Tirugnānasambandhar as Pilla Nāyanāru, Amar Niti as Iruvadāndāri, Sirutthondar as Siriyāla, Tiruvennukāttu Nangkai as Sangalavva, Santana as Candananga, Narasingka Munairaraiyar as Narasinga Naayanaaru, Tirunilakantha Pānan by that very name, Yilayānkudi Māra Nāyānār as Yelayadanguli Maara, Yenātinātha Nāyanār as Enādhinatha, Meipporull as Cediraju, Appar as Vāgisa Nāyanāru, Ceramān Perumān as Cerama, Somasi mārar as Somāsi Māra, Viranindar as Miruminda Nāyanāru, Nambi Aaroorar as Odaya Nambi, Yeyarkone Kalikkāmar as Kalikāmadeva,

Moorti Nāyanār as Enumurti Nāyanāru, Kanampullar as Kadamala Nambi, Kungkuliya Kalaya Nāyanār as Guggulu Kaliyāru, Arivāll Thāyar as Arivālu Nāyanāru, Adi Patthar as Adobharta, Pukazhchozhar as Karayuri Coda, Kalikkambar as Kaliyamba Nāyanāru, Tirunilakantha the potter as Kummara Gunḍayya, Poosalār as Poosala Nāyanāru, Kādavar kone as Vikrama Coda and so and so forth.

The twelfth sūtra of the *Śivajñāna Bhoodam* says: "Adore the habit (vetam) of all śaivas brimming with love". I am a Śaiva Siddhāntin. I offer my humble obeisance to all the Śaivas assembled here.



सिद्धान्तशिखामणि की षट्स्थलसाधना और 'खेचर विसा' कृत 'शड्डुस्छलि'

– प्रा. सौ. श्यामा घोणसे –

प्रस्तावना

वीरशैव दर्शन की प्राचीनता, वेदानुगामिता तथा समन्वयशीलता प्रस्तुत करने वाला 'सिद्धान्तशिखामणि' वीरशैवों का प्रमुख साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, जिसमें प्रधानतया षट्स्थल सिद्धान्त की ही व्याख्या की गयी है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैले हुए वीरशैव सप्रम्दाय का मूलाधार अथवा सभी भारतीय भाषाओं के वीरशैव साहित्य का प्रेरक यह धर्मग्रन्थ साम्प्रदायिक स्तर पर तथा वीरशैव अध्येताओं में भी बहुचर्चित रहा। संस्कृत के साथ-साथ मराठी, कन्नड़, तेलुगू, हिंदी आदि भाषाओं में भी सिद्धान्तशिखामणि पर आलोचना ग्रन्थ लिखे गये।

वीरशैवों में यह ग्रन्थ जितना सर्वमान्य, सर्वज्ञात है, उतना ही उपेक्षित, अलक्षित ग्रन्थ है 'खेचर विसा' कृत 'शड्डुस्छलि' जो यादवकालीन मराठी ग्रन्थ है। वीरशैव दर्शन का मराठी भाषा में सर्वप्रथम विवरण करनेवाला 'शड्डुस्छलि' वीरशैवों का आदि ग्रन्थ है और 'खेचर विसा' उनके आदि ग्रन्थकार हैं। लेकिन ग्रन्थ के शीर्षक से लेकर ग्रन्थ की समाप्ति तक वीरशैव दर्शन के सारसर्वस्व षट्स्थल सिद्धान्त का विवरण करने वाला यह ग्रन्थ और ग्रन्थकार दोनों अलक्षित ही रहे। इस ग्रन्थ में कई प्रक्षेप हुए उसके कुछ अंश गायब होते रहे। अन्ततोगत्वा वह किसी दूसरी परम्परा या शाखा में ही समाविष्ट हुआ, अथवा संग्रहित किया गया। परंतु किसी अन्य कारणवश वह फिर से सामने आया। उस पर चर्चा भी हुई, जिसमें मूल ग्रन्थान्तर्गत दर्शन को नजरअंदाज किया गया था। आज उस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य को समझ लेने पर, तत्कालीन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक संदर्भ स्पष्ट हो जाते हैं तथा अपनी परंपरा की अनमोल धरोहर से वंचित होने का अहसास तीव्रता से होता है। अतः सिद्धान्तशिखामणि के षट्स्थल दर्शन के संदर्भ में यहाँ खेचर विसा द्वारा प्रतिपादित षट्स्थल दर्शन की चर्चा करना युक्तिसंगत होगा।

'सिद्धान्तशिखामणि' का स्वरूप, ग्रन्थकार, उसमें प्रतिपादित दर्शन, ग्रन्थनिर्माण का कालखंड इत्यादि पर ऊहापोह करने के लिए इस कार्यशाला का आयोजन किया गया है। इस ग्रन्थ को लेकर अधिकारपूर्वक मताभिव्यक्ति करने वाले अनुभवसंपन्न ज्ञानोपासक यहाँ उपस्थित हैं। ऐसी हालत में मुझ जैसी सभी दृष्टियों से अदना-से व्यक्ति द्वारा

'सिद्धान्तशिखामणि' को लेकर कुछ कहा जाना साहसिक कर्म होगा। अत: इस ग्रन्थ की यथावकाश सहायता लेते हुए मैं अधिकतर 'शडुस्छलि' को लेकर ही अपना मत अभिव्यक्त करना चाहती हूँ। दूसरी बात यह है कि यादवकालीन इस ग्रन्थ के बारे में आज भी अध्येताओं-साम्प्रदायिकों को अधिक जानकारी नहीं है। अत: 'शडुस्छलि' की उपलब्धि, उसका स्वरूप, ग्रन्थकार की वीरशैव सम्बद्धता इत्यादि पर संक्षेप में विचार करते हुए इस ग्रन्थ का सिद्धान्तशिखामणि से विशेषकर उसके षट्स्थल और अन्य वीरशैव-दार्शनिक सिद्धान्तों से जो रिश्ता है, उसको लेकर अधिकतर चर्चा की गई है और अंतत: अध्ययन के उपरान्त प्राप्त निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया है।

आरम्भ में ही एक बात खासकर दर्ज करना आवश्यक है कि यद्यपि वीरशैव सम्प्रदाय के कुछ आचारतत्त्व अथवा सिद्धान्तशिखामणि का आधार कायम था, तथापि यह सम्प्रदाय जिस प्रदेश में पहुँचा, वहाँ की वृत्तियों-प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ परिवर्तनों को स्वीकारना अपरिहार्य था। शायद इसी कारणवश कर्नाटक में पाया जाने वाला उसका वीर रूप महाराष्ट्र में समन्वयशील बना होगा। अत: इस प्रपत्र में महाराष्ट्र के वीरशैव साम्प्रदायिकों की पृथकता (अलहदगी) प्रस्तुत करना उचित होगा। प्रत्युत ऐसा करने से ही विवेच्य विषय के साथ उचित न्याय किया जाएगा।

सिद्धान्तशिखामणि का प्रभाव

केवल महाराष्ट्र तक इस सम्प्रदाय पर विचार किया जाए, तो ऐसा महसूस होता है कि महाराष्ट्र मूलतया (स्वभावतया) समन्वयशील है। भक्तिसाधना प्राचीन मराठी साहित्य की प्रमुख प्रेरणा है। आत्मरूप से अभिन्न (स्वरूप से अभिन्न) सभी साधक उस विश्वात्मा (चराचर में व्याप्त ईश्वर) के ही अंश हैं, इस बात की आत्मानुभूति यहाँ परिणामकारक साबित हुयी है। अत: दक्षिण की तरह उपास्यभेद से उद्भूत संघर्ष महाराष्ट्र की मिट्टी में दिखायी नहीं देता, बल्कि 'हरिहर आले खेवां' अर्थात् शिव और विष्णु दोनों के एक साथ सम्मीलित होने का अभूतपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर होता है। मराठी के अन्य सम्प्रदायों की तरह (मराठी के) वीरशैव साम्प्रदायिक साहित्य ने भी उदार, सर्वसमावेशक दृष्टिकोण के दर्शन कराए हैं।

लंबे अरसे से महाराष्ट्र से (सुदीर्घ काल तक) स्नेहबंधन/मित्रता (ऋणानुबन्ध) रखनेवाले वीरशैवों ने अपने साम्प्रदायिक आचार-विचारों से अपने धर्मबान्धवों को परिचित कराते हुए ओवी-अभंग जैसे पारम्परिक मराठी छंदों का ही आधार लिया हैं। इसके पीछे मराठी-मिट्टी में अपने सम्प्रदाय को (सम्प्रदाय की नींव को) दृढ बनाने तथा अपने सम्प्रदाय की समन्वयशीलता के दर्शन कराने का इरादा था ही। हजारों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा रखने वाले वीरशैव मठ बताते हैं कि यादव पूर्व काल से ही यह सम्प्रदाय मराठी जनमानस में

समाहित था। वीरभद्र, श्रीपलसिद्ध, सिद्धरामेश्वरादि वीरशैव सत्पुरुषों के प्रति आदर दर्शानेवाला वीरशैवेतर समाज आज भी महाराष्ट्र में दिखाई देता है। इस दर्शन की वजह से ज्ञानेश्वरादि अध्वर्यु अभिभूत हुए थे। इसके प्रमाण उनके ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। नाथसम्प्रदाय तथा उसके प्रमुख व्यक्तियों के वीरशैव सम्प्रदाय से निकट सम्बन्ध होने वाली बात की स्वीकृति कई अध्येता देते हैं। डॉ. अशोक कामत जैसे हिंदी-मराठी के गहरे अध्येता अपना अध्ययनपूर्ण मत व्यक्त करते हैं, "अल्लम प्रभु के अलौकिक व्यक्तित्व की प्रतीति मिलने के कारण महाराष्ट्र की गारेक्ष परंपरा में अल्लम प्रभु के शिवागमयुक्त 'षट्स्थल' दर्शन को आत्मीयतापूर्वक स्वीकारा गया। इसी के फलस्वरूप संत नामदेव की हिंदी-मराठी 'अभंगवाणी' तथा गुरु नानकदेव की 'मुखबानी' में वीरशैव परिभाषा दिखायी देती हैं। (प्राप्त होती हैं।)"[१] ऐसा होने के बावजूद मन्मथपूर्व काल में यह सम्प्रदाय ह्रासोन्मुख होता हुआ दिखाई देता है। संक्षेप में इसके कुछ कारण इस प्रकार हैं : यद्यपि, महाराष्ट्र की वीरशैव मठ परम्पराएँ निरन्तर जारी थी, तथापि उत्तर कालखंड में ज्ञानी, सक्रिय, निष्ठावान् पंचाचार्य मठाधिपतियों की परंपरा में नैरन्तर्य का अभाव रहा होगा। शायद यहाँ के बाह्याडंबर के प्राबल्य से भी ऐसा घटित हुआ होगा। इसके ठीक विपरीत वारकरी कीर्तन परम्परा की लोकाभिमुखता, भक्त एकनाथ जी का प्रभावपूर्ण नेतृत्व (मार्गदर्शन), पड़ोसी से भाईचारे के व्यवहार से उद्भुत अनुकरणप्रियता, धर्मसंस्था की उदासीनता के फलस्वरूप साम्प्रदायिक दर्शन के बारे में धर्मबांधवों का अज्ञान आदि के संकलित परिणामस्वरूप वीरशैवों के मन में वारकरी सम्प्रदाय विषय के आकर्षण निरंतर वृद्धिंगत होता हुआ नजर आता है। इस दृष्टि से मूलरूप में वीरशैव परंतु सद्यः ह.भ.प. परंपरा में समाविष्ट 'वासकर' या 'औसेकर' फड उल्लेखनीय हो सकते हैं। कल्याणक्रांति की वजह से तितर-बितर हुए शिवशरण, प्रभावपूर्ण नेतृत्व का अभाव, अज्ञान तथा भाषाभेद के कारण संस्कृत व कन्नड़ के वीरशैव साहित्यविषयक उत्पन्न दूरी (परायापन) आदि के फलस्वरूप उक्त कठिन कालखंड में कर्नाटक से भी कुछ प्रेरणास्त्रोत प्राप्त होना मुश्किल बन गया होगा। इस दर्शन की मराठी में व्याख्या (विवरण) करने वाला आदिग्रन्थ 'शडुस्छलि' कुछ अज्ञात घटनाओं के कारण विस्मृति की गर्त में चला गया होगा। शिक्षा का अभाव, अपने ही ग्रन्थों के बारे में उपेक्षा का भाव आदि कारणों से सदाचार का महत्त्व प्रस्तुत करने वाला यह दर्शन, लिंगधारण के अतिरिक्त अन्य आचारविषयक ब्यौरे (विवरण) के भी नष्ट होने का खतरा पैदा हो गया था।

इस प्रतिकूलता पर विजय पाने के लिए द्रष्टा वीरशैव संतों ने अमृतमयी मराठी का सहारा लिया। वारकरी कीर्तनपद्धति की शैली (ढंग) पर खास (विशुद्ध) वीरशैवीय बनावट

---

१. कामत डॉ.अ.प्र., 'संत नामदेव : जीवनी आणि हिन्दी काव्य यांचा पुनर्विचार', टंकलिखित प्रबन्ध, पुणे विद्यापीठ, १९७८, पृ. ७८

(गठन) की शिवसाम्प्रदायिक कीर्तन परंपरा तथा शिवपाठों का निर्माण हुआ। 'वचनों' की अपेक्षा 'अभंगों' को अधिक निकट का मानते हुए भारूडादि लोक रचनाओं को छूते हुए (स्पर्श करते हुए) अपनाते हुए), मराठी संस्कृति से अपना रिश्ता दृढ किया। 'ओवी' का प्रयोग करते हुए स्वतंत्र ग्रन्थों, आलोचना ग्रन्थों, अनुवाद ग्रन्थों, चरित्र ग्रन्थों का निर्माण किया। इतने बड़े पैमाने पर ग्रन्थनिर्माण का कार्य करने वाला यह सम्प्रदाय मराठी का एकमात्र सम्प्रदाय होगा। ऐसा करते समय इन संतों और भक्तों ने महाराष्ट्र के लिए प्रिय अद्वैत दर्शन का भी विवेचन किया। एकेश्वरवाद के अपने सारभूत तत्त्व को ज्यों का त्यों रखते हुए विट्ठल विषयक आदरभाव व्यक्त किया। धर्मजागृति करते समय दुराग्रह, असहिष्णुता या दकियानूसी विचारों की अपेक्षा समन्वय पर ही अधिक बल दिया। महात्मा बसवेश्वर के प्रति आदरभाव व्यक्त करने के बावजूद उनका अनुयायी बनना मराठी वीरशैवों के लिए संभव नहीं हुआ। मराठी के संतों और भक्तों की तरह ईश्वर के दरबार की समता को ही उन्होंने स्वीकारा, अपनाया।

इतना होते हुए भी अखिल भारतीय वीरशैव सम्प्रदाय को मराठी की वीरशैव परम्परा के विशिष्ट स्थान को स्वीकारना ही पड़ता है। इसका प्रमुख कारण यही है कि मराठी के संपूर्ण वीरशैव साहित्य के मूल में 'सिद्धान्तशिखामणि' की ही मूलभूत प्रेरणा हैं। जाहिर है कि मराठी के वीरशैव साहित्य में अभिव्यक्त समन्वयवाद 'क्रियासार' ग्रन्थ में श्री नीलकण्ठ शिवाचार्य द्वारा प्रस्तुत "विरोधरहितं शैवं वीरशैवं विदुर्बुधा:" (अर्थात् जो विरोधरहित है वह वीरशैव हैं) इस वीरशैव शब्द की व्युत्पत्ति का ही साकार (प्रकट) रूप प्रतीत होता हैं। अपने पूर्वसूरियों से चार कदम आगे चलने वाले रेणुकाचार्य मानते हैं कि किसी भी धर्म, प्राणी (आदि) का द्वेष न करते हुए वैरभावरहित होकर, उदात्त भावना से, सबसे मिल जुलकर प्रेमपूर्ण व्यवहार करके शिवजीवैक्यबोधक विद्या में सदैव रममाण होने वाला शिवभक्त ही वीरशैव कहलाता है। उसी प्रकार "सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते। निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ।।" (सि. शि. ५.१४) कहते हुए वीरशैवों की द्वैताद्वैत समन्वय की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं। उसे समझ लेने पर मराठी के वीरशैव साहित्यकारों और धर्मबांधवों की समन्वयात्मक प्रवृत्तिका रहस्य स्पष्ट होता है; क्योंकि आज भी महाराष्ट्र के वीरशैवों पर पंचाचार्य-परंपरा तथा सिद्धान्तशिखामणि का ही प्रभाव है।

गहन अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि परमरहस्यादि मराठी के वीरशैव-आचार ग्रन्थों, वीरशैव संतों के अभंगों तथा सांप्रदायिक लोकाचार के लिए सिद्धान्तशिखामणि का ही आधार प्राप्त हैं। ऐसा दिखाई देता हैं कि मराठी के अधिकांश वीरशैव ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में अद्वैत दर्शन का भी विवरण दिया है। इसके कारण मीमांसा करने पर ज्ञात होता है कि इन सभी का जड वैदिकता मानने वाले सिद्धान्तशिखामणि के ही मूलाधार में हैं। वीरशैव सम्प्रदाय को वैदिक मानने पर कदाचित् कुछ आलोचक आक्षेप उठा सकते हैं।

परन्तु अधिक सूक्ष्मता से गहराई से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि वीरशैव दर्शन पर सर्वाधिक विचार चिन्तन कर्नाटक में हुआ, तथापि कन्नड़ दार्शनिक और साहित्यकारों के प्रतिपादन का एकांगी दृष्टिकोण से विचार किया जाने की वजह से इसके अधिकांश अध्येताओं ने वीरशैव मत को अवैदिक माना। वस्तुत: यह ग्रन्थ आगम परंपरा का है। यह तो सर्वश्रुत और सर्वमान्य है कि शिवोपदिष्ट कामिक या वातुलादि अट्ठाईस आगमों उत्तरार्ध में अर्थात् क्रिया-चर्या-पाद तथा योग इनमें वीरशैवों के अष्टावरण-पंचाचार-षट्स्थल का विवेचन पाया जाता है। इसके अलावा ग्रन्थान्तर्गत श्लोकों के आधार पर बताया जा सकता है कि ग्रन्थकर्ता शिवाचार्य शिवयोगी जी ने 'शक्तिविशिष्ट सिद्धान्त वेदमार्ग का अनुसरण करने वाला है', इसका निरन्तर विश्वास दिलाया है। "मम प्रतापमतुलं मद्भक्तानां विशेषत:। प्रकाशय महीभागे वेदमार्गानुसरत:" (सि. शि. ३.८७) अर्थात् अपनी भक्ति का प्रसार वेदमार्ग के अनुकूल करने की आज्ञा शिवजी रेणुकाचार्य को देते हैं। इसी कारण 'वेदधर्माभिधायित्वात् सिद्धान्ताख्य: शिवागम:। वेदबाह्यविरोधित्वात् वेदसम्मत उच्यते।।" (सि. शि. ५.१२) अर्थात् स्पष्ट है कि संपूर्ण ग्रन्थ में यही श्रद्धा या विश्वास ओत प्रोत है कि वीरशैव सिद्धान्त दर्शन ने वेदविरोधी मतों का साधार खंडन किया हैं। वीरशैव दर्शन का प्राप्त इस वेदसंमति के कारण ही महाराष्ट्र के लिए यह सम्प्रदाय पराया महसूस नहीं होगा (अपना महसूस हुआ होगा)।

उक्त पृष्ठभूमि को लेकर 'शडुस्छलि' और 'सिद्धान्तशिखामणि' के कुछ अनुबंधों को खोजना इस शोध-प्रपत्र का प्रमुख उद्देश्य है। अत: इसके पश्चात् 'शडुस्छलि' का महत्त्व, उसकी प्राप्ति, ग्रन्थस्वरूप इत्यादि का विचार करेंगे।

'शडुस्छलि' की प्राप्ति तथा उसका महत्त्व

महाराष्ट्र के ख्यातकीर्ति शोधकर्ता डॉ. रा. चिं. ढेरे ने फरवरी १९७५ में 'षट्स्थल : एक अध्ययन' शीर्षक शोध-प्रबंध पुणे विद्यापीठ में प्रस्तुत किया। उसके परिशिष्ट में 'खेचर विसा' कृत 'शडुस्छलि' उर्फ/अथवा 'षट्स्थल' नामक यादवकालीन ग्रन्थ समाविष्ट किया गया था। डॉ. रा. चिं. ढेरे द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार ३० अगस्त, १९६९ के दिन पुणे के, दुर्लभ/दुष्प्राप्य/अलभ्य सन्दर्भ सामग्री के विक्रेता श्री. पारखीशास्त्री जी के यहाँ होने वाले, श्री ज्ञानेश्वर जी तथा नाथसम्प्रदाय से किसी-न-किसी प्रकार से संबद्ध पूर्णापूर्ण (पूरे तथा अधूरे) पोथों व पांडुलिपियों के गट्ठर में यह ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह गट्ठर श्री सोपानदेव समाधि-मंदिर के कागजातों में था।"[१] डॉ. रा.चिं.ढेरे ने विद्यापीठ की स्वीकृति प्राप्त अपना यह प्रबंध 'शडुस्छलि' को उसमें से हटाते हुए सन् १९७७ में छापा। इस ग्रन्थ की गुरुपरंपरा के आधार पर 'हरिनाथ ही चक्रधर हैं' इस प्रकार का अन्वयार्थ डॉ. रा.चिं.ढेरे

१. ढेरे डॉ.रा.चिं., 'गुरुमाऊली', इंद्रायणी प्रकाशन, पुणे, १९८९, पृ. १७२-१७३

ने निकाला। परिणामतया यह ग्रन्थ ही विवाद्य साबित होने के कारण इस सिद्धान्त के खिलाफ तीव्र आक्षेप उठाए गए। उसके लिए स्वतंत्र ग्रन्थ-निर्माण भी हुआ। महाराष्ट्र के धार्मिक, साहित्यिक तथा वैचारिक क्षेत्र में काफी वाद-विवाद और कुछ विचार मंथन होने के पश्चात् 'गुरुमाऊली' नामक दीपावली विशेषाङ्क में १९८९ में डॉ. रा. चिं.ढेरे ने इस ग्रन्थ को छापा। इसी से यह ग्रन्थ सभी के लिए सुलभ हो गया।

ग्रन्थ के शीर्षक से लेकर वीरशैव दर्शन के सारसर्वस्व षट्स्थल सिद्धान्त का विवरण/व्याख्या करने वाला यह ग्रन्थ यद्यपि डॉ. रा.चिं.ढेरे के सिद्धान्त से काफी मशहूर हुआ, तथापि उसमें प्रतिपादित दार्शनिक विचारों की ओर डॉ. ढेरे समेत सभी अध्येताओं ने उचित ध्यान नहीं दिया। (नजरअंदाज किया गया)। साम्प्रदायिक धरातल पर भी उसकी ओर उपेक्षा से ही देखा गया। (उपेक्षा बरती गई।) डॉ. चन्द्रशेखर कपाले के शोधनिबंध के अपवाद को छोड़कर वीरशैव-अध्येता भी उसकी ओर ध्यान नहीं दे सके। 'शडुस्छलि' को प्रामाणिक मानते हुए उस पर सांगोपाङ्ग विचार करने पर कई नवीन मुद्दे उपस्थित होते हैं। इस ग्रन्थ की प्राप्ति के कारण "यद्यपि वीरशैव-विचारों का संपर्क यादवकाल से दिखाया जा सकता है, तथापि वीरशैवों के मराठी साहित्य का इतिहास शांतलिंग स्वामी से आरंभ करना पड़ता हैं"[१]। इस आज तक स्वीकृत गृहीत तत्त्व को ही पहला धक्का पहुँचता है। इसी से मराठी के वीरशैव साहित्य निर्माण का काल ३००-३५० वर्ष पीछे चला जाता है और आदि साहित्यनिर्माण का श्रेय एकनाथ कालीन शान्तलिंग-मन्मथ के स्थान पर यादव कालीन खेचर विसा को देना पड़ता है। महाराष्ट्र के समन्वयात्मक स्वभाव के सन्दर्भ में भी कुछ प्रश्न निर्माण होते हैं। गिनी-चुनी तथा त्रुटित अभंग रचना करने वाले खेचर विसा को एक सम्प्रदाय के आद्य ग्रन्थकर्ता के रूप में स्वीकार करना पड़ता है। इसकी गुरु परम्परा का विचार करने पर विसोबा को ज्ञानदेव का शिष्य मान लेना कठिन/मुश्किल लगता है। ग्रन्थान्तर्गत प्रमाण, साम्प्रदायिक श्रद्धा तथा उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा प्रस्तुत दृष्टांतों (उदाहरणों) पर ध्यान देते हुए एक बहुत बड़ी संभावना सूचित की जा सकती है कि नामदेवगुरु श्री विसोबा खेचर का वीरशैवों से अंतरंग सम्बन्ध था ही, इतना ही नहीं वे वीरशैव ही थे। इसके अलावा उत्तरकालीन मन्मथ, रामदास अथवा सत्यात्मज-पंचाक्षरी स्वामी के ग्रन्थों में विशिष्ट वाक्यों/शब्दों की नादमयी पुनरावृत्ति की जो शैली दिखाई देती हैं, उसके भी कुछ चिह्न बीजरूप में शडुस्छलि में प्राप्त होते हैं (दृष्टिगोचर होते हैं)। संक्षेप में यह ग्रन्थ अनेक पहलुओं से महत्त्वपूर्ण महसूस होने के कारण पिछले छः वर्षों में मैंने कई लोगों से संपर्क प्रस्थापित किया। इसमें कुछ अध्येता/ अध्ययन कर्ता थे, तो कुछ उपासक, कुछ आचार्य थे और कुछ वीरशैवेतर भी थे। परन्तु एकमात्र डॉ. रा.चिं.ढेरे के अलावा वीरशैवों के दार्शनिक विचारों का विवरण/व्याख्या करने वाले इस ग्रन्थ को वीरशैव आचार्यों

१. ढेरे डॉ.रा.चिं., 'प्राचीन मराठीच्या नवधारा', मोघे प्रकाशन, कोल्हापुर, १९७२, पृ. ४०

या अध्येताओं में से किसी ने न देखा हो, इसके पीछे कोई खास रहस्य/वजह महसूस होता है। अत: (चलिए) इस ग्रन्थ के स्वरूप को समझ लेते हैं —

'शडुस्छलि' का स्वरूप

इस ग्रन्थ में ६७७ ओवियाँ (मराठी का एक छंद) और तीन धारावाही अध्याय हैं। इस ग्रन्थ के गायब/(लुप्त) अंश और खंडित रचना को देखते हुए इस ग्रन्थ की उल्लिखित ओवी-संख्या को प्रमाण मानना कठिन महसूस होता है।

हा शिवागमीचा आचारू । विरसैव उपदेश विचारू ।।
यैसा याचा निरूता प्रकारू । जागावा देख ।।
(शडु. ४:५०)

अर्थात् इस ओवी में खेचर विसा ने अपने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत शिवागमान्तर्गत षट्स्थल-विचार वीरशैव सम्प्रदाय से संबद्ध/जुड़ा हुआ होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। अन्यत्र भी वे शडुस्छलिज्ञान, शिवयोग, शिवागम आदि विशेषणों से अपने (प्रतिपाद्य)/विषय का उल्लेख करते हैं। षट्स्थल दर्शन/सिद्धान्त का विवरण करने वाले इस ग्रन्थ का 'शडुस्छलि' शीर्षक प्रतिपाद्य बोधक है, जो तेरहवीं शती का मराठी से अपना रिश्ता स्पष्ट करने वाला है। यद्यपि इस ग्रन्थ के आलोचनाग्रन्थ होने के सम्बन्ध में प्रा. नरहर कुरूंदकर तथा डॉ. चन्द्रशेखर कपाले ने चिंतन-मनन किया है, तथापि विभिन्न ग्रन्थों के जोड़ के कारण 'शडुस्छलि' स्वतंत्र ग्रन्थ है या आलोचनाग्रन्थ इसका निर्णय करना कठिन है।

यद्यपि पारंपरिक पद्धति में विसोबा जी ने श्री गणेशवंदना की है, तथापि ये गणेश जी वटेश्वर शिवजी की तरह सर्वांग में विभूति रमाए, पंचमुखी तथा अपने चौबीस हस्तों में/हाथों में विविध आयुध धारण किए हुए हैं।

नमो विघ्नेहरा । मोडि अविद्येचा धारा ।।
घालि अज्ञानासी बाह्येरा । अंधकारू हा ।।
(शडु. १.१)

अर्थात् यह गणेश अज्ञान और अविद्या का नाश करनेवाला है। षट्स्थल के प्रारंभ में दीक्षाविधि से भक्त के मन में बसा हुआ अज्ञान-अविद्या निकाल दी जाती है, ऐसी वीरशैव दर्शन की श्रद्धा है। इस गणेश-स्तुति/गणेश-वंदना से ही विसोबाजी का षट्स्थलसिद्धान्त/दर्शन विषयक सूक्ष्म ज्ञान प्रतीत होता है। बिना स्वानुभूति के षट्स्थल का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है, ऐसा अनेक ओवियों में वे निरंतर कहते हैं। राया विक्रमादित्य की शिवयोगिनी रानी सत्यवती का 'मुक्ताबाई' में रूपान्तरण होने की कथा भी इस ग्रन्थ में संक्षेप में प्रस्तुत है। मुक्ताबाई द्वारा गुरुपरम्परा से गोरक्षनाथ-प्रदत्त षट्स्थल ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख खेचर

कृतज्ञतापूर्वक करते हैं। उसकी नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध गुरुपरम्परा इस प्रकार है— आदिनाथ--- मीननाथ/मत्स्येन्द्रनाथ--- गोरक्षनाथ--- मुक्ताबाई--- चांगावटेश्वर--- कृष्णनाथ (रामकृष्णनाथ) --- खेचर विसा । विरासत में प्राप्त गुरुपरम्परा वीरशैव प्रभाव क्षेत्र बार्शी-औंढ्या नागनाथ में निवास, षट्स्थल स्थिति का स्वानुभव/की स्वानुभूति तथा तत्कालीन परिस्थिति आदि पहलुओं पर विचार करने पर वारकरी सम्प्रदाय से रिश्ता (सम्बन्ध) बताने वाले विसोबा जी ने 'शडुस्छलि' का निर्माण क्यों किया होगा, यह (अपने आप) स्पष्ट होता है।

'शडुस्छलि' की साहित्यिक विशेषताओं के बारे में कुछ कहना कठिन है। इस ग्रन्थ की श्रीयेकनाथार्पणमस्तु' इस समाप्तिमुद्रा को देखते हुए कोई भी इस सम्भावना को स्वीकार नहीं करेगा कि उत्तरकालीन श्री एकनाथ जी को (एकनाथ जी के श्रीचरणों में) तीन सौ-साढ़ेतीन सौ वर्ष पहले ही विसोबा जी अपना ग्रन्थ अर्पण करेंगे। इससे साफ जाहिर होता है कि डॉ. रा. चिं. ढेरे को प्राप्त यह ग्रन्थ, मूल ग्रन्थ की उत्तरकालीन प्रति/नकल होगी। इस बात को समझ लेने पर इस ग्रन्थ की खंडितता, इसमें हुआ भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का जोड़ अथवा ग्रन्थान्तर्गत प्रक्षेप, भ्रष्ट शब्दरूप, ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध और पूर्वार्द्ध के कुछ हिस्सों की यादव काल की अपेक्षा उत्तरकालीन प्रतीत होने वाली भाषा आदि के विषय में कई सवाल खड़े होते हैं। इतना होते हुए भी इसके कुछ साहित्यिक पहलु विशेष महसूस होते हैं। जैसे-इसके गिने-चुने किंतु महत्त्वपूर्ण/स्पष्ट रूपक, खंडित, फिर भी चित्ताकर्षक व्यक्तिचित्र, सूत्रमयी भाषा, अपनी बात का असर पाठकों के मन पर (पाठकों पर) कराने के लिए विशिष्ट शब्दों की/वर्णों की नादमयी पुनरावृत्ति की पद्धति, साढ़ेतीन चरणवाली ओवी का प्रयोग, अभिव्यक्ति/शैली की सहजता आदि के कारण पाठक इस लघुकाय ग्रन्थ में तल्लीन होते हैं/ तन्मय होते हैं। इस ग्रन्थ में स्कन्द(कुमार), नन्दी, वीरभद्र आदि वीरशैव संज्ञाओं के प्रयोग के बावजूद प्रधानतया खेचर विसाकृत षट्स्थल दर्शन का विवेचन ही प्रतीत होता है।

'शडुस्छलि' के षट्स्थल-विसार तथा तदानुषङ्गिक दार्शनिकता

अनुभव रूप (अनुभवजन्य) षट्स्थलशास्त्र में (दर्शन में) जीव की भक्तस्थल से ऐक्यस्थल तक की सम्पूर्ण यात्रा तथा भक्त के भीतर घटित सूक्ष्म आध्यात्मिक परिवर्तनों को स्पष्ट किए जाने की वजह से यह सिद्धान्त किसी भी देश-काल के और किसी भी धर्म के साधक के लिए उपयुक्त है। यही कारण है कि विसोबा जी ने विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किए बिना ही इस सिद्धान्त का विवरण किया है ऐसा दिखाई देता है। ग्रन्थ के शीर्षक से ही वीरशैवों के षट्स्थल सिद्धान्त/दर्शन का विचार आरम्भ करने वाले विसोबा जी ने ग्रन्थ के भीतरी हिस्सों में आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग, जंगमलिंग, प्रसादलिंग तथा महालिंग इन षड्लिंगों का योग के क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत,

विशुद्धि व आज्ञा इन षट्चक्रों से मेल (सम्बन्ध) प्रस्थापित किया है। इसके अलावा यहाँ चक्रस्थान, उस स्थान का लिंग, वहाँ का मुख्य देवता, कमलदल का उपदेवता, अक्षरसंख्या, जपसंख्या आदि का सूक्ष्म वर्णन भी प्रस्तुत है।

इस सम्पूर्ण वर्णन को पढ़ते समय 'सिद्धान्तशिखामणि' के प्राणलिंग स्थलान्तर्गत शिवयोगी समाधि का वर्णन करते हुए, वीरशैवों ने षट्चक्रों की सम्बद्धता षट्स्थल तथा षड्लिंग से कैसे प्रस्थापित की है इसका वर्णन करने वाला विवरण याद हो आता है। अत: ऐसा महसूस होता है/(ऐसा सवाल उभरता है) कि क्या खेचर विसा ने अपने ग्रन्थ के विवेचन के लिए सिद्धान्तशिखामणि का आधार लिया होगा? 'सिद्धान्तशिखामणि' के अन्तर्गत 'शिवजगन्मयस्थलनिरूपणम्' में

शिवतत्त्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते ।
फेनोर्मिबुद्बुदाकारं यथा सिन्धोर्न भिद्यते ।।
(सि. शि. १०.६४)

अर्थात् जिस प्रकार समुद्र के (पानी का) फेन, लहरें, बुलबुले समुद्र से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार शिवतत्त्व से उत्पन्न संसार शिव से भिन्न नहीं है। इसी तरह इस निर्गुण, निराकार, अनाकलनीय आद्य/आदि तत्त्व 'परमशिव' का सगुण साकार रूप 'शंकर' हैं, इसी विश्वास के कारण ही सिद्धान्तशिखामणि में शंकररूप का वर्णन आरंभ में ही है। इस सम्पूर्ण विवेचन का काव्यानुवाद प्रतीत होने वाला वर्णन शडुस्छलि में है। देखिए :

ऐसा पंचमुखी विस्तारू । विस्तारला असे इश्वरू ।।
तोचि तो स्वये संकरू । प्रगटला (असे) ।।
हे सर्वहि वैराट स्वरूप । तुजमध्ये होत जाय तद्रूप ।।
ऐसे तुजें अव्यक्त (निजरूप)। नित्य क(ळे) ।।
(शडु. १२४-१२५)

अर्थात् विसोबा खेचर जी भी विश्व में समाए हुए पंचमुखी ईश्वर को/श्रीशंकर जी को ही प्रणाम करते हैं। यह शिवजी अव्यक्त हैं। लेकिन उनसे निर्माण हुआ विश्व अन्तत: उनमें ही समा जाता है, ऐसा विश्वास खेचर जी इस ओवी से व्यक्त कर रहे हैं। शिवयोगी किसे कहा जाए इसे स्पष्ट करते हुए "सिद्धान्तशिखामणि' के कर्ता कहते हैं —

परब्रह्म महालिङ्गं प्राणो जीव: प्रकीर्तित: ।
तदेकभावमननात् समाधिस्थ: प्रकीर्तित: ।।
(सि.शि.१२.२४)

अर्थात् महालिंग ही परब्रह्म स्वरूप हैं और प्राण ही जीव कहलाते हैं। महालिंग और प्राण अथवा लिंगाङ्गरूप शिव जीव के सामरस्य ऐक्य के चिंतन करनेवाले पुरुष को समाधिनिष्ठ शिवयोगी कहा जाता है। खेचर विसा के मतानुसार —

वेदु संपला ते वेदांत । सीध साधलि ते सीधांत ।।
जेणे पीडि प्रचित होत । ते ज्ञान देखा ।।
वेदांत सीधांत दोन्ही पक्ष । जैसा जीव सीव दोन्ही साक्ष ।।
त्या कारणे सीवज्ञानी देख। सिवयोगि ।।

(शडु. ६५३-६५४)

'सिद्धान्तशिखामणि' के शिवयोगसमाधिस्थलनिरूपण अथवा लिंगनिजस्थलनिरूपण में जो यौगिक परिभाषा प्रस्तुत है, उसी का सविस्तर विवेचन विसोबा जी खेचर ने शडुस्छलि की २९२ से ३१३ तक, ३४१ से ३५६ तक और ३६२ से ३७० तथा ६५६ से ६५९ तक के ओवियों में विशेष रूप से किया है। डॉ. चन्द्रशेखर कपाले ने विसोबा के इस वर्णन के आधार पर शडुस्छलि के षट्स्थल वर्णन का सरसरी तौर पर आलेख तैयार किया है। उसमें स्थल, लिंग, लिंगस्थान, कमलदल, प्रमुख देवता/ इष्ट देवता, चक्र का नाम, वर्ण, जापसंख्या इत्यादि को ब्योरेवार दर्ज किया है। उसी प्रकार "विसोबा जी के प्रतिपादन से षट्स्थल, षट्चक्र तथा षड्लिंग का सुसूत्र आलेख तैयार करना सम्भव है"[१] इस प्रकार उल्लेख भी किया है।

'सिद्धान्तशिखामणि' के शरणस्थल में 'ज्ञानपादोदकस्थल' नामक उपपरिच्छेद में 'सच्चा शिवयोगी किस तरह पहचाना जाए' इसे स्पष्ट करते हुए एक श्लोक प्रस्तुत हुआ है —

नित्यानन्दे निजाकारे विमले परतेजसि ।
विलीनचेतसां पुंसां कुतो विश्वविकल्पना ।।

(सि. शि. १९.२५)

अर्थात् ग्रन्थकार (ग्रन्थकर्ता) यह सवाल खड़ा करता है (प्रश्न उपस्थित करता है) कि नित्यानन्द तथा विनिर्मल निजस्वरूप चिदादित्य में जिसका मन तल्लीन/विलीन/एकाकार हुआ है, ऐसा शिवयोगी संसार का भान कैसे रख सकता है? तो शिवानन्द में मग्न शिवयोगी के बारे में विसोबा जी कहते हैं —

---

१. कपाळे डॉ. चन्द्रशेखर, 'शडुस्छलि ग्रन्थ : तात्त्विक अभ्यास', वीरशैव सन्तसाहित्य अभ्यास ग्रन्थ, वी.सा.सं.मं., सोलापुर, १९९२, पृ. १७२।

ऐसे ते शिवज्ञानी। सिवागमि निर्वाणि ।।
शिवयोगावाचुनि । आणिक नेणतिच ।।
(शडु. ३२७)

इन दोनों ग्रन्थों की तुलना का विषय इतना व्यापक है कि वह स्वतंत्र अध्ययन का विषय हो सकता है। परन्तु इस ग्रन्थ को लेकर ऐसा आक्षेप उठाया जाता है कि, "यद्यपि विसोबा जी ने योगशास्त्र के षट्चक्रों का मेल षट्स्थलों से प्रस्थापित किया है, तथापि यहाँ भी षट्स्थल के भक्त, महेश, प्रसादी, शरण तथा ऐक्य आदि वीरशैव-प्रयुक्त संज्ञाओं का प्रयोग नही किया है। भले ही इष्टलिंग का उल्लेख बीच बीच में हुआ हो, भक्त द्वारा उसके धारण किए जाने का महत्त्व आदि विषय प्रस्तुत नहीं हुए हैं।"[१] इस आक्षेप का निराकरण भी 'सिद्धान्तशिखामणि' के आधार पर किया जा सकता है।

सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने पर स्पष्टतया प्रतीत होता है कि वीरशैवों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट संज्ञाओं का उल्लेख न होने से/किए जाने से इस ग्रन्थ में प्रतिपादित वीरशैवों के दार्शनिक विचारों का महत्त्व कम नहीं होता। इस दृष्टि से प्रतिकूल परिस्थितियों में महाराष्ट्र में अपने सम्प्रदाय को कायम रखने के लिए वीरशैव सन्त कवियों द्वारा की गई अभंगरचना उल्लेखनीय साबित हो सकती है। इन कवियों में षट्स्थलसिद्धान्त, पंचाचार षड्लिंग इत्यादि का उल्लेख तक न करते हुए शिवनाम, अष्टावरण आदि का ही गुणगान/प्रशंसा किया है/की है। क्योंकि शास्त्रीय तत्त्व-चर्चा की अपेक्षा नामस्मरण में तल्लीन होने वाले सामान्य धर्मबांधवों द्वारा ही अपने सम्प्रदाय को कायम रखना उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ होगा। विसोबा जी के साथ भी ऐसा ही हुआ होगा। इसके आलावा 'सिद्धान्तशिखामणि' के कालातीत द्रष्टापन का आधार भी उन्हें प्राप्त हुआ होगा। धर्मग्रन्थ होने के बावजूद उसमें प्रस्तुत भक्ति का समर्थन, बाह्याडंबर का निषेध आदि के बारे में सिद्धान्तकर्ता का दृष्टिकोण वर्तमान युग में भी आधुनिक और महत्त्वपूर्ण साबित हो सकता है। ईसा की आठवीं शती के पूर्ववर्ती इस ग्रन्थकर्ता ने महसूस किया होगा कि काल सापेक्षता का विचार करते हुए अंतर्लिंगधारणा तथा भक्तितत्त्व पर विशेष बल देना आवश्यक है। व्यक्तिगत रुचि और अधिकार पर ही बाह्य और अन्त:पूजा निर्भर होती है, इस प्रकार का स्पष्ट विवेचन करने वाले रेवणसिद्ध जी के मतानुसार —

निरुपाधिकमाख्यातं लिङ्गस्यान्तरधारणात् ।
विशिष्टं कोटिगुणितं बाह्यलिङ्गस्य धारणात् ।।
(सि. शि. ६.४१)

---

१. कपाळे डॉ. चन्द्रशेखर, 'शडुस्छलि ग्रन्थ : तात्त्विक अभ्यास', वीरशैव सन्तसाहित्य अभ्यास ग्रन्थ, वी.सा.सं.मं., सोलापुर, १९९२, पृ. ६६।

अंतर्लिंगधारणा बाह्यलिंगधारणा से अपना अलग वैशिष्ट्य/ विशेषता रखती है। अंतर्लिंगधारणा को वीरशैव निरुपाधिक लिंगधारणा कहते हैं। वह बाह्यलिंगधारणा से शतकोटि गुना श्रेष्ठ है। इसलिए —

वैराग्यज्ञानयुक्तानां योगिनां स्थिरचेतसाम् ।
अन्तर्लिङ्गानुसन्धाने रुचिर्बाह्ये न जायते ।।
(सि. शि. ६.४४)

अर्थात् वैराग्यसम्पन्न तथा ज्ञानसम्पन्न स्थिरचित्त योगियों की रुचि बाह्यलिंग अनुसंधान की अपेक्षा अंतर्लिंगानुसंधान में अधिक होती है।

सिद्धान्तशिखामणि का वाचन-मनन करने वाले तथा अल्लमप्रभु-गोरक्षपरंपरा की विरासत को निभाने वाले विसोबा जी ने भी अंतर्लिंग धारणा महत्त्वपूर्ण महसूस की होगी। इसीलिए —

ऐसे देखोबे देखेचि आचार । बाहेजकारी दीसति साचार ।।
शोडस नानापरिचे उपचार । पुजा करिती ।।
तया आकार भक्तांसि । सीवप्राप्ती होये कैसि ।।
सीवलोकिं बस्ती तयासि । केवी घडे ।।
लींगाचा नेणता विचारू । बाहेजकारी पुजी जो नरु ।।
तेणेसिं उजु परात्परू । केवि पावे ।।
(शडु. ५३६ से ५३८)

अर्थात् लिंगधारणा के मूल अर्थ पर ध्यान न देते हुए मात्र बाह्याडंबर को प्राधान्य देने वाले 'आकार' भक्तों (पाखंडियों) के लिए शिव प्राप्ति असम्भव है। लिंग के मूल/यथार्थ/ सत्य स्वरूप की ओर ध्यान न देते हुए बाह्याडंबर में ही उलझे हुए भक्त का लौकिक और पारलौकिक विकास असम्भव है। इसीलिए —

जीवे अनुभविले ते अनुभवि । सीवाते साध्य केले ते स्वानुभवि ।।
जीव सिव ऐक्य ते देहे भावि । विरक्त देखा ।।
(शडु. १९)

इस प्रकार के निश्चित/अचूक शब्दों में (भाषा में) वीरशैव-परिभाषा (पारिभाषिक शब्दावली) का प्रयोग किए बिना ही महालिंग से लेकर आचार लिंग तक का ब्यौरा प्रस्तुत करते हुए किस प्रकार आचारलिंग का ही मूल अंश/आदि अंश महालिंग है, इसे सामान्य जनता की भाषा में अभिव्यक्त करते हैं।

अर्थात् सर्वसाधारण जनों के इस संसार में व्यवहार करते हुए बाह्याडम्बर/बाह्याचार से अछूता रहना असम्भव है तथा उसी से अपनी साम्प्रदायिक विशेषता भी प्रकट होती है, इसका भान भी विसोबा रखते हैं। इसीलिए —

येरू जो बाहीर कारू। ईस्टलिंग जो पुजी नरू ।।
हा क्रियाधर्मु आचारू। आचारे जग ।।
विभुती झलाल लल्हाटी। रुद्राक्षमाला आभरण कंठी ।।
शडाक्षरी पंचाक्षरी गोमटी । मुखी जपे ।।
(शडु. ५३४-५३५)

इस प्रकार की उपरी तौर पर/सरसरी तौर पर देखने से अधिक सन्दर्भ न देने वाली (परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट न होने वाली/अस्पष्ट अर्थ देने वाली) कुछ ओवियाँ यहाँ दिखाई देती हैं। इससे केवल यही अनुमान किया/ लगाया जा सकता है कि ये ओवियाँ अष्टावरण का महत्त्व विशद करने वाली हो सकती हैं। क्योंकि इसके बाद का कथा का हिस्सा (कथाभाग/अंश) तथा ओवियों के खो जाने की सम्भावना ग्रन्थाध्ययन के दौरान महसूस होती है।

षट्स्थल की तरह शिव के 'पंचकृत्य', 'पंचशक्ति', 'अविद्या' कल्पना का विवेचन विसोबा जी करते हैं। इसे देखते हुए इस बात को स्वीकारना पड़ता है कि "विसोबा जी वीरशैव पंथ/सम्प्रदाय में दीक्षित थे और 'षट्स्थल' तथा वीरशैवों के अन्य दार्शनिक विचारों का उनका गहन अध्ययन था।"[१] वीरशैव तत्त्व/दर्शन का सूक्ष्म विवेचन (निरूपण) करने वाले विसोबा जी ग्रन्थ में एक जगह पंचाचार्य-उत्पत्तिविषयक भिन्न कल्पना प्रस्तुत करते हैं। खेचर विसा ने परमशिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष व ईशान्य इन पंचमुखों से क्रमशः मनु, मय, त्वष्टिकु, सिलपिकु तथा सुजाता इन पंचाचार्यों की उत्पत्ति का वर्णन किया है। किंतु इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण तथा सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् पांचालों के पंचाचार्यों के इस जिक्र को देखते हुए इस बात की सम्भावना से हम इन्कार नही कर सकते कि या तो यह अंश प्रक्षिप्त हो सकता है अथवा ग्रन्थ के बारे में विचारभेद निर्माण करने के लिए (जान बूझ कर) इसका उल्लेख किया गया होगा।

येसि स्थापिली साहि स्छले । जे का दरूशणे होति वोढाले ।।
परि स्वानुभवेविण न कले । हे साहित्य मुद्रा ।।
(शडु. ३१८)

---

१. कामत डॉ.अ.प्र., संत नामदेव : जीवन आणि हिन्दी काव्य यांचा पुनर्विचार', पृ. ७७

इस प्रकार के निश्चित शब्दों में (भाषा में) विसोबा जी षट्स्थल का महत्त्व विशद करते हैं। विसोबा जी का दृढ विश्वास है कि षट्दर्शन को 'वोढाल' (अतीव आकर्षक) करने वाले, 'स्वानुभवाधिष्ठित' षट्स्थल से परिचित होने के लिए ग्रन्थ, 'यह साहित्य मुद्रा' उपयोगी साबित होने वाली है। इसके 'साहित्यमुद्रा' शब्द का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। विसोबा जी यही बताना चाहते होंगे कि, जिस प्रकार 'मुद्रा' आसानी से नष्ट/लुप्त न होते हुए अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ मुमुक्षुओं के लिए पथ प्रदर्शक तथा साम्प्रदायिकों पर अमिट छाप छोड़ने वाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साम्प्रदायिक व अध्येताओं की उपेक्षा की वजह से तथा काल के गह्वर में विलुप्त महाराष्ट्र की कुछ अज्ञात घटनाओं के फलस्वरूप विस्मृति के अंधेरे में समाया हुआ यह ग्रन्थ पाँच-छः सदियों की प्रदीर्घ उपेक्षा के अनन्तर पुनश्च एक बार अध्येताओं पर अपनी 'साहित्यमुद्रा' अंकित करने में, कम-से कम उन्हें फिर से वीरशैवों के दार्शनिक/दर्शन विषयक साहित्य के सन्दर्भ में विचार-प्रवृत्त/प्रेरित करने में सफल हुआ है।

इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार है —

❖ भक्तिसाधना के प्रेरणास्रोत से निर्मित तथा ओवी छंद का प्रयोग करने वाला 'शडुस्छलि' ग्रन्थ खेचर विसाकृत यादव कालीन ग्रन्थ है। उसकी प्राप्ति से मराठी के वीरशैव साहित्य की नींव डालने का श्रेय शांतलिंग-मन्मथ के स्थान पर खेचर विसा को प्राप्त होता है। इससे इस साहित्य-निर्माण का कालखंड ३००-३५० वर्ष पीछे चला जाता है।

❖ वीरशैवों के दार्शनिक विचारों का मराठी भाषा में सर्वप्रथम विवरण/निरूपण करने वाला, वीरशैवों का यह आदि ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता दोनों आज तक अलक्षित ही रहे।

❖ वीरशैवों के प्रभाव क्षेत्रों औंढ्या नागनाथ व बार्शी में निवास, विरासत में गुरुपरंपरा द्वारा प्राप्त वीरशैवों की दार्शनिक प्रणाली, षट्स्थल ज्ञान से प्राप्त 'स्वानुभूति', सामान्य जनों को व्याकुल/व्यग्र करने वाली तत्कालीन परिस्थिति और समन्वयशील/समन्वयवादी स्वभाव के महाराष्ट्र से प्राप्त दाय इन सबका समन्वित परिणाम है — खेचर विसा कृत 'शडुस्छलि' ग्रन्थ।

❖ इस ग्रन्थ के आधार पर यद्यपि इस बात का निर्णय करना कठिन है कि विसोबा जी वारकरी विचारों से प्रभावित वीरशैव हैं या वीरशैव तत्त्वविचारों से अभिभूत वारकरी हैं, तथापि वीरशैव तत्त्व परम्परा (दर्शन प्रणाली) तथा साम्प्रदायिक व्यक्तियों प्रकल्पनाओं से उनका हार्दिक अनुबन्ध तीव्रता से महसूस होता है। क्या अपने गुरु के वीरशैव होने के कारण ही उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते समय संत नामदेव ने सांकेतिकता का आधार लिया होगा—इस प्रकार का सवाल खड़ा होता है।

❖ ग्रन्थ के शीर्षक से ही खेचर विसा वीरशैवों के षट्स्थल सिद्धान्त/दर्शन व तदानुषंगिक तत्त्व कल्पनाओं का विवेचन आरम्भ करते हैं। किंतु साम्प्रदायिक विशिष्ट

परिभाषा (पारिभाषिक शब्दावली) की अपेक्षा वे सामान्य जनों के लिए सुलभ भाषा में विवेचन/निरूपण करते हैं। उसके लिए उन्होंने 'सिद्धान्तशिखामणि' का अध्ययन, चिंतन, मनन किया है ऐसा स्पष्टतया प्रतीत होता है।

❖ वीरशैव-दर्शन का सारसर्वस्व इस ग्रन्थ को डॉ.रा.चि.ढेरे के अपवादात्मक उदाहरण को छोड़ते हुए आज तक किसी भी वीरशैवाचार्य अथवा इस सम्प्रदाय के अध्येताओं ने न देखा हो इसे केवल साम्प्रदायिक अज्ञान अथवा उपेक्षा की बात नहीं माना जा सकता। सवाल पैदा होता है कि क्या किसी अपरिहार्य कारणों से ऐसी सुदीर्घ परम्परा मिट गई होगी?

❖ इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति/पाण्डुलिपि को वीरशैव मठ-मंदिर के स्थान पर वारकरी सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र स्थान पर प्राप्त होना महाराष्ट्र की समन्वयशील/समन्वयवादी मनोवृत्ति का द्योतक है अथवा सम्बन्धित सम्प्रदाय की जीत का प्रतीक है या वीरशैव साम्प्रदायिकों की अनास्था का चिह्न है इसका उत्तर प्राप्त होना यद्यपि कठिन है, तथापि आवश्यक साबित हो सकता है।



श्रीसिद्धान्तशिखामणौ आचारविमर्शः

– प्रो. सुधांशुशेखरशास्त्री –

ब्रह्मेतिव्यपदेशस्य विषयं यं प्रचक्षते ।
वेदान्तिनो जगन्मूलं तं नमामि परं शिवम् ।।

अध्यात्मपथप्रवर्तिष्णूनां मुमुक्षूणां कृते पाथेयभूतमस्ति तावद् गुरूपसदमेवेत्युपदिशति श्रुतिर्भगवती श्रोतृहितैषिणी—"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इति। तत्र गुरुमित्युक्त्वा एवकारमप्युपादत्ते श्रुतिः, तेन स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं निषिद्धम्। तदुक्तं भगवता भाष्यकृता —"शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यादित्येतद् गुरुमेवेत्यवधारणफलम्" इति। स्वतः प्रतिभासत्वेऽपि तत्र स्वपदार्थो गुरुरेवेति न गुरूपसत्तेर्व्यापकत्वव्याहतिः।

आगमसिद्धान्तेऽपि गुरूपसत्तिमन्तरा दुर्लभा चित्तविश्रान्तिरिति समुद्घोष्यते श्रीसिद्धान्तशिखामण्यादौ —

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां शिवे ।। इति।

अन्तरेण गुरुं सिद्धं कथं संसारनिष्कृतिः ।
निदानज्ञं विना वैद्यं को वा रोगो निवर्तते ।।
(सि. शि. १३.२४)

गुरुरेव परं तत्त्वं प्रकाशयति देहिनाम् ।
को वा सूर्यं विना लोके तमसो विनिवर्तकः ।।
(सि. शि. १३.२३)

इत्यादि।

परमार्थतः परमेश्वर एव गुरुर्भवति। स एव गुरुरूपेण निगमागमार्थमुपदिशति। तत्र —

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता ।।

इत्याद्यागमोक्तिः प्रसिद्धा ।

गुरूणामवान्तरभेदभिन्नत्वेऽपि मुख्यत्वं तत्रैव (परमेश्वर एव) पर्यवस्यति। यदा योग्यतानुसारेण तद्गतैव गुरुता अंशांशिकतया यस्य मानवस्य शरीरेऽभिव्यज्यते, तदा सोऽपि गुरुर्भवति, गुरुभावेन च पूजनीयतां भजते। तदुक्तं सिद्धान्तशिखामणौ —

द्रुमाणामिव भद्रश्रीर्देवानामिव शङ्करः ।
गुरुः परः शिवः श्लाघ्यो गुरूणां प्राकृतात्मनाम् ।।
(१३.२९)

अत एव —

गुरोः कटाक्षे संसिद्धे को वा लोकेषु दुर्लभः ।।
कैवल्यकल्पतरवो गुरवः करुणालयाः ।
दुर्लभा हि जगत्यस्मिन् शिवाद्वैतपरायणाः ।।
(सि. शि. १३.२६-२७)

इत्याद्युक्तम् ।

अत एव च—गुरुलिङ्गजङ्गमतीर्थप्रसादभस्मरुद्राक्षमन्त्राख्येषु साधकस्याङ्गभूतेष्वष्टावरणेषु गुरोः प्रथमं स्थानं निगदितम्। तथा हि —

गुरुर्लिङ्गं जङ्गमश्च तीर्थं चैव प्रसादकः ।
भस्मरुद्राक्षमन्त्राश्चेत्यष्टावरणसंज्ञिताः ।। इति।

तथैव गुरोर्लक्षणमप्यभिहितम् —

गुणातीतं गुकारं च रूपातीतं रुकारकम् ।
गुणातीतमरूपं च यो दद्यात् स गुरुः स्मृतः ।।
(सि. शि. १५.८)

निर्गुणस्य नीरूपस्य च ब्रह्मण उपदेष्टा गुरुरिति तदर्थः ।

स च गुरुराचार्यमूर्तिमास्थाय विनेयाननुशास्ति, अनुगृह्णाति च। अत एवाह भगवती श्रुतिः—"आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति। भगवान् भाष्यकारोऽपि "गुरुमेवाभिगच्छेत्" इति वाक्यं "गुरुमेवाचार्यं शमदमदयादिसम्पन्नमभिगच्छेदित्याचार्योक्त्या व्याख्यातवान्। अत एव सिद्धान्तशिखामणौ ज्ञानगुरुस्थलनिरूपणावसरे —

सर्वार्थसाधकज्ञानविशेषादेशतत्परः ।
ज्ञानाचार्यः समस्तानामनुग्रहकरः शिवः ।।

इत्यादिनाऽनुग्रहैकमूर्तेः शिवस्य "ज्ञानाचार्यः" इति विशेषणमुपात्तम्।

आचार्यलक्षणं चापि प्रतिपादितं सिद्धान्तशिखामणौ —

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्तु स आचार्य इति स्मृतः ।। इति।
(१५.९)

एतदुक्तं भवति यदाचार्योऽपि विनेयानाचारे स्थापयन्नेवाचारोपदेशेनानुगृह्णातीत्यस्ति माहात्म्यमाचारस्यापि। अत एव—"आचारः प्रथमो धर्मः" इत्युक्तिरपि सङ्गच्छते।

तत्र कः खल्वाचारपदार्थ इति जिज्ञासायामाचारशब्दस्यानेकार्थत्वेऽपि प्रकृते गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचार इत्यर्थो विवक्षितः। स चाचारो वीरशैवदर्शने पञ्चविधो भवति—लिङ्गाचारः सदाचारः शिवाचारो भृत्याचारो गणाचारश्चेति। तदुक्तम् —

लिङ्गाचारः सदाचारः शिवाचारस्तथैव च ।
भृत्याचारो गणाचारः पञ्चाचाराः प्रकीर्तिताः ।। इति।

तत्र लिङ्गाचारः— लिङ्गत्वप्राप्तये (सृष्ट्युत्पत्तिलयकारणीभूतस्य परतत्त्वस्य स्वस्वरूपतया प्राप्तये) साधकेन प्राप्तः, गुरुणोपदिष्टश्च य आचारः, स लिङ्गाचार उच्यते। स च देहेन तदर्चनम्, मनसा तच्चिन्तनम्, भावनया च तन्निदिध्यासनमित्यात्मकः। तदुक्तं चन्द्रज्ञानागमे —

गुरुणा दत्तलिङ्गाद् वै नास्ति दैवं महीतले ।
इति भावानुसन्धानं लिङ्गाचारः स उच्यते ।। इति।

सज्जनानां शिवैक्यङ्गतानां शिवभक्तानां य आचारः, स सदाचार उच्यते। तदुक्तं सूक्ष्मागमे —

सज्जनः शिवभक्तश्च येन मार्गेण सर्वदा ।
तोष्यते च महादेवि सदाचारः स वै स्मृतः ।।
(८.७)

चन्द्रज्ञानागमेऽप्युक्तम् —

धर्मार्जितेन द्रव्येण यत्सन्तर्पणमन्वहम् ।
गुरुलिङ्गजङ्गमानां सदाचार इति स्मृतः ।। इति।
(९.६)

गुरुलिङ्गजङ्गमानां धर्मोपार्जितद्रव्यदानेन यत्तर्पणम्, तदेव सदाचार इति तदर्थः। तच्च दानं सोपाधिनिरुपाधिसहजभेदेन त्रिविधं भवति। तत्र फलाभिसन्धिसहितं यद्दानं तत्सोपाधिकम्, फलाभिसन्धिरहितं निरुपाधिकम्,दानदेयपरिग्रहीतॄणां शिवभावेन यद्दानं तत् सहजम्। तदुक्तं शिखामणौ —

फलाभिसन्धिसंयुक्तं दानं यद्विहितं भवेत् ।
तत्सोपाधिकमाख्यातं मुमुक्षुभिरनादृतम् ।।

फलाभिसन्धिनिर्मुक्तमीश्वरार्पितकाङ्क्षितम् ।
निरुपाधिकमाख्यातं दानं दानविशारदैः ।।

अदातृदातृदेयानां शिवभावं विचिन्तयन् ।
आत्मनोऽकर्तृभावं च यद् दत्तं सहजं भवेत् ।।
(९.३-५)

एतेष्वपि सहजं दानं सर्वोत्कृष्टं वर्तते। तदुक्तं तत्रैव —

सहजं दानमुत्कृष्टं सर्वदानोत्तमोत्तमम् ।
शिवज्ञानप्रदं पुसां जन्मरोगनिवर्तकम् ।। इति।
(९.६)

अस्य सदाचारस्य अङ्कुरोत्पन्नद्विदलप्रवृद्धसप्रकाण्डसशाखसपुष्पसफलभेदेनाष्टावङ्गानि भवन्ति। एतान्येव च शीलपदव्यपदेश्यानि। तत्र श्रीगुरुकारुण्यवशात् षडध्वन्याससंयुक्तं शरीरमिदं मदीयं सकलसाधनबीजभूतमिति भावविशेषोऽ**ङ्कुराख्यं** शीलम्, शैवदीक्षादीक्षितैः पुत्रकलत्रादिभिरात्मनः सहवास **उत्पन्नं** शीलम्, शैवचिह्नानां भस्मादीनां नैरन्तर्येणाप्रमादेन च धारणं **द्विदलं** शीलम्, शिवधर्माणां तन्माहात्म्यस्य च नित्यं परिचिन्तनं **प्रवृद्धं** शीलम्, इष्टलिङ्गमनभ्यर्च्य भोजनादीनामकरणसङ्कल्पः **सप्रकाण्डं** शीलम्, इष्टलिंङ्गानर्पितस्य कस्यापि द्रव्यस्याग्रहणसङ्कल्पः **सशाखं** शीलम्, शिवार्पितस्य प्रसादस्य कदाप्यपरित्यागः **सपुष्पं** शीलम्, गुरुजङ्गमलिङ्गानामेकत्वेन भावनाविशेषः सफलं शीलम्। चन्द्रज्ञानागमेऽस्य सदाचारस्य निरुक्ताष्टाङ्गत्वं तस्य च नित्यमनुष्ठेयत्वं प्रतिपादितम् । तद्यथा —

यः सदाचारमष्टाङ्गं भक्तिनिष्ठो निषेवते ।
स सद्यः सिद्धिमाप्नोति परां शम्भोरनुग्रहात् ।। इति।
(९.३१)

सदाचारस्य शिवप्रसादप्रदत्वं सिद्धान्तशिखामणावुक्तम् —

सदाचारप्रियः शम्भुः सदाचारेण पूज्यते ।
सदाचारं विना तस्य प्रसादो नैव जायते ।। इति।
(१६.९)

शिव एव परं ब्रह्म पञ्चकृत्यपरायणम् ।
न ततोऽन्या गतिरिति शिवाचारो हि कीर्तितः ।।
(च.ज्ञा. ९.७)

इत्युक्त्या साधकस्य शिवैकशरणत्वभावना शिवाचारशब्दार्थः।

अस्य शिवाचारस्याङ्गभूतानि षोडशपदार्थसंशोधनान्यपि प्रतिपादितानि। सन्ति तत्र षोडशपादार्था द्रव्यक्षेत्रगृहभाण्डतृणकाष्ठवीटिकापाकरसभवभूतभावमार्गकालवाक्जनाख्याः। एतेषां यत्र संशोधनं स एव शिवाचार इति समुद्घोषितम् —

द्रव्यक्षेत्रगृहादीनां षोडशानां विशोधनम् ।
शिवशास्त्रोक्तमार्गेण शिवाचार इति स्मृतः ।।

(च. ज्ञा. ९.३२)

इत्यादिना।

१. तत्र भस्महस्तसंस्पर्शेण भस्मना वा संशोधितं फलादिकं द्रव्यशुद्धिः, २. नन्दिमुद्राङ्कितशिलापट्टेन काष्ठखण्डेन सुशोभितं क्षेत्रं **क्षेत्र**शुद्धिः, ३. श्रीशिवभक्तेन निर्मितं शिवलिङ्गाङ्कितं वा गृहं **गृह**शुद्धिः, ४. श्रीशिवभक्तेन निर्मितं शिवलिङ्गाङ्कितं वा भाण्डजातं **भाण्ड**शुद्धिः, ५. श्रीशिवभक्तेन समानीतं भस्मना वा संस्कृतं तृणादिकं तृणशुद्धिः, ६. श्री शिवभक्तेन समानीतं भस्मना वा संस्कृतं काष्ठं काष्ठशुद्धिः, ७. भक्तारामे समुत्पन्नैर्भस्मना वा संस्कृतैरेलाचूर्णादिभिः संयुक्तं ताम्बूलादिकं वीटिकाशुद्धिः, ८. श्रीशिवभक्तेन निर्मितमभक्तजनैश्चानवलोकितं पक्वान्नं पाकशुद्धिः, ९. माहिषं दुग्धादिकं परित्यज्य गव्यस्यैव दुग्धादेर्ग्रहणं रसशुद्धिः, १०. काम्यकर्म परित्यज्य शिवाराधनेन जन्मपरम्परोच्छेदसम्पादनं भवशुद्धिः, ११. सर्वभूतदयालुत्वं पाञ्चभौतिकपदार्थसंशोधनं च भूतशुद्धिः, १२. सर्वकामान् परित्यज्य श्रीशिवभावानुचिन्तनं भावशुद्धिः, १३. पद्भ्यां पिपीलिकादीनामहिंसनपूर्वकं गमनं मार्गशुद्धिः, १४. शास्त्रानुमोदिते मनोरमे निःशब्दे काले शिवलिङ्गाराधनं कालशुद्धिः, १५. अनृतादिभाषणपरिवर्जनपूर्वकं सत्यादिभाषणं वाक्शुद्धिः, १६. शयनासनादिषु सर्वदा सद्भक्तजनसाङ्गत्यं जनशुद्धिः।

फलं चाप्यस्य चर्चितं तत्रैव —

विद्वन्नयं शिवाचारः सर्वशास्त्रेषु गोपितः ।
एतदाचरणान्मर्त्यः शिवसायुज्यमश्नुते ।। इति।

(च. ज्ञा. ९.५०)

चतुर्थो भृत्याचारः। स च शिवभक्तानां सर्वेषामहं भृत्य इति भावनात्मकः। तदुक्तम् —

शिवभक्तजनाः सर्वे वरिष्ठाः पृथिवीतले ।
तेषां भृत्योऽहमिति यद् भृत्याचार इति स्मृतः ।। इति।

(च. ज्ञा. ९.९)

स च भृत्यत्ववीरभृत्यत्वभेदेन द्विविधः। तत्र गुरुलिङ्गजङ्गमानां कैङ्कर्याचरणं भृत्यत्वम्, गुरुलिङ्गजङ्गमेभ्यस्तनुचित्तवित्तसर्वस्वसमर्पणं वीरभृत्यत्वम् ।

श्रीसिद्धान्तशिखामणावप्युक्तम् —

शिवयोगी शिवः साक्षादिति कैङ्कर्यभक्तितः ।
पूजयेदादरेणैव यथा लिङ्गं यथा गुरुम् ।। इति।
(९.९)

पञ्चम आचारो गणाचारः। स च शिवस्य शिवभक्तस्य शिवधर्मस्य च निन्दाद्याक्षेपवचनाद्यश्रवणाद्यात्मकः। तदुक्तम् —

शिवस्य शिवभक्तस्य शिवधर्मादिकस्य च ।
न शृणोति च यन्निन्दां स गणाचार उच्यते ।। इति।
(च. ज्ञा. ९.८)

श्रीरेणुकगीतायामप्येतद्गीतं गणाचारलक्षणम् —

शिवनिन्दाकरं दृष्ट्वा घातयेदथवा शपेत् ।
स्थानं वा तत्परित्यज्य गच्छेद् यद्यक्षमो भवेत् ।।

यत्र चाचारनिन्दास्ति कदाचित्तत्र न व्रजेत् ।
यद्गृहे शिवनिन्दास्ति तद् गृहाणि परित्यजेत् ।। इति।

अस्मिन् गणाचारे —

सर्वोत्तमे गणाचारे सद्यः सिद्धिकरे परे ।
शीलानि तु चतुःषष्टिर्वर्तन्ते तानि संशृणु ।।
(च. ज्ञा. ९.५२)

इत्युक्त्यनुसारेण सर्वाण्याहत्य चतुःषष्टिः शीलानि भवन्ति। तथा हि — कायगतं करणगतं मनोगत चेति त्रिविधं तावत् प्रथमतः शीलम्। तत्र कायगतं पञ्चविधम्—गुर्विष्टलिङ्गजङ्गमानां प्रसादतः कायसंशोधनम्, निषिद्धविषयेभ्य इन्द्रियाणां निग्रहः, अस्पृश्यवस्तुसंस्पर्शे जलस्नानेन भस्मस्नानेन वा शुद्धिकरणम्, शयनासनगोष्ठ्यादिष्विष्टलिङ्गविरहिसंसारासक्तजनैरसंसर्गः, विभूतिरुद्राक्षलिङ्गानां नित्यं धारणं चेति।

करणगतं कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियभेदेन द्विविधम्। तत्र कर्मेन्द्रियगतं त्रिविधम्—वाग्गतं पाणिगतं पादगतं चेति। तत्र वाग्गतं शीलम्—यथार्थस्यैव भाषणम्, अप्रियस्य सत्यस्य प्रियस्य चासत्यस्याभाषणम्, धर्मज्ञानप्रतिपादकानां वेदागमपुराणादीनां प्रत्यहं स्वाध्यायः, शिवगुरुशिवभक्तानां नित्यं प्रशंसनम्, शिवातिरिक्तानां देवानां मनुष्याणां वा प्रशंसापरिवर्जनम्, आत्मस्तुतिपरित्यागः, परनिन्दापरित्यागश्चेति सप्तविधम्। पाणिगतं शीलं पञ्चविधम्—गुरुजङ्गमलिङ्गानां नमस्कारः, पूजोपकरणानामहर्निशं सम्पादनम्, रुद्राक्षमालिकया प्रत्यहं मूलमन्त्रजपः, गुरुलिङ्गजङ्गमानां प्रतिदिनमाराधनम्, गुरुलिङ्गजङ्गमेभ्यो यथाशक्ति दानं चेति।

पादगतं शीलं चतुर्विधम् — गुरोर्महेश्वरस्य चाभिगमनम्, तयोः प्रदक्षिणम्, पूजोपकरणसम्पादनार्थं गमनम्, गुरोरिष्टलिङ्गस्यार्चनार्थं स्थिरमासनं चेति।

ज्ञानेन्द्रियगतं शीलं श्रोत्रत्वगक्षिरसनाघ्राणभेदेन पञ्चविधम्। तत्र श्रोत्रगतं द्विविधम्—गुरुशिवभक्तानां स्तोत्रश्रवणम्, तेषां निन्दावचनजातस्याश्रवणं चेति। त्वगगतं शीलं द्विविधम्—नैरन्तर्येणेष्टलिङ्गसंस्पर्शनम्, इष्टलिङ्गस्पर्शजन्यं स्वशरीरे रोमाञ्चादिकं चेति। अक्षिगतमपि शीलं द्विविधम्—अश्रान्तं सानुरागमिष्टलिङ्गदर्शनम्, तद्दर्शनोद्भूतानन्दबाष्पादिकं चेति। रसनागतमेकं निवेदितप्रदासीयरसास्वादात्मकम्, घ्राणगतमप्येकं निर्माल्यपुष्पादिसौगन्ध्यग्रहणम्।

मनोगतं शीलं तु पञ्चत्रिंशद्विधं प्रतिपादितम्। तथा हि—१. निषिद्धभोगविषये सङ्कल्पराहित्यात्मकं ब्रह्मचर्यम्। २. विषयविषयिणीं कामनां परित्यज्य शिवभक्तिविषयिण्याः कामनाया उदय एव निष्कामत्वम्। ३. शत्रुं प्रति क्रोधमकृत्वाऽऽधर्मविषयकक्रोधसम्पादनमक्रोधः। ४. धनविषयकलोभपरित्यागपूर्वकं शिवाराधने लोभसम्पादनमलोभः। ५. पुत्रकलत्रादिविषयकमोहं परित्यज्य शिवभक्तजनेषु मोहसम्पादनममोहः। ६. मनुजादिविषयकमात्सर्यपरित्यागपूर्वकं करणेष्वेव तत्सम्पादनममात्सर्यम्। ७. धर्मादिविषयकमदं परित्यज्य मायाविजये एव मदसम्पादनममदः। ८. गुरुजङ्गमादिविषयकगुणागुणविमर्शपरित्यागः। ९. यस्य कस्यापि प्राणिनो बाधाऽऽकरणम् (दुःखाकरणम्) अहिंसा। १०. प्राणिदुःखसमीक्षणेऽक्षमत्वं दया। ११. क्रियायां वचने वापि सारल्यं ह्रीः। १२. रिपौ निजसुते वापि वैषम्यं परित्यज्य समभावरक्षणमार्जवम्। १३. गुरूपदिष्टे निगमागमवचसि विश्वासः श्रद्धा। १४. दुरन्तायामापद्यपि धर्मस्यापरित्यागो धृतिः। १५. अपकारिष्वपि वैरिजनेषु दोषदृष्टिपरित्यागः क्षमा। १६. मनसि भोगेच्छानुत्पादो भोगासक्तिच्युतिः। १७. क्रियायां वचने वापि प्रमादरहिता बुद्धिः धीः। १८. शिवातिरिक्तसङ्कल्पराहित्यं दमः। १९. अन्यूनधर्मानुष्ठानं परद्रव्यापरिग्रहोऽस्तेयम्। २०. अलब्धवस्तुविषयकव्यसनाभावः सन्तुष्टिः। २१. पारमेश्वरनामरूपयोर्नित्यं संस्मरणम्। २२. श्रीशम्भुनामगुणादीनामहर्निशं चिन्तनम्। २३. श्रीशिवस्य पादसंवाहनादिविषयक-भावनाविशेषः पादसेवनम्। २४. श्रीशिवस्यावाहनादिना मानसमर्चनम्। २५. श्रीशिवचरणा-रविन्दयोर्नित्यं मानसः प्रणामः। २६. भगवतः श्रीशिवस्य मनसा सर्वदा कैङ्कर्यकरणं दास्यम्। २७. कल्याणरूपेण शिवेन साकं सख्यभाव एव सख्यम्। २८. श्रीशिवचरणारविन्दयोर्बन्ध-मोक्षविषयकसमस्तभारसमर्पणमात्मसमर्पणम्। २९. श्रीशिवमूलमन्त्रस्य मनसा निरन्तरं जपः सेव्यम्। ३०. श्रीशिवस्य दिव्यरूपस्य हृदि नित्यमनुसन्धानं ध्यानम्। ३१. तैलधारावदविच्छिन्नं हृदि शिवरूपधारणं धारणम्। ३२. श्रीशिवस्वरूपविषयिणी निवातदीपवच्चित्तस्थितिः समाधिः। ३३. श्रीविश्वेशं सोऽहं भावेन ध्यायन् सर्वकृत्यं समर्पयति स एव समावेशः। ३४. श्रीशिवस्यापरिच्छिन्नस्य (व्यापकस्य) रूपस्यानुसन्धानम्।

३५. श्रीशिवस्य अनन्तरूपं स्वाभिन्नतया भावयन् स्वपरविभागं च विस्मरन् शान्तो यदा साधकस्तिष्ठति तादृशी साम्यावस्था। इति।

तदित्थं पञ्चविधां कायगतं शीलढ्यः, चतुर्विंशं करणगतं शीलम्, पञ्चत्रिंशद्विधं च मनोगतं शीलमित्यादृत्य चतुषष्टिसंख्याकानि शीलानि वर्णितानि चन्द्रज्ञानागमे। एतस्य माहात्म्यमपि तत्रैव निगदितमित्थम् —

यश्चतुःषष्टिशीलाढ्यः शिव एव न चापरः ।
एतदभ्यासयोगेन शिवसायुज्यमश्नुते ।। इति।

(च. ज्ञा. ९.१२३)

सशीलस्यास्याचारस्यानुष्ठानं प्राणिमात्रस्य हितावहम्। वीरशैवसम्प्रदाये त्वेते प्राणभूताः सन्ति। एतेषामनुष्ठानेन भगवान् भूरिभर्गः परमशिवः सम्प्रसीदतीति श्रीसिद्धान्तशिखामणावुक्तम् —

आचार एव सर्वेषामलङ्काराय कल्प्यते ।
आचारहीनः पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।।

ज्ञानेनाचारयुक्तेन प्रसीदति महेश्वरः ।
तस्मादाचारवान् ज्ञानी भवेदादेहपातनम् ।। इति।

(१६.१३-१४)

शिवप्रसादो बलवान्, न तस्माद् बलवत्तर इति प्रसन्नः सन् परमात्मा स्वसायुज्यं प्रयच्छति। शिवसायुज्यं च मोक्षः। अतः सशीलाचारवान् साधको। जगद्गुरोः परमशिवस्य प्रसादाज्जीवत्वं परिहृत्य शिवत्वमधिगच्छति। तदुक्तं श्रीरेणुकाचार्यैः —

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम् ।
निरस्यते गुरोर्बोधाज्ज्ञानशक्तिः प्रकाशते ।।

।। इति शिवम् ।।



प्रतिवेदन

– सिद्धरामदेव हिरेमठ (हिप्परगि) –

जंगमवाड़ी मठ संस्थान एवं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के संयुक्त तत्त्वावधान में श्रीसिद्धान्तशिखामणि के विविध आयामों पर आयोजित तीन दिवसीय शास्त्रसंगोष्ठी का उद्‌घाटन दि. १५ अक्टुबर १९९७, बुधवार को प्रातः ९ बजे मठ के नवीन सभागार में जगद्‌गुरु १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी के करकमलों से दीपप्रज्वलन के साथ सम्पन्न हुआ। शास्त्रसंगोष्ठी का उद्‌घाटन करते हुए जगद्‌गुरु जी ने कहा कि यह ग्रन्थ मानव कल्याणोपयोगी दिव्य ग्रन्थ है। श्री रेणुकाचार्य जी इसके उपदेशकर्ता और अगस्त्य ऋषि श्रोता के रूप में ग्रन्थ में बतलाये गये है। आपने कहा कि वीरशैव सिद्धान्त सर्वदा समन्वयात्मक रहा है। इसमें कहीं भी भेद की भावना नहीं है।

समारोह में मुख्य अतिथि पद से विचार व्यक्त करते हुए प्रो. सुधांशु शेखर शास्त्री, संकाय प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, का. हि. वि. वि. ने कहा कि वेद एवं आगमों के परमार्थों का प्रतिपादक श्री सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ शैवागमों में प्रमुख स्थान रखता है। आपने सिद्धान्तशिखामणि में निर्गुण निराकार परमशिव के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया। आपने आगे कहा कि इस ग्रन्थ में वर्णित १०१ तत्त्व सामान्य जनमानस के विकास के मार्ग को दिशानिर्देश प्रदान करते हैं। आपने श्री शिवयोगी शिवाचार्य को आद्य शंकराचार्य का समकालीन बताया। प्रो. शास्त्री जी ने श्री सिद्धान्तशिखामणि के अष्टावरण में गुरु की महत्ता को विद्वत्तापूर्वक प्रतिपादित किया। श्री सिद्धान्तशिखामणि में वेद और आगम ऐसे उभय सम्मत पदार्थों का वर्णन मिलता है। मुख्य अतिथि ने अगस्त्य ऋषि के सन्दर्भ में अनेक रोचक प्रसंगों को बतलाते हुए इसका पौराणिक महत्त्व भी प्रतिपादित किया। कार्यक्रम का प्रारम्भ वैदिक एवं आगमिक मंगलाचरणों से हुआ। शास्त्रसंगोष्ठी में विविध प्रान्तों से आये हुए विद्वानों एवं भक्तों का हार्दिक स्वागत करते हुए विनोदराव पाठक ने मठ के प्राचीन स्वरूप तथा मठ की समाज को देन एवं अखिल भारतीय शास्त्रसंगोष्ठी के आयोजन पर प्रकाश डाला।

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक एवं शास्त्रसंगोष्ठी के संयोजक प्रो. व्रजवल्लभ द्विवेदी ने प्रतिष्ठान की उपलब्धियों पर विस्तृत रूप से चर्चा की। प्रतिष्ठान के द्वारा प्रकाशित शैवागमों की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए इसके अखिल भारतीय स्वरूप को

प्रतिपादित किया। प्रो. द्विवेदी ने श्रीसिद्धान्तशिखामणि के विविध आयामों को स्पष्ट करते हुए अन्य शैवागम ग्रन्थों में वर्णित महत्त्वपूर्ण तथ्यों को स्पष्ट किया।

विद्वद्गोष्ठी का प्रथम सत्र मध्याह्न में ११-३० के आस-पास आरम्भ हुआ। यह सत्र श्री १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामी जी के दिव्य सानिध्य में, पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। इसमें एक ही निबन्ध पढ़ा जा सका। निबन्ध का विषय था "आन्ध्रलिपिमुद्रितश्रीसिद्धान्तशिखामणिपरिशीलनम्" लेखक और उपस्थापक थे—वरंगल (आन्ध्र..) के डॉ. अत्तलूरि मृत्युञ्जय शर्मा। इसमें आपने अन्य विषयों के साथ सिद्धान्तशिखामणि के तेलगु लिपि में मुद्रित तीन संस्करणों की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। निबन्ध पाठ के बाद विचार विमर्श में गुलबर्गा के डॉ. चन्द्रशेखर कपाले, सोलापुर के प्रो. विश्वनाथ थोण्टे एवं महास्वामी जी ने भी भाग लिया। इस महान् ग्रन्थ के अब तक प्रकाशित हुए संस्करणों एवं पाण्डुलिपियों का परिचय दिया गया। अन्तिम निष्कर्ष यह निकला कि अब तक उपलब्ध संस्करणों में तेलुगु लिपि में मुद्रित संस्करण प्राचीनतम है। सारनाथ के तिब्बती संस्थान के निदेशक, पं. जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी ने सुझाव दिया कि इन सब संस्करणों और पाण्डुलिपियों के आधार पर इस ग्रन्थ का एक परिष्कृत समालोचनात्मक संस्करण होना चाहिए। महास्वामी जी ने इस पर यह सूचना दी कि ऐसा एक संस्करण मैसूर से अभी हाल में प्रकाशित हुआ है।

गोष्ठी का द्वितीय सत्र दि. १५-१०-९७ को ही अपराह्न में लगभग तीन बजे प्रारम्भ हुआ। इसमें चार निबन्ध पढ़े गये। वैद्यनाथ धाम, देवघर से पधारे पं. कामेश्वर मिश्र जी ने "पाशुपतागमानां श्रीसिद्धान्तशिखामणौ प्रभावः" निबन्ध का, बेगंलूर के श्री षण्मुखय्या अक्कूरमठ ने कन्नड़ भाषा में लिखे अपने निबन्ध के "श्रीसिद्धान्तशिखामणि में सामाजिक दृष्टिकोण" शीर्षक हिन्दी रूपान्तर का, वाराणसी के डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी जी ने "श्री सिद्धान्तशिखामणि एवं श्रीकण्ठ भाष्य : एक तुलनात्मक समीक्षा" शीर्षक निबन्ध का और काशी के ही पं. श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलंग ने "श्रीसिद्धान्त शिखामणि और निगमागम सम्मत अष्टावरण विज्ञान" का पाठ किया। विचार विमर्श में अनेक विद्वानों ने भाग लिया। उस में हुई चर्चा से यह ज्ञात हुआ कि लकुलीश पाशुपत मत से श्रीकण्ठ प्रवर्तित पाशुपत मत प्राचीन है। वरगंल के श्री विश्वनाथ शर्मा जी ने अपने निबन्ध में २८ पाशुपताचार्यों की चर्चा की है, उसमें लकुलीश अन्तिम आचार्य हैं। पुराणों में २८ पाशुपताचार्यों में से प्रत्येक के चार चार शिष्यों की भी चर्चा मिलती है। श्रौत एवं स्वतन्त्र पाशुपतों की भी शिवपुराण में चर्चा आई है। विभिन्न मतों की प्राचीनता के सम्बन्ध में भी प्रश्न उठाया गया कि सभी मत जब अनादि है, तब उन पर एक दूसरे के प्रभाव को कैसे मान्यता दी जा सकती है? समाधान यह आया कि सिद्धान्तशिखामणि ग्रन्थ में पाशुपत आदि मतों का उल्लेख मिलता है। इस

गोष्ठी की अध्यक्षता काशी के ही प्रबुद्ध विचारक, शैवागमों के प्रसिद्ध विद्वान् श्री परम हंस मिश्र जी ने की। अपने विचारोत्तेजक उद्बोधन में उन्होंने आगमशास्त्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए अनेक सुझाव दिये।

इस विद्वद् गोष्ठी का तृतीय सत्र दि. १६-१०-९७ को प्रातः लगभग ९ बजे प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष सोलापुर के प्रो. विश्वनाथ थोण्टे थे। इसमें पाँच निबन्धों का पाठ और उन पर विचार विमर्श हुआ। निबन्ध और निबन्ध लेखकों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. मल्लिकार्जुन परड्डी ने "दि इन्फ्लुएन्स् आफ सिद्धान्तशिखामणि आन् दि वचन लिट्रेचर; विथ स्पेशल रेफरेन्स टु बसवेश्वर", धारवाड़ के ही डॉ. पी. एम. दिनेश ने "दि कन्सेप्ट आफ गणाचार इन् सिद्धान्तशिखामणि", गुलबर्गा के प्रो. डॉ. चन्द्रशेखर कपाले ने "सिद्धान्तशिखामणि प्रतिपादित लिंगधारण की निगमागम मूलकता", सिकन्दराबाद के श्री निर्मल शास्त्री का "श्रौतशैवमतं शिवाद्वैतसिद्धान्तश्च" तथा गुलबर्गा के श्री षडक्षरी स्वामी पल्लपुर मठ का कन्नड़ भाषा में लिखित "आगम प्रतिपादित वीरशैव सिद्धान्त"। श्री निर्मल शंकर शास्त्री जी की अनुपस्थिति में उनके निबन्ध का वाचन पं. श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलंग ने किया। कन्नड़ भाषा में लिखित निबन्ध का हिन्दी सारांश श्री बबलेश्वर मठ के डॉ. ष. ब्र. महादेव शिवाचार्य स्वामीजी ने प्रस्तुत किया।

विचार विमर्श में अनेक विद्वानों ने भाग लिया। प्रश्न उठाया गया कि सिद्धान्त शिखामणि में जब गणाचार के साथ बसवाचार का भी उल्लेख है, तो यह सातवीं-आठवीं शताब्दी की रचना कैसे हो सकती है? क्योंकि बसवेश्वर का समय बारहवीं शताब्दी माना जाता है। इस का उत्तर, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी में शोधरत श्री सिद्धराम देव हिप्परगि ने दिया कि बसवाचार का उल्लेख टीकाकार ने किया है; ग्रन्थकार ने नहीं, इस आक्षेप का खण्डन श्री १००८ डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी अपने शोध प्रबन्ध "श्री सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा" में कर चुके हैं। अन्त में इस सत्र के अध्यक्ष अंग्रेजी भाषा और संत साहित्य के वरिष्ठ विद्वान् प्रो. विश्वनाथ थोण्टे जी ने अपने विचार-गंभीर उद्बोधन में सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए अपना दिशा-निर्देश प्रस्तुत किया।

गोष्ठी का चतुर्थ सत्र दि. १६-१०-९७ को अपराह्न तीन बजे प्रारम्भ हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष थे भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. केदारनाथ त्रिपाठी। इस सत्र में भी पाँच निबन्ध प्रस्तुत किये गये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है— वाराणसी के पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी का "शैवागमों और शैवपुराणों का श्रीसिद्धान्तशिखामणि पर प्रभाव",

वाराणसी के ही हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत महाविद्यालय में कार्यरत डॉ. कमलेश झा जी का "श्री सिद्धान्तशिखामणिपूर्णताप्रत्यभिज्ञाधृता शक्तिशक्तिमतोस्तुलनात्मकसमीक्षा", वाराणसी के ही दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय में शोधरत श्री महेश झा जी का "पराहन्तामधिकृत्य वीरशैवप्रत्यभिज्ञादर्शनयोस्तुलनात्मकं समीक्षणम्", धारवाड़ की डॉ. एन. वी. कोप्पल का श्री सिद्धान्तशिखामणि एण्ड दि अनुभवसूत्र" तथा वाराणसी के पं. श्री संगमनाथ शर्मा हिरेमठ का "वीरशैवसंप्रदाय में गुरु का स्वरूप एवं महत्त्व। डॉ. एन. वी. कोप्पल की अनुपस्थिति में उनके निबन्ध का पाठ सोलापुर के प्रो. विश्वनाथ थोण्टे जी ने किया।

विचार-विमर्श में स्थानीय और बाहर से आये विद्वानों ने भाग लिया। श्री संगमनाथ शर्मा हिरेमठ ने अपने निबन्ध में इस विषय की चर्चा उठायी कि गृहस्थ गुरु की ही श्रेष्ठता शास्त्रों में प्रतिपादित है। इसका समाधान यह आया कि भारत वर्ष में गृहस्थ ऋषियों की और विरक्त मुनियों की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। इस में कौन सी परम्परा श्रेष्ठ है, इस विषय पर चर्चा तो हो सकती है, किन्तु उसके लिए यह गोष्ठी उपयुक्त स्थल नहीं है।

गोष्ठी का पञ्चम सत्र दि. १७-१०-९७ को प्रातःकाल लगभग नौ बजे आरम्भ हुआ। इस सत्र के अध्यक्ष मराठी भाषा के प्रसिद्ध लेखक तथा इसके लिए पुरस्कृत श्री सिद्धान्त शिखामणि के मराठी अनुवाद के नूतन प्रस्तोता, इस काशी के विश्वाराध्य ज्ञान सिंहासन से अनेक वर्षों से सम्बद्ध प्रो. चन्द्रशेखर कपाले थे। इस सत्र में भी पाँच निबन्ध प्रस्तुत किये गये। सोलापुर के श्री आर. आर. मगाई ने "श्री सिद्धान्तशिखामणि प्रतिपादित षट्स्थल सिद्धान्त का श्री सिद्धरामेश्वर जी के वचनों पर प्रभाव" शीर्षक निबन्ध प्रस्तुत किया। काशी की सिद्धान्त शैवागम एवं दर्शन की विदुषी डॉ. रमा घोष ने "दि कन्सेप्ट आफ गुरुतत्त्व; दीक्षा एण्ड ग्रेसेज् एक्सपौण्ड इन् सिद्धान्तशिखामणि" को तथा प्रो. विश्वनाथ थोण्टे ने "सिद्धान्तशिखामणि सम् इम्प्रेशन्स" को प्रस्तुत किया तथा इन पर विचार विमर्श भी हुआ। धर्मपुरं (तमिलनाडु) के श्री टी. एन. रामचन्द्रन् जी की अनुपस्थिति में उनके "दि पेरीय पुराणम् एण्ड दी बसवपुराणम्" शीर्षक निबन्ध का पाठ कर्नाटक से आई प्रसूतितज्ज्ञ डॉ. शशिकला जी ने तथा पूना की सौ. श्यामा घोणसे की अनुपस्थिति में उनके "श्री सिद्धान्त शिखामणि की षट्स्थल साधना और खेचर विसा कृत षडुच्छलि" शीर्षक निबन्ध का पाठ मुंबई से समागत महाराष्ट्र वीरशैव संघ के संघटक श्री किरण महाजन ने किया।

इस संगोष्ठी के सभी सत्रों में विचार विमर्श में विशेष रूप से भाग लेने वाले भारत के विभिन्न राज्यों से आनेवाले विद्वानों में प्रो. चन्द्रशेखर कपाले, प्रो. विश्वनाथ थोण्टे, प्रो. मल्लिकार्जुन परड्डी, डॉ. अत्तलूरी मृत्युञ्जय शर्मा, पं. कामेश्वर मिश्र, आर. आर. मगाई आदि प्रमुख हैं। स्थानीय विद्वानों में संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के डॉ. राजनाथ त्रिपाठी, डॉ. शीतला प्रसाद उपाध्याय, डॉ. जयप्रकाश नारायण त्रिपाठी, पं. राजाराम शुक्ल,

पं. गणपति ऐताल एवं डॉ. मनुदेव भट्टाचार्य, आर्य कन्या महाविद्यालय के दर्शन विभाग की अध्यक्षा डॉ. रमा घोष, वीरशैव सिद्धान्त पर शोधरत इटली की सुश्री तित्सीयाना रीपेपी, काशी विश्वनाथ मन्दिर के महन्त परिवार के सदस्य ज्योति शंकर त्रिपाठी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी एवं डॉ. सूर्य प्रकाश व्यास आदि प्रमुख हैं। वसन्त कालेज के संस्कृत प्राध्यापक डॉ. सुधाकर तिवारी जी ने भी इस गोष्ठी में भाग लिया।

गोष्ठी के अन्तिम सत्र के अध्यक्ष प्रो. चन्द्रशेखर कपाले जी ने सिद्धान्तशिखामणि के विभिन्न पक्षों की चर्चा करते हुए इसके काव्य, शास्त्रीय अध्ययन पर भी जोर दिया। खेचर विसा और उनके ग्रन्थ षडुच्छलि की विशेष परम्परा पर भी इन्होंने प्रकाश डाला।



कार्यशाला में संमिलित विद्वान् एवं निबन्ध लेखक

१. डॉ. कमलेश झा — उपाचार्य, योग तन्त्र विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

२. पंडित श्री कामेश्वर मिश्र — चण्डीधाम, सरदार पण्डा लेन, वैद्यनाथधाम, देवघर, (बिहार)।

३. डॉ. केदारनाथ त्रिपाठी — अध्यक्ष, दर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, बी. एच. यू., एन. १/१२ सी नगवा, वाराणसी।

४. पंडित गणपति शास्त्री ऐताल —पूर्व प्राध्यापक, राजशास्त्र विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

५. डॉ. चन्द्रशेखर कपाले — शिवरत्न १०-२/३६ एस. बी. कालेज रोड, गुलबर्गा (कर्नाटक)।

६. पंडित श्री जगन्नाथ शास्त्री तैलंग — पूर्व प्राध्यापक, सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग, सं. सं. वि. वि., घासीटोला, चौखंबा, वाराणसी।

७. डॉ. जयप्रकाश त्रिपाठी — प्राध्यापक, वेदान्त विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

८. श्री ज्योतिशंकर त्रिपाठी — महन्त परिवार, काशी विश्वनाथ मन्दिर, वाराणसी।

९. सुश्री तित्तीयाना रीपेपी — VIA LUGARO 27/1, 10126 TORINO ITALY (इटली)।

१०. डॉ. टी. एन. रामचन्द्रन् — डाइरेक्टर, शैव सिद्धान्त रिसर्च इंस्टीट्यूट, ५० सेलम नगर तंजोर (तमिलनाडु)।

११. डॉ. एन. वी. कोप्पल — प्राध्यापक संस्कृत विभाग, कर्नाटक युनिवर्सिटी, धारवाड़, (कर्नाटक)।

१२. श्री निर्मलशंकर शास्त्री आराध्य — सर्वमंगला शिवसदनम्, (१२०) १८४/ए, रोड नं. ७, वेस्ट मारेडपल्ली, सिकन्दराबाद (आन्ध्रप्रदेश)।

१३. डॉ. पी. एम. दिनेश — द्वारा, मल्लिकार्जुन परड्डी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कर्नाटक युनिवर्सिटी धारवाड़, (कर्नाटक)।

१४. डॉ. मनुदेव भट्टाचार्य — प्राध्यापक, व्याकरण विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१५. डॉ. मल्लिकार्जुन परड्डी — अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कर्नाटक युनिवर्सिटी, धारवाड़।

१६. पं. महेश झा — द्वारा – आचार्य श्री विश्वनाथ शास्त्री दातार, के. २२/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी।

१७. डॉ. अत्तलूरी मृत्युञ्जय शर्मा — प्रिंसिपल, एस्. डी. एम्. एस्. ए. कलाशाला वारंगल (आन्ध्रप्रदेश)।

१८. डॉ. रमा घोष — अध्यक्ष, दर्शन विभाग, आर्य महिला महाविद्यालय, चेतगंज, वाराणसी।

१९. डॉ. राजनाथ त्रिपाठी —प्राध्यापक, सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

२०. डॉ. राजाराम शुक्ल — प्राध्यापक, न्याय-वैशेषिक विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

२१. प्रो. वी. पी. थोण्टे — ३९३ पश्चिम मंगलवार पेठ, सोलापुर (महाराष्ट्र)।

२२. पण्डित श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी — निदेशक, शैवभारती शोध प्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी।

२३. डॉ. शीतलाप्रसाद उपाध्याय — प्रवाचक, सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

२४. प्रा. सौ. श्यामा घोणसे — साई पुष्प, हिंगणे खुर्द, सिंहगढ रोड, पूना (महाराष्ट्र)।

२५. स्व. षडक्षरय्या पल्लपुरमठ — २-२७४/२ जगत्, गुलबर्गा (कर्नाटक)।

२६. श्री षण्मुखय्या अक्कूरमठ — ६७ देव गंगोत्तरी, शंकरमठ रोड, बंगलोर (कर्नाटक)।

२७. पण्डित श्री संगमनाथ शर्मा हिरेमठ — प्राध्यापक, आ. श्री. सां. ब्रह्मविद्या संस्कृत महाविद्यालय, बड़ादेव, वाराणसी।

२८. श्री सुधाकर तिवारी — संस्कृत प्राध्यापक, वसंत कालेज, राजघाट, वाराणसी।

२९. प्रो. सुधांशुशेखर शास्त्री — संकायाध्यक्ष, धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

३०. डॉ. सूर्यप्रकाश व्यास — प्राध्यापक, बौद्ध दर्शन विभाग, संस्कृत महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

